धर्म की उत्पत्ति और विकास

श्री सयाजी साहित्यमाला पुष्प २९०

धर्म की उत्पत्ति
और
विकास

अनुवादक :

श्री रामचन्द्र वर्म्मा

श्री सयाजी साहित्यमाला

पुष्प २७०

निवेदन

स्वदेशीय भाषा के साहित्य की उन्नति कराने के उत्तम उद्देश से स्व. श्रीमन्त पतितपावन **महाराजा साहेब सर सयाजीराव गायकवाड़** सेनाखासखेल शमशेर बहादुर, जी. सी. एस. आई.; जी सी. आई. ई., एल. एल. डी. ने कृपा पूर्वक दो लाख रुपये सुरक्षित रख दिये हैं, उसके व्याज में से विविध विषयों का लोक साहित्य रचाकर उसे "**श्रीसयाजी साहित्यमाला**" नामक ग्रन्थावली द्वारा प्रकाशित कराने की योजना की गई है।

इस योजना के अनुसार श्री रामचन्द्र वर्म्मा से "**धर्म की उत्पत्ति और विकास**" नामक यह पुस्तक तैयार कराई गई है। और उसे उक्त "साहित्यमाला" के पुष्प २७० के रूप में प्रकाशित की जाती है।

प्राच्यविद्यामन्दिर, भाषांतर शाखा, बडोदा. ता. २५-१-१९४०	भा. प्र. कोठारी भाषांतर मददनीश	**ज्यो. मा. महेता** राज्यविद्याधिकारी, बडोदा राज्य.

धर्म की उत्पत्ति और विकास

अनुक्रमणिका
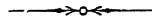
भूमिका

इस पुस्तक में वे आठ व्याख्यान सङ्कलित हैं जो सन् १९२२ में यूनियन थियालोजिकल सेमिनरी(Union Theological Seminary) में दिये गये थें। उन व्याख्यानों को इस प्रकार पुस्तकाकार छापने में उनका मूल रूप बहुत कुछ ज्यों का त्यों रखा गया है। केवल कुछ प्रकरणों में विषय का विस्तार कर दिया गया है और कुल अंश एक बार दोहरा दिया गया है।

इधर बहुत दिनों से बहुत से लोग इस बात का विचार कर रहे हैं कि धर्म का विकास किस प्रकार हुआ; और मैंने उन सब लोगों की सम्मतियों को संक्षेप में पाठकों के सामने उपस्थित करने का प्रयत्न किया है। धर्मों के साधारण सिद्धान्तों अथवा उनके व्याख्यात्मक अप्रामाणिक अनुमानों का विवेचन करना तो दूर रहा, मैंने इस ग्रन्थ में विस्तारपूर्वक यह भी बतलाने का प्रयत्न नहीं किया है कि धर्म के कितने और कैसे रूप होते हैं। जो पाठक इस सम्बन्ध की और बातें जानना चाहते हों, उन्हें उचित है कि वे प्रोफेसर क्राफर्ड एच. टाय (Prof. Crawford H. Toy) कृत Introduction to the History of Religions. 1913. Harvard University Press का अध्ययन करें, जिसमें इस विषय का बहुत ही पांडित्यपूर्ण, स्पष्ट और निष्पक्ष विवेचन किया गया है अथवा येल युनिवर्सिटि (Yale University) के प्रोफेसर ई. वाशबर्न होपकिन्स (Pro. E. Washburn Hopkins)का हाल का लिखा हुआ (Origin & Evolution of Religion. Yale University Press, 1923.) सुन्दर और उत्तम ग्रन्थ देखें अथवा (The Encyclopœdia

of Religion & Ethics में दिये हुए इस विषय के लेखों का अध्ययन करें। इनमें से पहले ग्रन्थ में इस विषय के बहुत से उपयोगी ग्रन्थों की वर्गानुसार सूची भी दी गई है। इसके सिवा अन्तिम ग्रन्थ एन्साइक्लोपीडिया (Encyclopædia) में भी इस विषय के साहित्य का बहुत कुछ उल्लेख है। मैंने अपनी इस पुस्तक में उन सब ग्रन्थों की सूची फिर से देना अनावश्यक समझा है।

यह ग्रन्थ ऐसे व्याख्यानों के आधार पर प्रस्तुत हुआ है जो विद्यार्थियों को इस विषय की शिक्षा देने के लिए दिए गये थे और जो इधर पचीस वर्षों में कई बार दोहराये और ठीक किये गये हैं। इस प्रकार प्रस्तुत होनेवाली इस पुस्तक में मेरे लिये अलग अलग सब सज्जनों के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करना और उन सब के नामों का उल्लेख करना असम्भव ही था। अब यदि मैं सामान्य रूप से उन सब लोगों के प्रति एक साथ ही अपनी कृतज्ञता प्रकट कर दूँ, जिन्होंने मेरे लिए इसकी सामग्री एकत्र की है अथवा जिनके साथ मैंने इस पुस्तक के सम्बन्ध में नर-शास्त्र अथवा दर्शन-शास्त्र के विषय में वार्त्तालाप और तर्क-वितर्क किया है, तो मैं आशा करता हूँ कि यह नहीं माना जायगा कि मुझ में कृतज्ञता का अभाव है।

—लेखक।

धर्म की उत्पत्ति और विकास

पहला प्रकरण

पूर्ववर्ती बातें और सूत्रपात

आज-कल नर-विज्ञान के ज्ञाताओं का यही मत है कि धर्म का प्रचार किसी न किसी रूप में संसारके सभी भागों में है। जो लोग दूर देशों में जाकर वहाँ के निवासियों आदि के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के अनुसन्धान करते हैं, वे प्रायः लौटकर यह कहा करते हैं कि अमुक स्थान के निवासियों में किसी प्रकार का धर्म प्रचलित नहीं है। परन्तु और भी अच्छी तरह जाँच करने पर उनका ऐसा कथन निराधार सिद्ध होता है। बहुत सी अवस्थाओं में तो उन लोगों के इस प्रकार के भ्रमपूर्ण कथन का कारण यह था कि उन्होंने उन लोगों के रीति-रवाज आदि का अच्छी तरह निरीक्षण नहीं किया था। प्रायः ऐसा होता है कि कोई यात्री कहीं जाता है और वहाँ के किसी फिरके के लोगों के साथ कुछ हफ्तों तक रहता है। इस बीच में उसे वहाँ कोई ऐसी बात नहीं दिखाई पडती जो उसकी दृष्टि में धार्मिक हो अथवा धर्म से सम्बन्ध रखनेवाली हो। और इसी लिए वह जल्दी में यह निष्कर्ष निकाल लेता है कि जो बात मुझे यहाँ नहीं दिखलाई दी या जो बात मेरी समझ में नहीं आई, वह वास्तव में इन लोगों में है ही नहीं। इसके सिवा कुछ ऐसे निरीक्षक भी होते हैं जिनका ज्ञान तो अपेक्षाकृत अधिक होता है, परन्तु फिर भी जो धर्म की व्याख्या कुछ ऐसे ढंग से करते हैं कि उस फिरके के सम्बन्ध में उनकी बतलाई हुई कुछ बातें धर्म के क्षेत्र में

आने ही नहीं पाती। अर्थात् वे कुछ बातों का वर्णन तो अवश्य करते हैं, परन्तु उन्हें धर्म की व्याख्या से बाहर रखते हैं; और तब कह देते हैं कि उन लोगों में किसी प्रकार का धर्म ही प्रचलित नहीं है। इसी प्रकार की एक बात एक बार सज्जन ने एक ऐसे फिरके के सम्बन्ध में कही थी जिसकी बहुत सी बातें वे अच्छी तरह जानते थे। उन्होंने लिखा था कि उस फिरके के लोगों में कोई धर्म प्रचलित नहीं है: वे तो खाली भूत-प्रेत पूजते हैं। फिर नर-विज्ञान के कुछ ऐसे ज्ञाता भी हैं जो मन्त्र–तन्त्र और धर्म में इस प्रकार भेद करते हैं कि उनके हिसाब से संसार के एक बहुत बड़े भाग के निवासी केवल मन्त्र--तन्त्र माननेवाले ही ठहरते हैं; और इस प्रकार उन्हें यह कहने का अवसर मिलता है कि उन लोगों में किसी प्रकार का धर्म प्रचलित नहीं है। धर्म की व्याख्याओं आदि के सम्बन्ध में जो मत-भेद हैं, उनसे बचने के लिये हम यहाँ केवल यही कह देना चाहते हैं कि आज तक कभी कोई ऐसी जाति या फिरका नहीं मिला है जिसमें कोई ऐसी बात न हो जो उसके लिये धर्म का काम न दे सकती हो। अर्थात् उनमें कोई न कोई ऐसी बात जरूर होती है जो उनके लिए धर्म का काम देती है। हाँ यह बात दूसरी है कि हम "धर्म" के नाम से सम्बोधन करने के योग्य समझते हों या न समझते हों।

अधिक से अधिक प्राचीन काल का जो इतिहास मिलता है, वह भी इसी बात का साक्षी है। प्राचीन काल की सभ्यताएँ जिस समय पहले-पहले हमारे सामने आती हैं और उनकी नितान्त प्रारम्भिक अवस्थाओं का स्वरूप हमारी दृष्टि के सामने आता है, उस समय हम देखते हैं कि उन में धर्म एक ऐसी अवस्था तक पहुँच चुके थे, जिस अवस्था तक विकसित होकर पहुँचने के लिए अवश्य ही सैकड़ों हजारों वर्ष लगे होंगे। अर्थात् उनके सम्बन्ध में हम कल्पना कर सकते हैं कि पुरातत्व सम्बधी प्रमाणों की सहायता से जिन इतिहास–पूर्व युगों के सम्बन्ध में

हमारा ज्ञान धीरे धीरे और अस्पष्ट रूप से बढ रहा है, उन इतिहास-पूर्व युगों में सैकडों हजारों वर्षों में धीरे धीरे उन धर्मों का विकास हुआ होगा। मिस्र, बेबिलोनिया और असीरिया में प्राचीन काल के जो लिखित प्रमाण आदि मिलते हैं, उनमें हमें उन जातियों के धर्मों की बहुत सी झलकें दिखाई पडती हैं, जिन जातियों के साथ उक्त देशों के निवासियों को समय समय पर काम पडता था, अथवा जिनके साथ उनका कभी किसी प्रकार का सम्बन्ध या परिचय हुआ था। यूनान में प्राचीन काल में जो अनेक इतिहास और भूगोल लिखनेवाले हुए थे, उन्होंने अपने समय की केवल सभ्य जातियों के धर्मों के ही वर्णन नहीं लिखे हैं, बल्कि अपने समय के संसार के सभी भागों के बहुत से जंगली फिरकों के धर्मों के भी वर्णन लिखे हैं। और उन्हें कहीं कोई ऐसी जाति या फिरका नहीं मिला था जिसमें किसी प्रकार के धर्म का बिलकुल प्रचार न हो।

इस प्रकार प्राचीन काल की बातों का हमें जो थोडा बहुत पता चला है, उसके आधार पर हम अधिक से अधिक दस हजार वर्षों से भी कुछ कम समय की बातें ही जान सके हैं। भूगर्भ शास्त्र और जीवन-शास्त्र के ज्ञाता लोग आज-कल यह अनुमान करते हैं कि इस पृथ्वी पर मानव जाति का निवास हजारों शताब्दियों से है; और इन हजारों शताब्दियों के मुकाबले में ऊपर बतलाया हुआ आठ-दस वर्षों का समय बहुत ही कम है। जीवशास्त्र के ज्ञाता लोग यह मानते हैं कि विकास-क्रम में जिस जाति के जीव अपने आपको अभिमानपूर्वक "बुद्धिमान् मनुष्य" कहते हैं, उनके पूर्वज वा-नर (आधे नर अथवा मनुष्यों से मिलते-जुलते प्राणी) थे: और न तो वे धर्म का नाम जानते थे और न उन्हें बोलना-चालना ही आता था। परन्तु इस प्रकार के प्राणियों से यहाँ हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है — उनके सम्बन्ध में हम यहाँ कोई विवेचन नहीं कर रहे हैं। पुरातत्व सम्बन्धी अनुसन्धानों से पता चलता है कि आरम्भिक

प्रस्तर युग के मनुष्यों में अनेक प्रकार की कलाओं का प्रचार था और उनमें से कुछ कलाओं को उन लोगों ने बहुत कुछ पूर्णता तक भी पहुँचाया था। परन्तु यहाँ हम इस बात का विवेचन नहीं कर सकते कि उन लोगों में धर्म का प्रचार था या नहीं और उन में भी धर्म का विकास हुआ था या नहीं। यहाँ केवल यही कह देना यथेष्ट होगा कि इस समय जो ऐसी बहुत सी जातियाँ पाई जाती हैं जो आरम्भिक प्रस्तर युग के मनुष्यों की अपेक्षा संस्कृति के बहुत ही निम्न तल पर हैं, उनमें भी ऐसे धर्म प्रचलित हैं जिनकी वर्तमान अवस्था देखते हुए यह कहा जा सकता है कि उनमें बहुत दिनों से धर्म का प्रचार चला आता है और उन्होंने बहुत दिनों में अपने धर्म को विकसित करके वर्तमान अवस्था तक पहुँचाया है। इसके सिवा कुछ प्रदेशों में आरम्भिक प्रस्तर युग की संस्कृति की जो चीजें हमें अब तक रक्षित रूप में मिली हैं, वे चीजें अगर आज-कल के जमाने की होतीं तो उनके सम्बन्ध में बिना किसी प्रकार का आगा-पीछा किये यह कहा जा सकता था कि वे चीजें धर्म सम्बन्धी हैं और उनका प्रयोग धार्मिक कृत्यों में होता है।

इस समय जहाँ तक हमारा ज्ञान है, हमें यही पता चलता है कि धर्म का सभी स्थानों में किसी न किसी रूप में प्रचार था; और इससे हम यही परिणाम निकाल सकते हैं कि धर्म की उत्पत्ति या आरम्भ एक ही सामान्य उद्देश्य से हुआ था। और धर्म के सम्बन्ध में बिलकुल आरम्भिक काल में प्रायः सभी देशों के निवासियों के जो कुछ विचार या धारणाएँ थीं, वे बिलकुल एक सी ही थीं; और इसका यही मतलब निकलता है कि लोग अपने आस-पास और चारों तरफ जो बातें देखते थे और जो कुछ अनुभव करते थे, उनके कारण उनके मन में स्वाभाविक रूप से जो प्रतिक्रिया होती थी, उसी ने धर्म का रूप धारण किया था।

धर्म की उत्पत्ति या मूल का पता ऐतिहासिक अनुसन्धानों से

तो चल ही नहीं सकता, इसलिए उसका पता हमें मनोवैज्ञानिक अनुसन्धान की सहायता से लगाना पडता है। हमारे लिए तो विचारणीय प्रश्न यह है कि मनुष्यों ने आखिर धर्म की सृष्टि क्यों की; और सभ्यता की इतनी उन्नति होने पर भी सभी अवस्थाओं में धर्म अपने बराबर बदलते रहने-वाले रूपों में आज तक क्यों बना हुआ है?

यदि हम धर्म की उत्पत्ति के एक ऐसे उद्देश्य का पता लगाना चाहें जो सर्व-व्यापी, सर्व-प्रधान और स्थायी या सदा समान रूप से काम देनेवाला हो, तो हमें पता चलेगा कि मनुष्यों में आत्म-रक्षा की जो प्रवृत्ति* होती है, उसी के कारण उनमें धर्म की उत्पत्ति हुई थी। स्पिनोजा (Spinoza) ने बहुत ही ठीक कहा है कि मनुष्य जितने कार्य करता है, वह सब केवल आत्म-रक्षा के विचार से प्रेरित होकर करता है। सभी प्रकार के प्राणियों में आत्म-रक्षा का भाव असंख्य उपयुक्त सहज स्वभावों या सहज बुद्धियों के रूप में रक्षित है और समस्त प्राणियों की भाँति मनुष्य में भी यह भाव ठीक उसी तरह रहता है। निम्न कोटि के जिन वर्गों में सहज बुद्धि नहीं होती, उनमें यह बात इस रूप में दिखलाई देती है कि वे अपना रंग ही ऐसा रखते हैं जो उनकी बहुत कुछ रक्षा करता है अथवा वे इस काम के लिये और अनेक प्रकार के अनुकरण करते हैं। जब हम इनकी अपेक्षा और अधिक उच्च कोटि के प्राणियोंको देखते हैं तो हमें पता चलता है कि उनमें ज्यों ज्यों सहज बुद्धि बढती जाती है, त्यों त्यों उनमें चेतना-युक्त बुद्धि या ज्ञान भी बढता जाता है। सभी अवस्थाओं में व्यक्तियों का भी और व्यष्टियों या वर्गों का भी अस्तित्व केवल इसी आत्म-रक्षा वाली प्रवृत्ति के कारण ही बना रहता है।

---

* उसके व्यापक और क्रियमाण स्वरूप पर जोर देने के लिए इसे "सहज स्वभाव" या "सहज बुद्धि" न कह कर "प्रवृत्ति" ही कहा गया है।

आत्म-रक्षावाली यह प्रवृत्ति सबसे पहले कुछ ऐसे रूपों में प्रकट होती है कि जीव अपने उन शत्रुओं से भागने या उनका मुकाबला करने का प्रयत्न करते हैं जो या उनके प्राण लेना चाहते ह और या उनके कल्याण और सुख के मार्ग में बाधक होते हैं। साथ ही यह प्रवृत्ति अपनी इन्द्रिय-जन्य आवश्यकताओं की पूर्ति और वासनाओं की तृप्ति के लिए भी देखने में आती है। इसी से प्रेरित होकर वे अपना पेट भरना चाहते हैं और अपनी काम-वासना भी तृप्त करना चाहते हैं। परन्तु शुद्ध आत्म-कल्याण या योग-क्षेम के लिए जीवोंकी जो आवश्यकताएँ होती हैं, उनमें शीघ्र ही बहुत सी कृत्रिम आवश्यकताएँ भी आकर सम्मिलित हो जाती हैं, और वही प्रवृत्ति इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी जीवों को प्रेरित करती है। बात यह है कि व्यक्ति का ध्यान केवल अपनी ही रक्षा और हित की ओर नहीं होता; और इसका कारण यह है कि न तो वह अकेला रहता ही है और न रहही सकता है। उनकी आत्म रक्षा प्रायः उस वर्ग की रक्षा के साथ सम्बद्ध होती है जिसका वह सदस्य या अंग होता है। जो जीव दल बांधकर या समूहों में रहते हैं, उनमें यह बात बहुत ही स्पष्ट रूप मे देखने में आती है। उदाहरण के लिए जंगली घोडों या गौ भैसों आदि के झुंड को ले लीजिए। जब किसी ऐसे झुंडपर भेडिये आदि उनके स्वाभाविक शत्रु आक्रमण करना चाहते हैं, तब झुंड में जितने वयस्क नर होते हैं, रक्षा के लिए सब मादाओं और बच्चों को बीचमें रखकर उनके चारों ओर हो जाते हैं और अपने वर्ग के दुर्बल प्राणियों की रक्षा करने के लिए संकट और मृत्यु के सामने आप जमकर खडे हो जाते हैं। बात यह है कि यदि झुंड की किसी प्रकार रक्षा हो सकती है, तो वह उसी प्रकार हो सकती है; और झुंडकी रक्षा तभी हो सकती है, जब उसमें के व्यक्तिगत सदस्यों की रक्षा हो; और अन्त में सारे वर्ग या जाति का अस्तित्व भी सदा के लिए इसी बात पर आकर निर्भर करता है।

ठीक यही बात जंगलियों के सम्बन्ध में भी है। उनमें भी बलवान् पुरुष अपने दल के दुर्बलों की रक्षा करते है और यदि आवश्यकता होती है तो इस काम में अपने प्राण तक दे देते हैं। परन्तु ऐसा वे यह सोचकर नहीं करते कि यदि हम इस संकट के समय शत्रु का सामना न करके भाग जायँगे तो उसका कितना बुरा परिणाम होगा; बल्कि उनमें जो पुरुषानुक्रमिक पाशव सहज बुद्धि होती है, उसी की प्रेरणा से वे ऐसा करते हैं। आरम्भ में तो यह प्रवृत्ति केवल आपसे आप होनेवाली प्रतिक्रिया के रूप में काम करती है। परन्तु आगे चलकर जब समाज और अधिक उन्नति करता है, तब यह प्रवृत्ति ऐसे सामाजिक उद्देश्यों की सहायता से और भी अधिक बलवती हो जाती है जिनके पूर्व-रूप पशुओं तक में पाये जाते हैं। यह एक स्वयंसिद्ध सिद्धान्त है कि सुन्दरियों को प्राप्त करने के अधिकारी केवल वीर ही होते हैं। और पशुओं आदि की बहुत सी जातियों या वर्गों में नर-मादी का जोड इसी सिद्धान्त के अनुसार लगता है। और मानव जाति में जब अपने जोडे का चुनाव होता है, तब इस सिद्धान्त का प्रयोग और भी अधिक स-ज्ञान भाव से होता है। मनुष्यों में भी और पशुओं में भी बराबर व्यक्तियों में जो बहुत कुछ सुधार और उन्नति होती रही है, उसका बहुत कुछ श्रेय इस सिद्धान्त को भी प्राप्त है।

फिर अपने दल या वर्ग के हित और स्वार्थों की रक्षा की प्रवृत्ति केवल इसी रूप में प्रकट होती है कि वयस्क और सबल प्राणी मिलकर संकटों का सामना करते हैं। पशुओं में भी और मनुष्यों में भी यह बात एक और रूप में भी देखने में आती है। दल या वर्ग के जो अधिक सशक्त और समर्थ प्राणी होते हैं, वे दुर्बल और कम समर्थ प्राणियों के लिए अथवा सारे समाज के लिए, खाने-पीने की चीजें प्राप्त करते और लाकर उन्हें देते हैं। मधु-मक्खियों और दूसरे बहुत से कीडे-मकोडों में यह बात बहुत ही अच्छी तरह और स्पष्ट रूप में देखने आती है। मनुष्यों

में आत्म-रक्षावाली जो प्रवृत्ति होती है, उसमें सहयोगवाला भाव भी उतना ही पुराना है, जितना पुराना सहज बुद्धिवाला भाव है और वह उतना ही अभिभावी या बलवान् है जितना व्यक्तिगत आत्म-रक्षावाला भाव है।

स्वयं अपने सम्बन्ध में भी और उस संसार के सम्बन्ध में भी, जिसमें वह निवास करता है, मनुष्य का ज्ञान ज्यों ज्यों बढता जाता है, त्यों त्यों उसकी दृष्टि में आत्म-रक्षा का महत्व भी बढता जाता है—वह आत्म-रक्षा की इससे भी कहीं बढी-चढी सीमा तक आवश्यकता समझने लगता है। जीवन में बहुत सी ऐसी बातें भी होती हैं जो स्वयं जीवन या प्राणों की अपेक्षा कहीं अधिक महत्व की और मूल्यवान होती हैं। वे बातें ऐसी हैं कि केवल उन्हीं की सहायता से जीवन निर्वाह करने के योग्य होता है और इन बातों की तुलना में दूसरी बहुत सी मामूली बातें, जिनमें स्वयं जीवन भी सम्मिलित है, बहुत ही तुच्छ प्रतीत हो सकती हैं। और फिर जितनी मूल्यवान वस्तुएँ हैं, उनकी अपेक्षा सब से अधिक महत्व या मूल्य मनुष्य के लिए स्वयं "आत्म" का होता है—और यहाँ हमारा अभिप्राय सर्वश्रेष्ठ भाव या अर्थवाले "आत्म" से है। धीरे धीरे मनुष्य की समझ में यह बात आने लगती है कि यह कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो ली या दी जा सकती हो और न यह कोई ऐसी निधि है जिसकी पूरी तरह से केवल रक्षा ही की जानी चाहिए, बल्कि यह ऐसी सबसे अधिक मूल्यवान वस्तु है जो प्रकृति के उस तत्व की सिद्धि के द्वारा अर्जित की जानी चाहिए जो केवल अव्यक्त है। आत्म-रक्षावाला तत्व तो अभावात्मक है और उसके साथ हमें उसका भावात्मक अंग पूरक भी मिलना चाहिए और यह अंग आत्म-सिद्धि का है। इस आत्म-सिद्धि का अभिप्राय यह है कि प्रकृति में जितनी शक्तियाँ और गुण निहित हैं उन सबका पूरा पूरा विकास और सिद्धि हो—मनुष्य उस प्रकृति के योग तथा सहायता से जो कुछ बन सकता हो वह बने और जो कुछ

कर सकता हो, वह सब करे। आत्म-रक्षा के भाव में इस प्रकार की और जितनी बातें मिली हुई हैं, उन सबको समझते हुए और उनका पूरा पूरा ध्यान रखते हुए हम यह कह सकते हैं कि धर्म की उत्पत्ति का सर्व-व्यापी मूल कारण आत्म-रक्षा का ही भाव है।

धर्म--निष्ठ पुरुषों और स्त्रियों का इस विषय में जो अनुभव है, वह भी बिलकुल इसके अनुरूप ही है। अभी कुछ ही वर्षों की बात है कि मनोविज्ञान के एक अमेरिकन आचार्य ने बहुत से शिक्षित पुरुषों के पास कुछ प्रश्न लिखकर भेजे थे। उन प्रश्नों के द्वारा उस आचार्य ने उन लोगों से यह जानना चाहा था कि धर्म में आप लोग क्या बात ढूँढते हैं और उसमें आप लोगों को अब तक क्या मिला है। जो उत्तर आये थे, उनमें बातें तो अनेक प्रकार की कही गई थीं, परन्तु उन सब का मुख्य आशय यही था कि हम केवल एक बात चाहते हैं और केवल एक बात की आकांक्षा रखते हैं; और वह यह कि-" हमें जीवन प्राप्त हो और अधिक जीवन प्राप्त हो; और ऐसा जीवन प्राप्त हो जो और भी अधिक पूर्ण, और भी अधिक गम्भीर या मूल्यवान् तथा और भी अधिक सन्तोषजनक हो।"

स्वयं आत्म-रक्षावाली प्रवृत्ति में कोई ऐसी बात नहीं है जो धार्मिक कही जा सके। अपने निम्नस्थ तलों में वह केवल जीव तत्व सम्बंधी है उसका उद्देश्य अपने जीव और जीवन की रक्षा मात्र है। यदि हम मनुष्य को किसी ऐसे जगत में ले जाकर रख दें जिसमें उसे किसी प्रकार के अप-रिचित और आकस्मिक संकटों का सामना करने की नौबत न आवे और जहाँ वह अपनी समस्त आवश्यकताओं और वासनाओं की निश्चित रूप से पूर्ति और तृप्ति कर सकता हो-जहाँ उसके लिए इन सब बातों के सम्बन्ध में कभी कोई बाधा न हो सकती हो-तो फिर उसके लिए कोई ऐसा अव-सर ही न आवेगा जब कि उसे धर्म की आवश्यकता हो। परन्तु वास्तव में

जिस जगत में जंगली लोग रहते हैं, उसका स्वरूप इससे बहुत ही भिन्न है। न तो वह संकटों और आपदाओं से ही रक्षित है और न स्वतःपूर्णही है। वह चारों ओर ऐसे संकटों और आपत्तियों से घिरा रहता है जिनसे उसके योग-क्षेम में तो बाधा पडती ही है, पर साथ ही उसका अस्तित्व नष्ट होने का भी सदा भय बना रहता है। फिर अपनी परम आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी वह जो प्रयत्न करता है, वे भी बहुधा निष्फल हो जाया करते हैं। उसे इस संसार में जो जो अनुभव होते हैं, उनका वर्णन संक्षेप में यह कह कर किया जा सकता है कि उसके कामों में ऐसी तरह से कुछ खराबियाँ पैदा हो जाती हैं कि उसकी समझ में ही नहीं आता कि क्या बात है। इस प्रकार उसकी समझ में यह आने लगता है कि हम किसी के आश्रित हैं, बल्कि हम तो यों कहना चाहेंगे कि अपनी अपूर्णता उसकी समझ में आने लगती है। अब जरा यह देखिये कि उसे किस प्रकार के अनुभव होते हैं और उसे क्या क्या फल भोगने पडते हैं।

पहले उन्हीं बातों को लीजिए जिन्हें हम लोग "दुर्घटनाएँ" कहते हैं। एक आदमी किसी छोटी नदी या नाले को पार कर रहा है। इसी बीच में बढ हुए और तेज बहते हुए जल के कारण उसके पैर उखड़ जाते हैं और वह धारा में बहने लगता है। अथवा मान लीजिए कि कोई आदमी कहीं चला जा रहा है और रास्ते में अचानक किसी पेड की डाल टूटकर उसके ऊपर इस तरह आ गिरती है कि मानों किसी ने जान-बूझकर उसे चोट पहुँचाने के लिए ही गिराई हो। अथवा पहाड़ पर से कोई बडी चट्टान खिसककर उसके रास्ते में ठीक उसके सामने आ पडती है या उसके पास ही के किसी पेड पर आकाश से बिजली आ गिरती है अथवा बिजली गिरने से उसके साथ चलनेवाला कोई साथी मारा जाता है। या ऐसी तेज आँधी आती है जो किसी भीषण कुपित जन्तु की भाँति सारे जंगल के पेडों को जड से उखाडकर फेंक देती है अथवा आदमियों के रहने

की भद्दी बनी हुई झोंपडियों आदि को नष्ट कर देती है।

इस प्रकार कोई घटना होने पर तत्काल ही मनुष्य के मन में जो भय होता है, उसका कदाचित् सबसे अच्छा वर्णन हमें उस पत्र में मिल सकता है, जो विलियम जेम्स ने केलिफोरनिया के सन् १९०६ वाले भूकम्प के चार दिन बाद लिखा था। इस भूकम्प से वहाँ कुछ ही मिनटों में बहुत बडा सर्वनाश हो गया था। उस समय विलियम जेम्स के मन में जो भाव उत्पन्न हुए थे। उन्हीं का वर्णन उन्होंनें अपने उस पत्र में किया था। यहाँ हम उसका कुछ अंश उद्धृत कर देते हैं।

"उस दिन सबेरे साढे पाँच बजे के लगभग मैं अपने बिस्तर पर लेटा हुआ था, पर खूब अच्छी तरह जाग रहा था। उस समय कमरा हिलने और झूलें की तरह झूलने लगा। उस समय मेरे मन में सबसे पहले यही विचार आया कि "बस यह वही बेकवेल * वालाभूकम्प है।" पर जब उसका वेग और शब्द बढता गया और आध मिनट से भी कम समय में चरम सीमा को पहुँच गया और कमरा उसी तरह झटके खाने लगा, जिस तरह कोई टेरियर कुत्ता किसी चूहे को पकडकर झटके देता है, और उसका उग्र रूप इतना अधिक विकट हो गया जिस की कदाचित आप स्वयं कल्पना कर सकते होंगे, तब मुझे ऐसा जान पडा कि कोई एक ऐसी बहुत बडी "सत्ता" है जो इतने दिनों तक अपनी शक्ति को रोककर प्रतीक्षा कर रही थी, पर अंत में वह उठकर खडी हो गई है और कह रही है कि-"बस अब चलो, खतम करो"। उसने उस समय अपना जो स्वरूप प्रकट किया था, वह इतना अधिक भीषण और इतना अधिक उग्र था कि इस बात की कभी कल्पना भी नहीं की जा सकती थी कि यह बात आप से आप और बिना किसी की इच्छा के हो रही है।

---

* इंग्लैंड का एक कस्बा।

उस कमरे में रखी हुई जितनी चीजें गिर सकती थीं, वे सब गिर पड़ीं यहाँ तक टेबुल आदि भी उलट कर गिर पड़े और कम्प बहुत ही द्रुत तथा प्रचंड हो गया *। फिर रोग सम्बन्धी अनुभव भी होते हैं। एक आदमी भला चंगा रहता है, पर इसी बीच में अचानक—जैसा कि हम लोग भी आज-कल कहा करते हैं--उस पर किसी रोग का आक्रमण होता है। उसे बहुत जोरों का दर्द होने लगता है और उस दर्द का न तो कोई कारण उसे दिखाई पड़ता है और न समझ में ही आता है। वह मारे सरदी के काँपने भी लगता है और बुखार के कारण उसका सारा शरीर जलने भी लगता है। वह और लोगों को भी इसी प्रकार के रोग से पीड़ित होते हुए देखता है और यह भी देखता है कि प्रायः लोग इस प्रकार के रोग के कारण मर जाते हैं। वह यह तो देखता ही है कि हमारे बहुत से साथी हैं, बहुत से शत्रु और मित्र हैं, बहुत से ऐसे पशु हैं जिनका मैं पीछा करता हूँ अथवा जो मेरा पीछा करते हैं, और बहुत सी ऐसी चीजें हैं जिनसे मैं परिचित हूँ या जिनके विषय में मैं थोड़ा-बहुत समझता हूँ। परन्तु इन सब वस्तुओं और बातों के सिवा हजारों तरह से उसे यह भी पता चलता है कि बहुत सी ऐसी बातें हैं जो मेरी समझ के बाहर हैं; क्योंकि न तो उनके सम्बन्ध में मुझे पहले से कोई पता ही चलता है और न वे बातें मेरे बस की ही होती हैं। ये वस्तुएँ क्रियाशील होती हैं क्योंकि मनुष्य को उन सबका ज्ञान केवल कार्य रूप में ही होता है। यही कारण है कि हम लोग उन्हें "शक्तियाँ" कहते हैं और इस शब्द का प्रयोग बहुत ही विस्तृत और अनिश्चित अर्थ में करते हैं और ऐसे ढंग से करते हैं कि उनकी प्रकृति या स्वरूप का कुछ भी पता नहीं चलने पाता। मनुष्य यही समझता है कि वे वस्तुएँ या शक्तियाँ "कुछ" हैं; और हमारे साथ

* Letters of William James. (विलियम जेम्स के पत्र) दूसरा खंड. पृष्ठ० २४८

"कुछ" करती हैं। जंगली लोगों का ध्यान स्वाभाविक रूप से, बाकी हम सभी लोगों के ध्यान की तरह, मुख्यत: प्रतिकूल घटनाओं की ओर ही आकृष्ट होता है और वे उन शक्तियों के द्वारा होनेवाली हानिकारक बातों की ओर ही देखते हैं। हाँ जब सब बातें मनुष्यके अनुकूल होती हैं और उसके लिये सन्तोषजनक रूप में होती हैं, तब वह उन बातों के सम्बन्ध में अपने मन में कुछ भी विचार नहीं करता--वह उन बातों पर कुछ भी गौर नहीं करता। और आखिर वह उन सब बातों का खयाल करे ही क्यों?

इन शक्तियों के द्वारा होनेवाले कृत्यों का ज्यों ही मनुष्य को अनुभव होता है, त्यों ही वह इन शक्तियों से परिचित हो जाता है। कदाचित् यहाँ यह कहना बाहुल्य न होगा कि उसे हम शक्तियों का ज्ञान या परिचय कार्य और कारण स्थापित करनेवाली बुद्धि से नहीं होता। ज्ञान और बुद्धि की नितान्त आरम्भिक अवस्था में कारण और कार्यवाले सम्बन्ध के लिए कोई स्थान नहीं होता। वह तब तक यही समझता है। कि काल के विचार से और तर्क की दृष्टि से भी कारण और दोनों साथ ही साथ होते हैं; और इसी लिए जो दुर्घटना उस पर घटित है, उसके सम्बन्ध में वह इस बात की जाँच नहीं कर सकता कि इसके कारण क्या हैं। जिसे हम लोग "अचानक होनेवाली दुर्घटना" कहते हैं, उसका तत्त्व भी उसकी समझ के बाहर ही होता है। वह यह जानता ही नहीं कि कोई दुर्घटना अचानक और संयोग से भी हुआ करती है। वह यह भी नहीं समझता कि आप से आप भी कोई बात घटित हो सकती है या होती है। वह तो यह समझ सकता है कि हर एक बात का कोई एक कर्त्ता होता है और वही यह सब करता हैं।

शक्तियों के सम्बन्ध में मनुष्य की जो धारणा होती हैं, उसमें एक और बात भी होती है। वह यही समझता है कि जब कोई शक्ति मुझे

पहुँचाती है तो वह जान-बूझकर ऐसा करती है। और इससे भी यही सिद्ध होता है कि उस समय उसमें तर्क बुद्धि और अच्छी तरह समझने की शक्ति बिलकुल नहीं होती, क्योंकि जिसमें मामूली सी समझ भी होगी, वह भी सहसा ऐसी बात नहीं समझ बैठेगा। उस समय तो उसे केवल इतना ही ज्ञान होता हैं कि जो कोई कुछ करता है, वह जान-बूझकर और करने की नीयत से ही करता है, क्योंकि वह जानता है कि मैं या आस-पास के जो लोग कुछ करते हैं, वह जान-बूझकर और वैसा करने की नीयत से ही करते हैं, और यहाँ तक कि वह अपने आस-पास के जानवरों तक को भी ऐसा ही करता हुवा देखता है।

मनोवैज्ञानिक लोग इसे " मनुष्य धर्मारोपी अन्तर्बोध (Personifying apperception) कहते हैं। अर्थात यह मनुष्य का ऐसा अन्तर्बोध है, जो उससे औरों में भी मनुष्योंवाले धर्म का ही आरोप कराता है और उसे यह समझने के लिए विवश करता है कि सब शक्तियाँ आदि भी मनुष्यों की ही तरह काम करती हैं। वे लोग इस पद की व्याख्या बहुत ही जटिल पारिभाषिक भाषा में करते हैं और यहाँ हम उसे दोहराने की कोई आवश्यकता नहीं समझते। संक्षेप में और सीधे-सादे शब्दों में इसका मतलब यही है कि मनुष्य होता तो वास्तव में किसी अनुभव का विषयी और कर्त्ता है, परन्तु वह अपने सम्बन्ध में भी और उस अनुभव के कारण उत्पन्न होनेवाले मनोभावों के सम्बन्ध में भी यह उद्भावना कर लेता है कि हम उस अनुभव के विषय या लक्ष्य हैं। अर्थात मैंने यह अनुभव नहीं किया हैं बल्कि किसी ने जान-बूझकर मुझे यह अनुभव कराया है। उसके इस भाव और सीमा-बन्धन के विचार से यह कहा जा सकता है कि जिन शक्तियों के साथ मनुष्य को काम पडता है, उनमें आरम्भ से ही वह आवश्यक रूप से व्यक्तित्व की स्थापना कर लेता है—वह मान लेता है कि ये शक्तियाँ- व्यक्तित्व-युक्त हैं। परन्तु साथ ही हमें

यह नहीं समझ लेना चाहिए कि वह भी उन शक्तियों में उसी प्रकार के व्यक्तित्व का आरोप करता है, जिस प्रकार के व्यक्तित्व का आरोप आज-कल के हमारे जैसे सभ्य, शिक्षित और उन्नत विचारशील लोग करते हैं। और इसी लिए हम फिर से यहाँ यह बात बतला देना चाहते हैं कि वह केवल इतना ही समझता है कि वे वस्तुएँ या शक्तियाँ इसी लिए कुछ करती हैं कि वे ऐसा करना चाहती हैं।

प्रायः लोग यह कहा करते हैं कि आदिम काल के लोगों का यह विश्वास था कि जितने पदार्थ हैं, वे सब सजीव हैं। परन्तु वास्तव में बात कुछ और ही है। आदिम काल के जंगली लोग यदि कभी वस्तुओं या पदार्थों का विचार करते भी थे, तो वे सम्भवतः उन्हीं वस्तुओं या पदार्थों को सजीव समझते थे जिनमें आप से आप गति होती थी अथवा जो स्वयं ही अपने आपको परिचालित करते थे। और उनके बहुत दिनों बाद आरम्भिक काल के दार्शनिक लोग भी ऐसा ही समझने लगे थे। वास्तव में जंगली लोगों का यह मानने में कोई हित या स्वार्थ नहीं होता कि जीवन सर्व-व्यापक है और सभी वस्तुएँ सजीव हैं। आज-कल भी हम यह देखते हैं कि जब कोई लडका किसी तिपाई आदि पर ठोकर खाकर गिर पडता है, तब वह उसे पैर से ठोकर मारता है। परन्तु वह तिपाई को इसलिए ठोकर नहीं लगाता कि वह सजीव और निर्जीव पदार्थों में कोई भेद नहीं समझता। वह बिना अच्छी तरह सोचे-समझे केवल अपनी सहज बुद्धि से यह समझ लेता है कि यह तिपाई मुझे चोट पहुँचाना चाहती थी; और इसी लिए वह उस पर भी आघात करके ऐसे ढंग से अपना बदला चुकाता है कि हम भूल से यही समझ बैठते हैं कि वह उस तिपाई को भी सजीव समझता है। अँधेरे में कोई वयस्क पुरुष भी कभी किसी कुरसी से ठोकर खा जाता है और तब उस कुरसी को कोसने लगता है। परन्तु इसका कारण यह नहीं है कि वह यह मानता है इस कुरसी में कोई अमर और अविनश्वर आत्मा

है, और इसलिए वह कहता है कि वह आत्मा सदा के लिए नष्ट हो जाय। वह तो उस समय केवल वही बात कहता है जो वह किसी ऐसे मनुष्य के प्रति कहता है जो जान-बूझकर उसका पैर कुचल देता है या उसे धक्का देकर गिरा देता है। जब वह अपने ठोकर खाने और कुरसी को कोसनेवाली घटना पर स्थिर-चित्त होकर विचार करता है, तब से अपनी भूल और व्यर्थ की झुँझलाहट पर पश्चात्ताप होता है। परन्तु यहाँ ध्यान रखने की बात यह है कि उन परिस्थितियों में पडकर वह वैसा ही आचरण कर बैठता है, जैसा आचरण उसके विचार न करनेवाले पूर्वज करते थे। ऐसी अवस्था में ठीक तरह से केवल यही कहा जा सकता है कि जंगली लोगों के जगत में कोई ऐसा पदार्थ नहीं है जो स्वभावत: कुछ काम करने में असमर्थ हो, और अगर कोई कुछ करता है, तो वह जान-बूझकर करता है।

अभी हाल में विचारशीलों का ध्यान इस बात की ओर गया है कि संसार के ऐसे भिन्न भिन्न भागों में, जो एक दूसरे से बहुत दूर पडते हैं, एक विशिष्ट बात के सम्बन्ध में सब लोगों के विचार समान ही होते हैं। मनुष्य को अपने कामों में जितने प्रकार की सफलताएँ होती हैं, अथवा उसमें जितनी शक्तियाँ या विशिष्ट गुण होते हैं, उनका कारण वे यही समझते हैं कि हममें विशेष मात्रा में एक गूढ शक्ति है और वही शक्ति हमसे ऐसे सब काम कराती है जो साधारण शक्तिवाले मनुष्यों से नहीं हो सकते अथवा जो साधारण रूप से नहीं हो सकते। नर विज्ञान के ज्ञाता लोग इस शक्ति को साधारणत: माना (Mana) कहते हैं और कोडरिंगटन (Codrington) ने अपने "मेलानेशियन्स" (Melanasians) नामक ग्रंथ में इस शक्ति का इसी नाम से वर्णन किया है। इसी प्रकार के प्रचलित विश्वासों का कुछ और स्थानों में भी और विशेषत: अमेरिका के इंडियन लोगों में और मडगास्कर में पता चला है; और उन सभी विश्वासों का ध्यान रखते हुए हुए माना

(Mana) का—चाहे उसका आशय कुछ ही क्यों न हो—एक वैज्ञानिक अर्थ निश्चित करने का प्रयत्न किया गया है। और साथ ही उसी पर मन्त्र-तन्त्र और धर्म सम्बन्धी बहुत दूर तक पहुँचनेवाले सिद्धान्तों को भी आश्रित करने का प्रयत्न किया गया है। कोडरिंगटन के अनुसार मेलानेशियावाले* जिसे माना मानते हैं, वह अमूर्त है और उसका आरोप निर्जीव पदार्थों में भी किया जा सकता है और पशुओं तथा मनुष्यों में भी किया जा सकता है। इसके सम्बन्ध में लोगों का यह विश्वास है कि इसकी उत्पत्ति मूर्त्त या शरीर—धारी प्राणियों के साथ होती है और यह शरीर-त्यागी आत्माओं और अलौकिक जीवों में रहता है और उन्हीं के द्वारा दूसरों को भी प्राप्त होता है। वहाँवालों के अनुसार कार्य रूप में धर्म यही है कि मनुष्य अपने लिये यह शक्ति प्राप्त या अर्जित करे और स्वयं अपने लाभ के लिए उसका उपयोग करे। वहाँवाले बस इसी उद्देश्य से भेंट, बलिदान और प्रार्थनाएँ आदि करते हैं। नीति की ओर से यह शक्ति उदासीन मानी जाती है और इसका उपयोग इन्द्रजाल या जादू-टोने में, दुष्ट और अनिष्टकारक उद्देश्यों की सिद्धि के लिए, किया जा सकता है।

टाइलर और उसके अनुयायियों का यह अनुमान था कि संसार में सबसे पहले जीवदेह—पार्थक्यवाद† ही प्रचलित हुआ था। परन्तु

* मेलानेशिया पश्चिमी प्रशान्त महासागर के एक द्वीप-पुंज का नाम है और मेलानेशियन्स नामक उक्त पुस्तक में इसी द्वीप पुंज के निवासियों से सम्बन्ध रखनेवाली बातों का वर्णन है। —अनुवादक।

† जीवदेह-पार्थक्यवाद में यह माना जाता है कि जीवों या आत्माओं का शरीर से बिलकुल पृथक् अस्तित्व होता है और प्रत्येक आत्मा दूसरी आत्माओं से अलग होता है। सर ई० बी० टाइलर (Sir E. B. Tylor) ने Primitive Culture (आदिम संस्कृति) नामक एक पुस्तक में यह प्रतिपादित किया है कि संसार के आदिम निवासियों का यही

अब कुछ लोगों का यह मत है और हमारी समझ में भी ठीक मत है कि यह संसार के आदिम निवासियों का सबसे पहला सिद्धान्त नहीं था, बल्कि जब आदिम और जंगली लोगों ने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कुछ और उन्नति कर ली थी, अर्थात् जब उनकी बुद्धि कुछ और अधिक विकसित हो गई थी, तब वे लोग आत्मा की शरीर से पृथक् सत्ता मानने लगे थे। परन्तु यह एक दूसरा ही प्रश्न है कि सबसे पहले आदिम निवासी यह मानते थे कि एक गूढ शक्ति है जिसमें सब प्रकार के कार्य करने की सामर्थ्य है अथवा इसके सिवा और कुछ मानते थे। शक्तियों के सम्बन्ध में मनुष्य के विचार चाहे कितने ही अस्पष्ट और अनिश्चित क्यों न हों, और उनमें वह चाहे कितने ही कम पृथक् व्यक्तित्व का आरोप क्यों न करता रहा हो, परन्तु जिस अनुभव के द्वारा वह उन शक्तियों से परिचित होता है, वह अनुभव किसी ऐसे विशिष्ट कार्य का होता है जो किसी विशिष्ट समय और स्थान में घटित होता है और जिसका कोई विशिष्ट स्वरूप या प्रकार होता है; और इसी लिए बुद्धि-संगत रूप में यह माना जा सकता है कि उस कार्य या घटना की इन्हीं सब विशिष्टताओं के कारण मनुष्य के मन में यह धारणा होती है कि एक ऐसा विशिष्ट "कोई" है जो इस का कर्त्ता है। इसके सिवा हम यह भी कह सकते हैं कि जिन लोगों में इस प्रकार के विचारों के प्रचलित होने का उल्लेख मिलता है, वे लोग संस्कृति के बिलकुल निम्नतम तल पर नहीं थे, बल्कि इसके विपरीत जीव-देह पार्थक्यवादवाली स्थिति में पहुँचकर बहुत कुछ आगे बढ चुके थे।

प्राकृतिक शक्तियों के आक्रमण होने पर भी मनुष्यों में वही प्रतिक्रिया होती है जो स्पष्ट रूप से सामने दिखाई पडनेवाले शत्रुओं के

विश्वास था कि सत्ता शरीर से पृथक् होती है; और संसार में जो धार्मिक विचार प्रचलित हैं, वे इसी सिद्धान्त से विकसित हुए है। —अनुवादक।

आक्रमण करने पर होती है। जब उस पर आक्रमण होता है, तब उसे अपनी रक्षा के सम्बन्ध में जो शंका या भय होता है, वह तो होता ही है; पर साथ ही आक्रमणकारी के साथ युद्ध करने की उसकी वह सहज बुद्धि भी जाग्रत हो उठती है जो प्रकृति ने पहले से ही इसी प्रकार के विकट अवसरों के लिए उसके शरीर में स्थापित कर रखी है। इसी के मुकाबले की एक और सहज बुद्धि उसमें होती है जो उसे संकट के सामने से भागने में प्रवृत्त करती है। पर जिस समय मनुष्य यह देखता है कि इस समय भागने से कुछ भी फल न होगा, तब उस आक्रमणकारी के साथ युद्ध करने की प्रवृत्ति और भी प्रबल हो उठती है। प्राकृतिक शक्तियों के आक्रमण होने पर भी वह वही कुछ करता है, जो इसी प्रकार के अवसरों पर अस्थि-मांसवाले शत्रुओं को भगाने और उनका प्रतिकार करने के लिए करता है। इस समय भी संसार में बहुत से ऐसे लोग बचे हुए हैं जो बहुत दिनों से इस प्रकार की शक्तियों को भूत-प्रेत आदि के रूप में मानते हैं; और उन लोगों को देखकर हम यह समझ सकते हैं कि वे लोग इन शक्तियों का आक्रमण होने पर क्या क्या कृत्य करते हैं; और उन्हीं कृत्यों के आधार पर हम आदिम काल के मनुष्यों के कृत्यों का भी अनुमान कर सकते हैं। परंतु फिर भी एक बात है। यद्यपि इन शक्तियों के स्वरूप या प्रकृति के सम्बन्ध में लोगों में यह नई भूत-प्रेतवाली धारणा प्रचलित हो गई है, परंतु फिर भी बहुत सी अवस्थाओं में उनके कृत्यों पर इस बदली हुई धारणा का कोई प्रभाव नहीं पड़ा है और अब भी वे वही पूर्ववत् कृत्य करते हैं। उदाहरण के लिए हम एक ऐसी प्रथा बतलाते हैं जो अब भी संसार के कुछ भागों में प्रचलित है। वहाँ जब कभी कोई भारी आँधी आने को होती है, तब लोग अस्त्र-शस्त्र आदि लेकर उससे लड़ने के लिए निकलते हैं और उसी प्रकार की अंग भंगी बनाते और चिल्लाहट मचाते हैं,

जैसी युद्ध के समय होती है। और इसमें संदेह नहीं कि उनके पूर्वज लोग भी उस समय आँधी को भगाने के लिए इसी प्रकार के उपाय करते थे, जिस समय उन्हें इस बात की कोई कल्पना ही नहीं हुई थी कि आँधी के रूप में वस्तुतः कोई राक्षस या शैतान होता है जो आँधी लाता है। भारत में यह पौराणिक कथा प्रचलित है कि सूर्य ग्रहण अथवा चन्द्र ग्रहण इसलिए होता है कि राहु नामक राक्षस सूर्य अथवा चन्द्रमा को ग्रस लेता है। इसी प्रकार और भी अनेक देशों में यह विश्वास प्रचलित है कि कोई राक्षस या बहुत विकट और विलक्षण जन्तु जब सूर्य या चन्द्रमा को निगलने का प्रयत्न करता है, तब ग्रहण लगता है। परन्तु सूर्य ग्रहण को दूर करने के लिए चीन में जो उपाय किये जाते हैं, वे सम्भवतः इस प्रकार की पौराणिक कथाओं और विश्वासों के प्रचलित होने से बहुत पहले के हैं। जिस वर्षा पर मानव जाति का बहुत कुछ कल्याण निर्भर करता है, उसके सम्बन्ध में जब कभी लोग यह समझने लगते हैं कि उस वर्षा को किसी ने रोक रखा है, उस समय वे अनेक प्रकार के उपाय करते हैं: और उन उपायों के सम्बन्ध में भी हम यही मान सकते हैं कि वे भी तत्सम्बन्धी पौराणिक कथाओं और विश्वासों से प्रचलित होने के बहुत पहले से चले आते हैं। युरोपिय रूस के लिवोनिया (Livonia) नामक बाल्टिक प्रदेश के एक गाँव में प्रायः आज तक यह प्रथा प्रचलित है कि जब वर्षा नहीं होती और वर्षा की विशेष आवश्यकता होती है, तब तीन आदमी एक देवदार के पेड़ पर चढ़ जाते हैं। उनमें से एक आदमी एक पीपा जोर जोर से पीटकर बजाता है और इस प्रकार मानों बादल को गरजने में प्रवृत्त करता है। दूसरा आदमी जलती हुई दो लकड़ियाँ लेकर उन्हें आपस में टकराता है और इस प्रकार मानों बिजली चमकाता है। और तीसरा आदमी पानी से भरे हुए एक बरतन में कुछ टहनियाँ डुबाकर उनसे चारों तरफ पानी छिड़कता

है और इस प्रकार मानों वर्षा करता है। पानी बरसाने के लिए यही टोटका वहाँ किया जाता है। इसे कुछ लोग अभिनयात्मक या स्वाँग का टोटका (Mimetic Magic) कहते हैं; पर इसका यह नाम कुछ ठीक नहीं है। तो भी अब तक अनेक स्थानों में इसी प्रकार के टोटके होते हैं और ये उसी आदिम काल की स्थिति के अवशिष्ट प्रयोग हैं, जिस समय लोग वास्तव में स्वयं ही प्रकृति को इस प्रकार के कार्यों में प्रवृत्त करते थे और जिस समय उन्हें कभी इस बात की कल्पना भी नहीं हुई थी कि इन प्राकृतिक शक्तियों में भूत-प्रेतों या देवताओं आदि का निवास है।

अपनी सहज बुद्धि से किये हुए इस प्रकार के कार्यों को जब लोग फल-प्रद होते हुए देखते होंगे-और जान पडता है कि अनेक अवसरों पर उन्हें ऐसे कार्य फलप्रद होते हुए दिखाई पडते होंगे—तब इसी प्रकार के दूसरे अवसरों पर और भी अधिक जान-बूझकर तथा दृढ़ विश्वासपूर्वक लोग इस प्रकार के कार्यों की पुनरावृत्ति करते होंगे और ये प्रणालियाँ पीढी दर पीढी चलती रही होंगी। साधारण जीव-जन्तु जिस प्रकार के कार्यों और प्रणालियों से अपने उद्देश्य सिद्ध करने में सफल होते हैं, होते होते बहुत दिनों में वे कार्य और प्रणालियाँ ऐन्द्रिक रूप में उनकी सहज बुद्धियों में अंकित और सम्मिलित हो जाती हैं; और मनुष्यों में वही बातें सज्ञान स्मृतियों के रूप में रक्षित रहती हैं और प्रथाओं के रूप में स्थिर हो जाती हैं।

इस तरह के सब कामों में एक खास और जरूरी शर्त यह थी कि मनुष्य को जिन शक्तियों से वास्ता पडता था, वे बहुत दूर की नहीं होती थीं। वे शक्तियाँ जिस समय जो काम करती थीं, उसी समय और उसी काम के सम्बन्ध में मनुष्य उनसे परिचित होते थे और उसी समय तथा उसी काम के सम्बन्ध में वे उनकी चिन्ता या विचार करते थे। ज्यों ही वे

शक्तियाँ मनुष्यों को अपना प्रभाव दिखलाने लगती थीं, त्यों ही वे भी उनका प्रतिकार कर चलते थे। वे शक्तियाँ उनके लिए अलौकिक नहीं होती थीं। जिन लोगों को इस बात की कोई कल्पना ही न हो कि प्राकृतिक शक्तियाँ और प्राकृतिक नियम आदि नियमित और निश्चित रूप से अपना काम करते हैं, अथवा जो कारण और कार्य का सम्बन्ध भी न जानते हों, वे लोग किसी बात को उस रूप में प्राकृतिक नहीं समझ सकते, जिस रूप में हम लोग समझते हैं; और इसी लिए उनकी दृष्टि में कोई बात अलौकिक भी नहीं हो सकती। वे केवल यही समझते हैं कि कुछ शक्तियाँ साधारण होती हैं और कुछ असाधारण होती हैं। और इस दृष्टि से उनमें कई दरजे होते हैं। फिर इन शक्तियों को वे गूढ़ भी समझते हैं। ये शक्तियाँ वास्तव में प्रकृति के वही कार्य होते हैं जिन्हें वे जानते हैं। फिर उनके लिए प्रकृति के ये कृत्य ऐसे भी नहीं होते जो बुद्धि के लिए अगम्य हों और न ऐसे ही होते हैं जिनका प्रतिकार किया जा सके। जिस समय वे शक्तियाँ उन पर आक्रमण करती हैं, उस समय वे उसका मुकाबला करते हैं और मुकाबले में प्रायः उनकी टक्कर के ठहरते हैं। जिस समय वे शक्तियाँ उनके मन के मुताबिक काम नहीं करतीं, उस समय वे प्रायः उनसे अपना काम भी करा लेते हैं। साधारणतः संसार के प्रायः सभी देशों के निवासियों में यह विश्वास प्रचलित था कि आदमी या कम से कम कुछ खास आदमी ऐसे होते हैं जो इन प्राकृतिक शक्तियों को अपने वश में कर सकते हैं, उनसे अपने लाभ के काम भी करा सकते हैं—और आवश्यकता पड़ने पर उनसे अपने दुष्ट उद्देश्य भी सिद्ध करा सकते हैं-अर्थात् उनसे अपने शत्रुओं का अनिष्ट भी करा सकते हैं। और ये सब ऐसी बातें हैं जो मन्त्र-तन्त्र और धर्म के क्षेत्र में प्रायः स्वतः सिद्ध मानी जाती हैं।

अब तक हम धर्म के सम्बन्ध में बहुत सी बातें कह गये हैं, पर अभी तक हमने धर्म की व्याख्या नहीं की है। परन्तु अब आगे बढ़ने से पहले

यह समझ लेना अच्छा होगा कि अब हम 'धर्म' शब्द का क्या अर्थ लेंगे और इसका प्रयोग किस आशय से करेंगे। 'धर्म' शब्द की कई साधारण व्याख्याएँ बहुत प्रचलित हैं; परंतु हम समझते हैं कि यदि हम उन सब व्याख्याओं को यहाँ गिनाने बैठें और उन सब का अलग अलग विवेचन करें तो यह कोई बुद्धिमत्ता का कार्य नहीं होगा। उनमें से बहुत सी व्याख्याएँ ऐसी हैं जिनसे केवल यही पता चलता है कि उनके व्याख्याताओं का धर्म के सम्बन्ध में साधारणतः क्या विचार है अथवा वे अपने दार्शनिक मत के अनुसार धर्म का क्या स्वरूप समझते हैं। परन्तु इस प्रकार की व्याख्याएँ करते समय वे लोग स्थूल वास्तविक तथ्यों का उपयुक्त विचार नहीं करते और उन की उपेक्षा करते हैं। फिर कुछ ऐसे व्याख्याता भी हैं जो धर्म की ऐसी व्यापक व्याख्या करते हैं जो साधारणतः सभी धर्मों के लिए प्रयुक्त हो सकती है; और इस प्रकार वे एक ऐसा वृत्त प्रस्तुत करके सामने रख देते हैं जिसकी परिधि तो सब जगह होती है, परन्तु जिसका केन्द्र कहीं नहीं होता। परन्तु वास्तव में बात यह है कि धर्म इतना अधिक जटिल है और उसकी बहुत सी बातों में परस्पर इतना अधिक पार्थक्य है जिसका कोई अन्त नहीं; और इसी लिए उसकी कोई नियमित व्याख्या भी नहीं सकती। लेकिन इतना होने पर भी उसमें एक बड़ी विशेषता यह है कि हमें जहाँ कहीं वह दिखाई पडता है, वहीं हम उसे तुरन्त पहचान लेते हैं; और इसी लिए हम समझते हैं कि यदि हम उसकी कोई नियमित व्याख्या करने का प्रयत्न न करें, बल्कि इसके बदले में यह जानने का प्रयत्न करें कि वे कौन से लक्षण हैं जिनसे धर्म का स्वरूप ठीक तरह से पहचाना जाता है, तो इससे हमारा विशेष लाभ हो सकता है।

हमने अभी ऊपर जो अभ्युपगम या आनुमानिक विश्लेषण किया है, उसमें हमने यह बात मान ली है कि आदिम काल के लोग अपने

अनुभव से यह बात समझ लेते थे कि कोई ऐसी चीज है जो हमारे साथ कुछ करती है। वे यह भी समझते थे कि हमारी ही तरह कुछ ऐसी चीजें हैं और वे जो कुछ करती हैं, वह जान-बूझकर और करने के उद्देश्य से ही करती हैं। और आत्म-रक्षावाली अपनी सहज बुद्धि से प्रेरित होकर वे उस शक्ति के प्रकोप से अपनी रक्षा करने के लिए स्वयं भी कुछ करते थे अथवा उनसे अपनी इच्छा के अनुसार काम कराने के लिए कुछ करते थे। इन्हीं कुछ चीजों के लिये हम ने 'शक्ति' शब्द का प्रयोग किया है जिसका कोई निश्चित और स्पष्ट अर्थ नहीं होता। शक्ति से हमारा अभिप्राय अभी तक कुछ ऐसी चीजों से ही रहा है जो कुछ करती हैं, परन्तु उनके स्वरूप आदि के सम्बन्ध में हमने अभी तक कुछ भी कल्पना नहीं की है—उनका स्वरूप स्थिर नहीं किया है। जिन धर्मों का हम पर्यवेक्षण कर सकते हैं, यदि हम उनकी विशिष्ट बातों का सिंहावलोकन करें तो हमें वे लक्षण मिल जायँगे जिनसे धर्म की पहचान हो सकती है।

(१) मनुष्य का यह विश्वास होता है कि कुछ शक्तियाँ होती हैं -फिर चाहे जिस रूप में उनकी कल्पना या ग्रहण किया जाय—और मनुष्य के प्रति उन शक्तियों का जो व्यवहार होता है, उस व्यवहार पर मनुष्य का कल्याण बहुत से रूपों में निर्भर करता है।

(२) उसका यह विश्वास होता है कि ये शक्तियाँ भी हमारी ही तरह अपने मन में कुछ भाव या उद्देश्य रखकर काम करती हैं और इसी लिए वे बुद्धि-गम्य हैं।

(३) उसका यह विश्वास होता है कि मनुष्यों के लिए किसी न किसी रूप में यह सम्भव है कि वे उन शक्तियों पर ऐसा प्रयोग करें कि वे शक्तियाँ कोई हानि न पहुँचा सकें अथवा उनके काम करके उन्हें लाभ पहुँचा सकें।

(४) और अन्तिम बात यह है कि मनुष्य अपने इसी विश्वास के अनुसार काम करता है। धर्म के लक्षणों या चिह्नों में एक आवश्यक लक्षण या चिह्न यह है कि मनुष्य इस प्रकार अपने विश्वास के अनुसार काम करें। परन्तु शक्तियों के सम्बन्ध में मन में विश्वास रखने मात्र से ही धर्म का स्वरूप खड़ा नहीं हो जाता। ये विश्वास तो मनुष्यों के उन कर्मों के सहचारी हैं जिनके प्रतिपादन से धर्म को कार्य-क्षेत्र में अपना स्वरूप प्राप्त होता है; अर्थात् मनुष्य उन कर्मों का जो आचरण करता है, वही वास्तव में धर्म है। मनुष्य निरपेक्ष भाव से संसार को समझने और उसकी बातों का विवेचन करने का जो प्रयत्न करता है, उससे उक्त कर्मों का आचरण बिलकुल भिन्न है। इस प्रकार संसार का रहस्य समझने और उसका विवेचन करने का जो प्रयत्न होता है, वह तो विशिष्ट रूप से दर्शन और विज्ञान का काम है। संसार में कोई ऐसा धर्म प्रचलित नहीं है जिसके सम्बन्ध में उसके अनुयायियों को कुछ भी करना न पड़े। अर्थात् धर्म में सदा कुछ न कुछ करने की आवश्यकता होती है। हाँ यह बात दूसरी है कि कुछ अधिक उन्नत पौर्वात्य–विशेषतः भारतीय–धर्मों की भाँति वह कुछ करना पूर्ण रूप से ध्यानावस्थित होकर कुछ न करने के रूप में ही हो* ।

मनुष्य जो कुछ करता है और जिससे उसके धर्म को विशिष्ट स्वरूप प्राप्त होता है, उसका निर्द्धारण दो मुख्य बातों से होता है। पहली बात तो यह है कि वह उन शक्तियों से किन बातों की अपेक्षा रखता है या

---

* यहाँ लेखक का अभिप्राय हिन्दू तथा बौद्ध आदि धर्मों की योगवाली साधनाओं से है जिनमें मनुष्य बिलकुल निष्क्रिय होकर केवल ध्यान या समाधि लगाता है। लेखक बतलाता है कि इस प्रकार निष्क्रिय होने और कुछ न करने के लिए भी मनुष्य को कुछ न कुछ, बल्कि यों कहना चाहिए कि बहुत कुछ, करना पडता है। और यही कुछ या बहुत कुछ करना धर्म का व्यावहारिक रूप है। —अनुवादक।

वह उनसे क्या क्या चाहता है; और दूसरे यह कि उन शक्तियों के सम्बन्ध में वह क्या समझता है। और मनुष्य उन शक्तियों से जो कुछ चाहता है, मुख्यतः उसी के अनुसार वह उन शक्तियों के सम्बन्ध में समझता और विचार करता है। जब तक मनुष्य ऐसी आवश्यकताएँ अनुभव नहीं करता, जिनकी पूर्त्ति बहुत सी अच्छी अच्छी लौकिक चीजों से न हो सकती हो और उन सबका भोग करने की उसकी पाशव शक्ति बनी रहे, अर्थात् उसे आयुष्य, स्वास्थ्य, वैभव, शक्ति और सुख आदि सब बातें प्राप्त रहें, तब तक वह यही समझता रहता है कि हमारे देवता इस लोक में भी और परलोक में भी ये सब वस्तुएँ और साधन प्राप्त करते रहेंगे; और उसके धर्म का कार्यात्मक स्वरूप यह होगा कि वह ऐसे उपयुक्त उपाय करता रहे जिनसे ये सब वस्तुएँ प्रदान करनेवाली शक्तियाँ यथेष्ट मात्रा में उसे ये सब वस्तुएँ देती रहें। उसकी आवश्यकताएँ जितनी ही बढ़ती जाती हैं, उन्हीं के हिसाब से उसके वे देवता भी बड़े होते जाते हैं, जिनसे वह उन आवश्यकताओं को पूरी करनेवाली वस्तुएँ प्राप्त करने की आशा रखता है।

जब लोग इन लौकिक और स्वाभाविक लाभों को तुच्छ समझने लगते हैं और उनकी दृष्टि में सांसारिक पदार्थों का कुछ भी मूल्य या महत्त्व नहीं रह जाता और इन वस्तुओं की अपेक्षा वे परमोत्कृष्ट "आत्म" का बहुत अधिक मूल्य समझने लगते हैं, वे धर्म के द्वारा इस "आत्म" की अन्तर्निहित शक्तियों की सिद्धि करना चाहते हैं, तब वे एक ऐसे आध्यात्मिक परमात्म तत्त्व की कल्पना करते हैं जिसके साथ मिलकर एक या तद्रूप हो जाना ही इस ससीम और सान्त "आत्म" का अन्तिम उद्देश्य होता है। वे समझने लगते हैं कि यह "आत्म" तभी पूर्णता को प्राप्त हो सकता है और तभी इसे शाश्वत परमानन्द प्राप्त हो सकता है, जब यह उस परमात्म तत्त्व के साथ मिलकर

एक और बिलकुल उसी के समान हो जाय। अब मनुष्य इसी एक मात्र और परम वास्तविकता का इच्छुक हो जाता है और उसकी प्राप्ति के साधनों की ओर से उसका ध्यान हट जाता है; पहले जिन बहुत सी शक्तियों की वह कल्पना करता था, अब उसके लिए वे सभी उस परब्रह्म एक में समा जाती हैं और वह उन सब शक्तियों का उसी एक शक्ति में अन्तर्भाव करने लगता है। इस प्रकार वह एक चरम सीमा से हटकर दूसरी चरम सीमा पर जा पहुँचता है। एक ओर तो वे सांसारिक पदार्थ होते हैं जिन्हें मनुष्य प्राप्त करना चाहता है; और दूसरी ओर उस सत्ता के सम्बन्ध में उसके विचार होते हैं, जिससे वह अपनी सब आवश्यकताओं की पूर्त्ति की अपेक्षा रखता है; और इन दोनों में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। यद्यपि इन दोनों में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध होता है, परन्तु फिर भी हम यहाँ यह बात दोबारा बतला देना चाहते हैं कि धर्म के क्षेत्र में सबसे पहले मनुष्य की आवश्यकताओं की ही प्रधानता होती है। धर्म इसी मार्ग से होकर सभ्यता की उन्नति के साथ एक अवस्था से दूसरी उन्नत अवस्था तक पहुँचता है; और यह धर्म सभ्यता के परम शक्तिशाली अंगों या तत्त्वों में से एक होता है।

आरम्भ में शक्तियों के सम्बन्ध में मनुष्यों के जो विचार या धारणाएँ होती हैं और जिन्हें हमने धर्म के लक्षणों के रूप में माना है, धर्म की इस उन्नति में उन विचारों या धारणाओं में बडे बडे परिवर्तन हो जाते हैं; और इन्हीं परिवर्तनों के अनुसार उन कामों में भी परिवर्तन हो जाते हैं जो काम मनुष्य अपनी इच्छाएँ पूरी करने के लिए करता है। साधारणतः जब एक बार कोई रवाज या प्रथा चल पडती है, तो फिर वह सहज में मनुष्यों का पीछा नहीं छोड़ती। और विशेषतः धर्मक्षेत्र में जो प्रथा चल पड़ती है, उसका अन्त करना तो और भी अधिक कठिन हो जाता है। और इसका परिणाम यह होता है कि लोग शक्तियों

पर प्रभाव डाल कर उन्हें अपने अनुकूल करने के पुराने उपाय या साधन जल्दी छोड़ते नहीं; हाँ कुछ नये उपाय या साधन अवश्य ग्रहण कर लेते हैं जिससे और भी अधिक विकसित कर्म-कांड या धार्मिक क्रियाएँ आदि प्रचलित हो जाती हैं; और बहुधा अनेक असंगत या असम्बद्ध बातों का एक ऐसा समूह या पिंड प्रस्तुत हो जाता है जिसमें धर्म की पहलेवाली सब अवस्थाओं की बातें पवित्र और धार्मिक कर्तव्यों के रूप में स्थायी रूप से रक्षित हो जाती हैं।

हमने ऊपर धर्म के जो चार सर्वव्यापी लक्षण बतलाये हैं, उनके सम्बन्ध में कदाचित् यह आपत्ति की जा सकती है कि आरम्भिक बौद्ध धर्म में और उसके सम-कालीन और उससे मिलते-जुलते दूसरे भारतीय धर्मों में किसी ऐसी शक्ति का अस्तित्व नहीं माना जाता जिससे मनुष्य इस प्रकार की सहायता की याचना कर सके कि तुम हमें पुनर्जन्म के उस अनन्त चक्र से मुक्त कर दो, जो कर्म और उसके फलों के कारण अनिवार्य और अवश्यम्भावी रूप से अपना कार्य करता रहता है। इन धर्मों के अनुसार स्वयं मनुष्य ही अपना परित्राण कर सकता है और केवल अपने ही प्रयत्न से निर्वाण प्राप्त कर सकता है। इसका उत्तर यह है कि इस प्रकार का विश्वास रखनेवाले लोग स्वयं मनुष्य में ही उस शक्ति का निवास मानते हैं जो उन्हें शरीर धारण के बन्धनों से मुक्त कर सकती है और उसे सांसारिक अस्तित्व के चक्र से छुड़ा सकती है। इस विषय में आरम्भिक काल का बौद्ध धर्म भारत के उन बड़े बड़े मोक्ष दिलानेवाले दार्शनिक धर्मों के ही समान और अनुकूल है जो बौद्ध धर्म के प्रचलित होने से पहले भी हो गये थे और बाद भी हुए थे—और ऐसे धर्मों में द्वैतवादी और अद्वैतवादी दोनों ही प्रकार के धर्म सम्मिलित हैं। परन्तु कुछ दिनों बाद जब दूसरे बहुत से देशों में भी बौद्ध धर्म का प्रचार हो गया और वह जन-साधारण का धर्म बन गया, तब

लोग अपने अपने पुराने धर्मों की वे सब बातें भी, जिन्हें वे धर्म में रखने के योग्य समझते थे, ला लाकर बौद्ध धर्म में रखने लगे। वे लोग नाम बदल बदलकर अपने अपने पुराने देवताओं को भी बौद्ध धर्म में स्थान देने लगे और साथ ही अपने यहाँ के बहुत से भूत-प्रेतों, धार्मिक कृत्यों और अनुष्ठानों या मान्य बातों को भी उसी धर्म में सम्मिलित करने लगे। इसका फल यह हुआ कि अनेक प्रकार से बौद्ध धर्म भी उन्हीं बाह्य लक्षणों से युक्त हो गया, जिनका वर्णन हम ऊपर धर्म के लक्षणों में कर चुके हैं; और उसमें भी वही बहुत सी शक्तियाँ मान्य होने लगीं जिनसे लोग प्रार्थना करते थे कि अमुक अमुक कष्टों और विपत्तियों से हमारी रक्षा करो, हमारी शारीरिक आवश्यकताएँ पूरी करो। पर साथ ही वे उन शक्तियों से यह भी प्रार्थना करते थे कि हमें प्रकाश या ज्ञान प्रदान करो। बौद्ध धर्म के बोधिसत्व कार्यतः बहुत बड़े बड़े देवता बन गये और अन्त में शुद्ध भूमिवाले सम्प्रदायों में वही बोधिसत्व मोक्ष या निर्वाण प्राप्त करानेवाले माने जाने लगे। यह एक ऐसा विकास था जो हिन्दू धर्म के विकास से बहुत अधिक मिलता-जुलता था और कदाचित् उसी के अनुकरण पर हुआ था। यदि हम महात्मा बुद्ध के दर्शन को अज्ञेयवादी कहें तो कदाचित् कुछ अनुपयुक्त न होगा। परन्तु बौद्ध जगत के एक बहुत बड़े भाग में महात्मा बुद्ध के वे दार्शनिक सिद्धान्त तो दबा दिये गये थे और उनके स्थान पर बहुत सी आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक रीतियाँ प्रचलित कर दी गई थीं; और उसमें पहले व्यक्तिगत रूप से अर्हत बनकर निर्वाण प्राप्त करने की जो कामना की जाती थी, उसके स्थान पर जीव-मात्र का परित्राण करनेवाले बुद्ध का पद प्राप्त करने की इच्छा आ गई थी।

अब हम अगले प्रकरण में यह बतलाने का प्रयत्न करेंगे कि मनुष्य पहले शक्तियों को किस प्रकार का समझते थे अथवा उनका क्या रूप मानते थे और इस सम्बन्ध में वे अपने विचारों या धारणाओं के फल-स्वरूप क्या क्या करते थे।

दूसरा प्रकरण

आत्माएँ और भूत-प्रेत

जिन असंख्य शक्तियों से मनुष्य को काम पडता है, उनमें सबसे पहले मनुष्य उन क्षेत्रों या स्थानों के विचार से भेद या विभाग करता है, जिन क्षेत्रों या स्थानों में वे शक्तियाँ काम करती हैं। उदाहरण के लिए जंगल, पानी के नाले या नदियाँ अथवा आकाश, मेघ और प्रबल वायु है; अथवा वे पर्वत हैं जो आंधी-पानी को इकट्ठा करते हैं अथवा उनके कर्ता के रूप में दिखाई पडते हैं। अथवा उनकी पहचान उनके किये हुए कामों से होती है। जैसे जब किसी आदमी को बुखार आने लगता है, उसके सिर में दर्द होने लगता है और या कोई ऐसी बीमारी होती है, जिसमें उसका सारा शरीर दिन पर दिन बराबर सूखता चला जाता है, तब लोग समझते हैं कि यह अमुक शक्ति का काम है। इस अन्तिम प्रकार की शक्तियों का अस्तित्व केवल उनके उपद्रवों के कारण होता है और वे सदा मनुष्यों के शत्रु के रूपमें ही दिखाई पडती हैं। परन्तु जो शक्तियाँ बाह्य प्रकृति के क्षेत्र में अपना काम करती हैं, वे चाहे स्वेच्छाचारिणी ही हों, चाहे उनके कार्यों और प्रकोपों का ठीक तरह से निरूपण न किया जा सकता हो और चाहे अधिकांश अवसरों पर उनका प्रकोप भीषण ही क्यों न होता हो, परन्तु फिर भी वे सदा केवल शत्रु रूप में ही काम नहीं करतीं। प्रायः

यही होता है कि वे उदासीन रहती हैं—न तो वे मनुष्यों को हानि ही पहुँचाती हैं और न उनका कोई उपकार ही करती हैं। फिर जब तक वे मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति करती रहती हैं, तब तक वे मित्र और सहायक शक्तियाँ ही समझी जाती हैं। परन्तु अच्छी और बुरी शक्तियों का विभाग बिलकुल आरम्भ में ही नहीं होता। आगे चलकर बहुत बाद की अवस्था में लोग मित्र या अनुकूल शक्तियों को अच्छा और शत्रु या प्रतिकूल शक्तियों को बुरा समझने लगते हैं।

किसी समय शक्तियों के सम्बन्ध में लोगों की इस प्रकार की अनिश्चित और अस्पष्ट धारणाएँ तो अवश्य होती थीं कि ये शक्तियाँ जो कुछ करती हैं, वह जान-बूझकर करती हैं, और केवल इसी विचार से उनमें व्यक्तित्व का आरोप किया जाता था; परन्तु हमारे निरीक्षण के क्षेत्र में इस प्रकार की शक्तियाँ कदाचित् ही कहीं अवशिष्ट दिखाई पड़ती हों। अर्थात् शक्तियों के सम्बन्ध की इस प्रकार की धारणाओं का बहुत पहले ही लोप हो चुका था। बहुत आरम्भिक काल में और संसार के प्रायः सभी भागों में लोग शक्तियों के स्वरूप के सम्बन्ध में अधिक स्पष्ट रूप से कल्पना करने लग गये थे और उनकी इस प्रकार की कल्पनाओं के कारण धर्म ने एक ऐसी अवस्था में प्रवेश किया था, जिस अवस्था में वह हमें संसार के सभी भागों में और इतिहास के सभी कालों में बहुत अधिक मान में दिखाई पड़ता है। इस अवस्था में शक्तियों की कल्पना भूत-प्रेत आदि के रूप में की जाती है। अथवा किसी स्थावर या जड़ पदार्थ में निवास करनेवाली आत्मा के रूप में मानी जाती है। अर्थात् साधारणतः वे ऐसी सत्ताओं के रूप में मानी जाती हैं जो अदृश्य होती हैं और जिनका स्पर्श द्वारा अनुभव नहीं किया जा सकता; परन्तु फिर भी वे वास्तविक और शक्ति-सम्पन्न मानी जाती हैं और उनका निवास कुछ विशिष्ट पदार्थों में माना जाता है। उदाहरणार्थ, उनका निवास किसी पेड़, चट्टान, पहाड़,

नदी, सूर्य, चन्द्रमा या तारों आदि में और यहाँ तक कि कुछ खास आदमियों में भी माना जाता है। अथवा यह भी माना जाता है कि वे किसी एक स्थान पर जमकर नहीं रहतीं और बराबर इधर-उधर घूमा करती हैं; या कम से कम यह माना जाता है कि वे ऐसे स्थानों में रहती हैं जिनका आदमियों को पता नहीं लग सकता।

जिस ढंग से इस प्रकार की धारणाएँ उत्पन्न होती हैं, उसका अनेक बार विश्लेषण हो चुका है। मनुष्य ने जब पहले-पहल मनोविज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश किया था, अर्थात् जब उसने पहले-पहल अपनी अक्ल लड़ाना शुरू किया था, तब उसके दिमाग से इस तरह की बातें निकली थीं। इस प्रकार वह जिस प्रकृति का पता लगाता है वह वास्तव में स्वयं उसी की प्रकृति होती है-वह अपनी ही प्रकृति की छाया इन सब बातों में देखता है और निष्कपट रूप से बाह्य प्रकृति में स्वयं अपनी ही प्रकृति की उद्भावना या आरोप करने लगता है। जिन अनुभवों के कारण उसके मन में आत्मा का विचार उत्पन्न होता है, उनमें से कुछ अनुभव सबसे अधिक प्रधान और महत्व के हैं। इनमें से सबसे पहला अनुभव तो उस समय होता है, जिस समय वह किसी को अपने सामने मरते हुए देखता है; और दूसरा अनुभव तब होता है, जब वह स्वप्न देखता है अथवा जाग्रत अवस्था में ही उसे कोई कल्पित दृश्य दिखाई पड़ता है या उसे कोई आभास होता है अथवा कोई असाधारण मानसिक या आध्यात्मिक व्यापार दिखाई देता है। अब पहले मृत्यु को ही लीजिए। जिस आदमी को कल उसने सब प्रकार की शक्तियों से सम्पन्न देखा था, वही आज उसे जमीन पर बिलकुल ठंढा पड़ा हुआ दिखाई पड़ता है और न कुछ बोलता-चालता है और न हिलता-डुलता है। यह स्पष्ट ही है कि उसमें किसी चीज की कमी हो गई है। उसके शरीर में से कोई चीज निकल गई है और वह वही चीज है जो उसे जीवित रखती थी। मतलब यह कि उसका जीवन या उसके प्राण उसे

छोडकर कहीं चले गये हैं। अन्तिम श्वास के साथ उस जीवन को लोगों ने प्रत्यक्ष रूप से शरीर के बाहर निकलते हुए देखा है, अथवा उसके बाहर निकलने का शब्द सुना है अथवा किसी घातक घाव में से बहते हुए खून का धार के साथ उसे बाहर निकलते हुए देखा है। बहुत सी ऐसी भाषाओं में, जो एक दूसरी से बहुत अधिक दूरस्थ देशों में बोली जाती हैं, आत्मा के लिए बहुधा "श्वास" के पर्यायवाची शब्द ही प्रचलित हैं * और यह विश्वास भी बहुत अधिक लोगों में प्रचलित है कि आत्मा वास्तव में रक्त ही है, अथवा वह रक्त में निवास करती है। और इन सब बातों से यह पता चलता है कि मनुष्यों में आत्मा सम्बन्धी जो धारणा उत्पन्न हुई थी, उसका मूल यही था।

इस प्रकार लोगों की समझ में यह बात आ गई कि आत्मा ही वह शक्ति है जिसके कारण आदमी साँस लेता है, उसकी नाडियाँ चलती हैं, वह चलता-फिरता और अंग-संचालन करता है, विचार करता है, बोलता है, प्रेम करता है और घृणा करता है। मरने पर वही आत्मा शरीर के बाहर चली जाती है; पर अब वह चाहे जहाँ जाय, वह है तो जीवन या प्राण ही। इस बात की किसी प्रकार कल्पना ही नहीं हो सकती कि शरीर से निकल जाने पर उस आत्मा का अस्तित्व बिलकुल रह ही नहीं गया; और यही बात जंगली आदमियों के सम्बन्ध में इस प्रकार कही जा सकती है कि उसकी समझ में यह बात आ ही नहीं सकती, वह यह सोच ही नहीं सकता कि अब उस आत्मा का अस्तित्व ही नहीं रह गया। यह समझना कि किसी वस्तु का पूर्ण रूप से विनाश या लोप हो गया है, वास्तव में बहुत बडी समझदारी का काम है; और यह वही कर सकता है जो बहुत सी सूक्ष्म बातों में पृथक्करण या विभाग कर सकता हो। हमारा

---

* हमारे यहाँ "प्राण" शब्द का भी मुख्य अर्थ वायु ही है और वायु तथा श्वास का घनिष्ट सम्बन्ध स्पष्ट ही है। --अनुवादक।

विज्ञान हमें यह समझने की शिक्षा दे सकता है कि शरीर के अन्दर प्राण धारण करनेवाले कुछ रासायनिक द्रव्य हैं। वे जब तक सम भाव से रहते और सम भाव से काम करते हैं, तब तक तो मनुष्य जीवित रहता है; परन्तु जब उनके उस सम भाव में कुछ अन्तर पडता है, तब जीवन का अन्त हो जाता है। परन्तु जब तक यह समझा जाता है कि आत्मा की शरीर से पृथक् कोई सत्ता है जो विचार, अनुभव और इच्छा आदि करती है और जो शरीर के अंगों का संचालन करती है, तब तक मनुष्य की समझ में ही यह बात नहीं आ सकती कि शरीर के मरने पर उसके साथ ही वह आत्मा कैसे मर सकती है।

आत्मा किस तरह की चीज है, यह बात मनुष्यों ने मुख्यत: स्वप्नों के द्वारा समझी थी। स्वप्न में मनुष्य कुछ जीवित आदमियों को देखता है और उनके साथ दोस्ती या दुश्मनी की बातें करता है। पर जब वह जागता है, तब उसे खयाल होता है कि जिन आदमियों के साथ मैंने स्वप्न में बातें की हैं, वे तो मुझसे बहुत दूर रहते हैं। तब वह यह समझता ही है कि हो न हो, उसकी आत्मा ही कुछ समय के लिए उसके शरीर को वहीं छोडकर जहाँ वह पडा था, तुरन्त ही इतनी दूर चलकर मेरे पास आ पहुँची थी। जब कभी कोई आदमी बेहोश होता या और किसी प्रकार से अज्ञान अथवा अचेत हो जाता है, तब प्राय; देखनेवाले यही समझते हैं कि इसकी आत्मा यह शरीर छोडकर कुछ समय के लिए कहीं चली गई है। कभी कभी ऐसा भी होता है कि बहुत दूर रहनेवाले आदमी उसे स्वयं अपने ही मकान में आये हुए दिखाई पडते हैं। वह उन्हें पहचानता है, उनके साथ बातें करता है और कभी कभी शायद उनके साथ झगडा बल्कि यहाँ तक कि लडाई भी कर बैठता है। उस समय भी वह यही समझता है कि उनकी आत्माएँ उनके शरीरों को बहुत दूर पीछे छोडकर यहाँ मुझ से मिलने के लिए चली आई थीं। वह पशुओं

आदि के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार के स्वप्न देखता है। वह उनका शिकार करना चाहता है; और कभी तो इस प्रकार शिकार करने में उसे सफलता होती है और कभी विफलता होती है। कभी कभी वह यह भी स्वप्न देखता है कि जंगली जानवरों ने मुझ पर हमला किया है। पर वास्तव में जंगली जानवर तो वहाँ होते ही नहीं, इसलिए वह यही समझता है कि उनकी आत्माओं ने यहाँ आकर मुझ पर हमला किया होगा।

स्वप्न में मनुष्य को जो पदार्थ या जीव दिखाई पडते हैं, वे आकार-प्रकार में उनके प्रत्यक्ष शरीरधारी रूपों के अनुसार ही होते हैं और उन्हीं के समान कार्य करते हुए दिखाई पडते हैं। यहाँ हमें यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि स्वप्न में होनेवाले अनुभव भी उसी प्रकार वास्तविक जान पडते हैं, जिस प्रकार मनुष्य के जाग्रत जीवन या अवस्था में दिखाई पडते हैं। वे इन्द्रिय-जन्य अनुभव होते हैं; और मनुष्य जिस प्रकार अपनी जाग्रत अवस्था के इन्द्रिय-जन्य अनुभवों को ठीक समझता है और उनमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं करता, उसी प्रकार वह स्वप्न में होनेवाले अनुभवों को भी ठीक समझता है और उनकी सत्यता के सम्बन्ध में उसे किसी प्रकार का सन्देह नहीं होता। बस इसी प्रकार अनुभवों से उसकी यह धारणा हो जाती है कि मनुष्य या पशु का जैसा शरीर होता है, ठीक वैसी ही उसकी आत्मा भी होती है; और यद्यपि वह आत्मा साधारण अवस्थाओं में नहीं दिखाई पडती, परन्तु फिर भी स्वप्नों अथवा जाग्रत अवस्था के आभासों में दिखाई पडती है। साथ ही साधारणतः यह भी माना जाता है कि उस आत्मा को हम अपने हाथों से स्पर्श नहीं कर सकते। इसी लिए होमर ने अपने "ओडीसी" नामक महाकाव्य में एक प्रसंग में कहा है कि जब ओडिस्सियस ने अपनी माता की छाया को अलिंगन करने के लिए हाथ आगे बढाये, तब वह उसकी भुजाओं में से छाया या स्वप्न की तरह निकल गई। यदि मनुष्य अपने मन में यह प्रश्न

करे कि आत्माएँ किस चीज की बनी हुई होती हैं, तब स्वभावतः उसे यही सूझेगा कि वह वातावरण की तरह की किसी चीज की बनी हुई होती होंगी। और वास्तव में आत्मा के सम्बन्ध में साधारणतः लोगों की यही धारणा होती है कि वह वायु के समान है और वायु या वाष्प की तरह के किसी ऐसे द्रव्य की बनी हुई है जो बहुत अधिक सूक्ष्म होता है।

लोग अपने स्वप्नों में केवल ऐसे जीवित मनुष्यों को ही नहीं देखते जिनके सम्बन्ध में वे यह समझते हैं कि इनकी आत्माएँ कुछ समय के लिए अपने शरीर छोडकर हमारे पास चली आई हैं, बल्कि स्वप्न में उन्हें ऐसे मृत पुरुष भी दिखाई पडते हैं जिनका आकार-प्रकार ठीक वैसा ही होता है, जैसा उनकी जीवित अवस्था में देखा गया था; और वे ठीक उसी प्रकार के आचरण भी करते हैं, जिस प्रकार के आचरण वे जीवित रहने की दशा में करते थे। यहाँ भी मनुष्य को अपनी इन्द्रियों के द्वारा इस बात का पक्का प्रमाण मिल जाता है कि मरने पर जो आत्माएँ शरीर से निकल जाती हैं, उनका अस्तित्व बाद में भी बना रहता है और उनमें एक घनत्व को छोडकर बाकी और सब बातें ज्यों की त्यों रहती हैं। और कभी कभी तो जब मनुष्य कोई भीषण स्वप्न देखता है, तब उसे ऐसा भी जान पडता है कि इन आत्माओं में घनत्व का भी अभाव नहीं है। आज-कल आत्म-विद्या के बल से लोगों को अचेत करके उनसे अनेक प्रश्नों के उत्तर जाननेवाले लोग जिसे "भौतिक भावापन्न" होना कहते हैं, उस प्रकार से वे आत्माएँ "भौतिक भावापन्न" भी हो सकती हैं। वे स्वप्न में उस आदमी को कसकर पकड लेती हैं और अपनी अलौकिक शक्ति से उसका गला दबाने लगती हैं। बस इसी प्रकार की बातों से आत्माओं से सम्बन्ध रखनेवाले विचारों या धारणाओं की सृष्टि होती है। लोग समाज में बैठकर एक दूसरे से अपने अपने अनुभवों का वर्णन करने लगते हैं

और इसी प्रकार भूत-प्रेतों की बहुत सी कहानियाँ बन जाती हैं जो परम्परागत रूप से चल पड़ती हैं।

आत्माओं के भौतिक संघटन और अभिव्यक्तियों के सम्बन्ध में लोग चाहे जिस प्रकार की कल्पनाएँ करें, परन्तु उनमें सबसे अधिक महत्व की बात यह है कि वे आत्मा को ही मनुष्य का वास्तविक और भीतरी, विशिष्ट और अभिन्न रूप समझते हैं। वह आत्मा मनुष्य की मृत्यु के उपरान्त ऐसी ही होती है और इसी लिए लोग यह भी मानने लगते हैं कि मनुष्य की जीवित अवस्था में भी वह ऐसी ही होती है।

ऐसी अवस्था में मनुष्य को इस बात में कुछ भी सन्देह नहीं हो सकता कि मृत्यु के उपरान्त भी आत्मा का अस्तित्व वास्तव में बना रहता है, और न उसके स्वरूप के सम्बन्ध में ही उसे कोई शंका रह जाती है। जीवित अवस्था में शारीरिक अस्तित्व के लिए जिन बातों की आवश्यकता होती है, ठीक उसी प्रकार की बातों की आवश्यकता वह मरणोत्तरक स्वरूप के लिए भी समझ लेता है। इस सम्बन्ध में वह इसके सिवा और किसी तरह की कल्पना ही नहीं कर सकता। वह समझता है कि आत्मा भी शरीर का ही दूसरा और भीतरी रूप है; और इसी लिए वह सहज में शरीर से भिन्न उसकी और कोई कल्पना ही नहीं कर सकता। और इसी के परिणाम स्वरूप वह यह भी विश्वास करने लग जाता है कि जिस स्थान पर मृत शरीर पड़ा रहता है, उसी स्थान पर उसकी आत्मा भी चक्कर लगाया करती है और कुछ विकट अवसरों पर वह प्रायः वहाँ लोगों को दिखाई भी पड़ती है। अनेक स्थानों में यह विश्वास प्रचलित है कि यदि मृत शरीर अच्छी तरह और रक्षापूर्वक रखा जाय तो उसकी आत्मा का अस्तित्व भी बहुत दिनों तक बना रहता है और वह रहती भी सुखपूर्वक है। और इसलिए मृत पुरुष के परिवारवाले अपने परिवार के लोगों के

मृत शरीरों को प्रायः बहुत परिश्रमपूर्वक अच्छी तरह रक्षित रखते हैं। जो मृत शरीर गाडे या जलाये नहीं जाते अथवा जिन की उपेक्षा की जाती है, उनकी आत्माओं के सम्बन्ध में प्राय: सभी देशों में यह माना जाता है कि वे आत्माएँ जहाँ जाती हैं, वहीं उनकी बहुत दुर्दशा होती है।

यह भी माना जाता है कि आत्माओं को भी सब वस्तुओं की उसी प्रकार आवश्यकता होती है, जिस प्रकार जीवित व्यक्तियों को होती है; और इसी लिए जब मृत शरीर गाडे जाते हैं, तब उनके साथ कब्र में खाने-पीने की भी जरूरी चीजें रख दी जाती हैं; और इसके बाद बीच बीच में कुछ नियत अवधियों के बाद भी इसी तरह सब चीजें रखी जाती हैं। कब्रों में प्रायः हथियार, औजार, बरतन और घर-गृहस्थी में काम आनेवाले आरायशी सामान, जैसे चौकियाँ और पलंग आदि, भी रखे जाते हैं; और प्रायः बडे आदमियों के मृत शरीरों के साथ उनकी स्त्रियाँ और दास आदि भी इसलिए गाड दिये जाते हैं कि वे मृत पुरुष की प्रेतात्मा के साथ रहें और उनकी सेवा-टहल करें। यद्यपि मृत्यु के उपरान्त भी मृत शरीर और आत्मा में इतना अधिक घनिष्ट सम्बन्ध माना जाता है, परन्तु फिर भी यह कहीं नहीं माना जाता कि वे आत्माएँ अपने अपने शरीर अथवा कब्र में ही सदा निवास करती हैं औरव हाँ से निकलकर बाहर नहीं जातीं। क्योंकि यदि यह मान लिया जाय कि आत्माएँ शरीर या कब्र में ही रहती हैं, तो फिर वे दूसरे स्थानों में लोगों को स्वप्न आदि में कैसे दिखाई पड सकती हैं?

जिन पदार्थों में आपसे आप गति होती है और इसी लिए जो पदार्थ सजीव-से दिखाई पडते हैं, (उदाहरणार्थ, पशु, वृक्ष, नदी, नाले, पानी के चश्मे, बादल, सूर्य, चंद्रमा और तारे आदि) उनमें भी आत्माओं का निवास माना जाता है। लोग समझते हैं कि जीवित मनुष्यों की भाँति

उन पदार्थों को भी जीवित रखनेवाली और उनसे काम करानेवाली आत्मा ही होती है। कुछ लोग यह कहा करते हैं कि जंगली लोग समझते हैं कि आत्मा हर एक चीज में होती है। परन्तु वास्तव में यह बात नहीं है और इस प्रकार की बातें कहनेवाले लोग आत्मा सम्बन्धी इन विचारों को भूल से प्राकृतिक पदार्थों के सम्बन्ध में भी घटाने लगते हैं। जैसा कि हम एक दूसरे प्रसंग में बतला चुके हैं, जंगली लोगों में हर एक चीज को एक सामान्य वर्ग या कोटि में रखने की प्रवृत्ति नहीं होती। वे यह नहीं मान बैठते कि अमुक गुण या धर्म सब पदार्थों में समान रूप से पाया जाता है। वे सब चीजों पर कभी एक साथ विचार नहीं करते। वे तो उन्हीं खास खास चीजों के सम्बन्ध में विचार करते हैं, जिनसे उनका मतलब होता है।

इस प्रकार अनेक पिंडों या पदार्थों में जीवन शक्ति का जो निवास माना जाता है और जिसे हम इसी लिए "आत्मा" कह सकते हैं, उन आत्माओं के अतिरिक्त बहुत सी ऐसी आत्माओं का भी अस्तित्व माना जाता है जो किसी पिंड या शरीर में नहीं रहतीं। कुछ ऐसी शक्तियाँ भी होती हैं जिनके कार्यों का अनुभव मनुष्य को रोगों आदि के रूप में होता है। वे शक्तियाँ बिलकुल गुप्त रूप से आतीं और उसी प्रकार चली जाती हैं। ऐसी शक्तियों की कल्पना भी भूतात्माओं के रूप में ही की जाती हैं। वे कुछ ऐसी चीजें होती हैं जो दिखाई तो नहीं पड़तीं, परन्तु फिर भी जो मनुष्य के शरीर में प्रवेश करके उसे उसी प्रकार हानि पहुँचाती हैं, जिस प्रकार बहुत सी दूसरी शक्तियाँ उसपर बाहर से आक्रमण करके उसे हानि पहुँचाती हैं। रोगों के सम्बन्ध में जंगलियों की जो यह धारणा होती है कि वे बाहर से आकर आक्रमण करनेवाली भूतात्माएँ होती हैं, बहुत सम्भव है कि वह धारणा मनुष्यों की आत्मावाले विचार से बिलकुल स्वतन्त्र हो। अर्थात् मनुष्यों में रहनेवाली आत्मा के विचार के आधार पर पदार्थों में रहनेवाली भूतात्माओं की कल्पना न की गई हो, वल्कि

बिलकुल स्वतन्त्र रूप से की गई हो। परन्तु यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका इस प्रसंग में हमारे लिए कुछ भी महत्व नहीं है।

मनुष्यों में रहनेवाली आत्माओं और पदार्थों या रोगों आदि की भूतात्माओं में न तो किसी प्रकार का भेद ही माना जाता है और न दोनों के बीच में कोई विभाजक सीमा ही है। यह माना जाता है कि मनुष्यों और हिंसक पशुओं की आत्माएँ भी प्रायः जाकर भूत-प्रेतों के दल में मिल जाती हैं। यह विश्वास और भी विशिष्ट रूप से प्रचलित रहता है कि जिस मृत शरीर की उपेक्षा की जाती है, उसकी आत्मा दुष्ट भूत-प्रेत के रूप में परिवर्त्तित हो जाती है; और अपने इस दुर्भाग्य या दुर्दशा का बदला अपने परिवार और गोत्रवाले उन लोगों से, जो उन आत्माओं और उनके मृत शरीरों के सम्बन्ध में अपने कर्तव्य का पालन नहीं करते, अथवा कभी कभी अपने सारे समाज से चुकाते हैं। जो लोग अपनी जीवित अवस्था में दूसरों को विशेष रूप से भयभीत रखते हैं, वे मरने पर दुष्ट आत्माओं या भूत-प्रेतों के रूप में और भी अधिक भयानक हो जाते हैं। इसके विपरीत पूर्वजों की आत्माओं के सम्बन्ध में यह माना जाता है कि वे अपने परिवार और गोत्र के लोगों पर विशेष रूप से कृपा रखती हैं, अनेक प्रकार के कष्टों और विपत्तियों से उनकी रक्षा करती हैं और उन्हें धन-धान्य आदि से सुखी रखती हैं। मृत सरदारों की आत्माएँ बहुधा गोत्र या वंश के देवताओं के रूप में पूजी जाने लगती हैं अथवा गोत्र या कुल के देवता लोग प्राचीन काल के सरदार माने जाते हैं।

पहले तो शक्तियों के सम्बन्ध में यह कल्पना की जाती है कि वे आत्माओं या भूत-प्रेतों के ही समान होती हैं; और तब इस प्रकार उत्पन्न होनेवाली धारणाओं के साथ मनुष्य की वह धारणा भी आकर मिल जाती है जो उसके मन में स्वयं अपनी प्रकृति के सम्बन्ध में होती है; और इससे

उन शक्तियों को दिन पर दिन और भी अधिक मानवी रूप प्राप्त होता जाता है। मानवी रूप से हमारा यहाँ यह अभिप्राय नहीं है कि लोग समझते हैं कि उन शक्तियों के भी मनुष्यों के ही समान शरीर होते हैं, बल्कि वे यह समझते हैं कि उन शक्तियों में मनुष्यों के ही समान विचार, संवेदन और इच्छा आदि बातें होती हैं और इस प्रकार उन्हें और भी अधिक पूर्ण वैयक्तिक रूप प्राप्त हो जाता है। बस यहीं से उस साकारवाद वाली विचार–प्रणाली का आरम्भ हो जाता है जो धर्म के और अधिक उन्नत होने पर अपना इतना अधिक परिणाम या प्रभाव दिखलती है। कुछ विशिष्ट स्थानों में रहनेवाली अथवा विशिष्ट कार्य करनेवाली शक्तियाँ कुछ दिनों में "स्वतन्त्र वैयक्तिक अस्तित्व" रखनेवाली भूतात्माएँ बन जाती हैं और उनमें से प्रत्येक शक्ति या भूतात्मा का किसी विशिष्ट स्थान या पदार्थ में निवास माना जाने लगता है अथवा उसकी पहचान कुछ विशेष कार्यों से होने लगती है।

धर्म के विकास की यह अवस्था टाइलर (Sir E. B. Tylor) के समय से साधारणत: जीवदेह–पार्थक्य वाद (Animism) के नाम से प्रसिद्ध हो गई है और इसमें आत्माओं से सम्बन्ध रखनेवाली धारणाएँ भी सम्मिलित हैं और भूत–प्रेतों या भूतात्माओं से सम्बन्ध रखनेवाली धारणाएँ भी। यदि हम इसे मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बिलकुल अलग रखकर केवल धार्मिक दृष्टि से देखें और आज-कल "भूत प्रेत" शब्द जिस अर्थ में प्रयुक्त होता है, उसके दुष्ट गुण–निर्देश को अपने मन से निकाल दें और उसे उसी शुद्ध अर्थ में लें जिसमें यूनानी शब्द daimon ग्रहण किया और बोला जाता है और उससे भली, बुरी तथा उदासीन सभी प्रकार की भूतात्माओं का आशय ग्रहण करें तो इसके लिए अधिक अच्छा और ठीक ठीक भाव बतलानेवाला शब्द भूत-वाद (Demonism) होगा। इस शब्द का प्रयोग करने में एक लाभ यह होगा कि हम इससे आगे चलकर

"बहुभूतवाद" (Polydemonism) शब्द भी बना सकेंगे; और इसके बाद धर्म के विकास में जो बहु-देववाद-वाली अधिक श्रेष्ठ अवस्था आती है, उसके मुकाबले में हम बुहुभूतवाद नाम का भी प्रयोग कर सकेंगे। परन्तु फिर भी हम इसके लिए प्रचलित नाम का ही प्रयोग करेंगे और इसे धर्म की जीव-देह-पार्थक्य-वाली (Animistic) अवस्था ही कहेंगे।

शक्तियों की भूतात्माओं के रूप में जो कल्पना की जाती है, उसका उन कामों पर भी बहुत बडा प्रभाव पडता है जो मनुष्य उन शक्तियों के आक्रमण से अपनी रक्षा करने के लिए अथवा उनसे अपने मनोनुकूल काम कराने के लिए करता है। इस प्रकार की भूतात्माओं को मनुष्य की वश-वर्तिनी बनाने के दो उपाय संसार के इतने दूर दूर के देशों में काम में लाये जाते हैं कि यदि उन उपायों को हम विश्व-व्यापी कहें तो कदाचित् इसमें कोई अत्युक्ति न होगी। उनमें से एक उपाय तो यह है कि किसी भूतात्मा को प्रार्थना करके बुलाया जाता है और उसे किसी मनुष्य के शरीर में प्रविष्ट कराया जाता है। यह माना जाता है कि जिस मनुष्य के शरीर में वह भूतात्मा आती है, उसे भूतात्मा की ही तरह सब बातों का ज्ञान हो जाता है और जब तक वह आत्मा उसके शरीर में रहती है, तब तक वह मनुष्य उसी भूतात्मा की इच्छा के अनुसार सब बातें कहता और सब काम करता है। दूसरा उपाय यह है कि कोई भूतात्मा बुलाकर किसी सुभीते की चीज में स्थापित और बद्ध कर दी जाती है और तब उस भूतात्मा की सब शक्तियाँ उसी मनुष्य की इच्छा के अनुसार सब काम करती हैं, जिसके पास वह चीज रहती है। ये दोनों उपाय साधारणतः कहीं एक दूसरे से अलग नहीं देखने में आते, बल्कि साधारणतः साथ ही साथ प्रचलित दिखाई पडते हैं। हाँ यह बात दूसरी है कि किसी जाति के धर्म में एक उपाय अधिक प्रधान माना जाता हो

और किसी जाति में दूसरे उपाय का विशेष रूप से प्रचलन हो।

इनमें से पहले उपाय में भूतात्मा स्वयं अपने ऊपर या किसी दूसरे पर बुलाई जाती है। जिस मनुष्य में यह दैवी शक्ति होती है, अथवा जो यह विद्या जनाता है कि अपने वश में की हुई किसी भूतात्मा को जब चाहता है, तब अपने ऊपर बुला लेता है, ग्रन्थों में उसका नाम साधारणतः शमन (Shaman) मिलता है। यह "शमन" नाम साइबेरिया की कुछ जातियों में प्रचलित है। और और जातियों में ऐसे आदमी के लिए अपनी अपनी भाषा के अलग अलग शब्द प्रचलित होते हैं; और संसार के भिन्न भिन्न भागों में इस प्रकार किसी भूतात्मा को अपने ऊपर बुलाने के बहुत अधिक और भिन्न भिन्न प्रकार प्रचलित हैं। पर सब की तह में बात एक ही रहती है।

इस का मूल निस्सन्देह इस बात में है कि जब कभी किसी मनुष्य में मानसिक या स्नायविक व्यतिक्रम दिखाई पड़ता है, तब सारे संसार में यही माना जाता है कि इस मनुष्य पर कोई भूत-प्रेत आ गया है। उदाहरण के लिए, जब किसी को मिरगी रोग का दौरा होता है, तब उसकी हर एक बात से देखनेवाले के मन में यही खयाल होता है कि इस पर किसी अदृश्य शक्ति का आक्रमण या आविर्भाव हुआ है और वही शक्ति जो कुछ चाहती है, वह इससे कराती है। वह उसकी आत्म-चेतना के स्थान पर आकर अधिकार कर लेती है और उसके शारीरिक अंगों से मनमाने काम कराती है। उस अवस्था में उसकी जो कुछ भाव-भंगियाँ या कार्य आदि होते हैं, वे सब उसके निजी नहीं होते। साइबेरिया में जो लोग शमन होते हैं, वे स्वयं ही प्रायः मिरगी या इसी तरह के किसी दूसरे हलके स्नायविक रोग के रोगी होते हैं; और जब ऐसा आदमी अपने उपर भूत-प्रेत बराबर बुलाता रहता है, तब उसके ये रोग-जन्य संस्कार और भी बढ

जाते हैं। और उस अवस्था में तो ये सब बातें और भी विकट तथा उग्र रूप धारण कर लेती हैं, जब कि शमन का काम किसी परिवार में वंशानुक्रमिक रूप से होने लगता है; और वास्तव में वहाँ के कुछ प्रदेशों में शमन का काम वंशानुक्रमिक रूप से होता भी है। परन्तु फिर भी इस प्रकार के शारीरिक व्यतिक्रम या असाधारण बातें सब देशों के भूताविष्ट होनेवाले लोगों में नहीं पाई जातीं।

शमन में भूताविष्ट होने के लिए जो स्वाभाविक या अर्जित पात्रता होती है, उसके अतिरिक्त उसे वह परम्परागत विद्या भी सीखनी पडती है, जिसके द्वारा बेहोशी की अवस्थाएँ लाई जाती हैं और भूतों के दूसरे कार्यों की व्यवस्था की जाती है। जो वृद्ध इस विद्या में निपुण होते हैं, वे अपने उत्तराधिकारियों को इसकी शिक्षा देते हैं। प्रत्येक शमन की एक अथवा एक से अधिक परिचित् भूतात्माएँ होती हैं, जिनका वह अपने ऊपर आवेश करा सकता है अर्थात् जिन्हें वह अपने ऊपर बुला सकता है और जिनके श्रेष्ठ ज्ञान तथा शक्ति से लाभ उठा सकता है। इस प्रकार वह भविष्य की बातें बतला सकता है, दूर दूर के स्थानों पर होनेवाली घटनाओं का वर्णन कर सकता है, गुप्त रहस्यों का पता लगा सकता है, चोरों को पकड सकता है और किसी भविष्यवक्ता या सन्त-महात्मा के पास जाकर लोग जितने प्रकार के प्रश्न करते हैं, उन सब के वह उत्तर दे सकता है। उसमें एक और योग्यता यह होती है कि वह जानता है कि किन किन बातों से भूतात्माएँ या देवता आदि प्रसन्न होते हैं; और इसी लिए वह प्रायः लोगों को यह भी बतलाया करता है कि उन भूतात्माओं या देवताओं की किस प्रकार पूजा करके उन्हें प्रसन्न करना चाहिए अथवा किस प्रकार के प्रायश्चित्त करने चाहिएँ; और इस प्रकार वह एक पुरोहित के भी सब काम करता है। मनुष्य पर जितने प्रकार के कष्ट या विपत्तियां आती हैं, उनके सम्बन्ध में यही माना जाता है कि वे सब दुष्ट आत्माओं की दुष्टता के

कारण ही आती हैं। और इसी लिए शमन का यह काम होता है कि वह इस बात का पता लगावे कि अमुक विपत्ति किस भूतात्मा के उपद्रव के कारण आई है और उसे भगाने या दूर करने का क्या उपाय है। लोग यह मानते हैं कि रोग भी कोई भूतात्मा ही है जो मनुष्य के शरीर में प्रवेश कर गई है; और जिस तरह हो सके, उसे शरीर के बाहर निकाल देना चाहिए। इस क्रिया में प्रायः शमन और उस रोगी का द्वन्द्व युद्ध होता है, बल्कि यों कहना चाहिए कि शमन जिस भूत को अपने ऊपर बुलाता है, उसका उस भूत के साथ युद्ध होता है जो रोगी के शरीर में आकर घुसा रहता है। इस द्वन्द्व युद्ध में रोगी के शरीर में आया हुआ भूत हारकर भाग जाता है। झाड-फूंक के जो अनेक प्रकार बहुत दूर दूर के देशों में प्रचलित हैं, उनमें से बहुत पुराने और आदिम काल के प्रकारों में से यह भी एक प्रकार है। रोग के भूतों को शरीर से निकाल भगाने के लिए इस प्रकार की झाड–फूँक सम्बन्धी जो क्रियाएँ की जाती हैं, उनके साथ ही साथ कुछ ऐसी जडी-बूटियों का भी प्रयोग किया जाता है जो वमनकारक या रेचक होती हैं। इसके सिवा कई तरह की धूनियाँ दी जाती हैं और कुछ दूसरे उपचार होते हैं। और वास्तव में इन सब बातों का वही औषधोपचारवाला फल या प्रभाव होता है। झाड-फूँक के साथ इस तरह के उपचार भी सदा और आवश्यक रूप से ही होते हैं; और इसी लिए शमन साधारण औषधोपचार द्वारा चिकित्सा करनेवालों का पूर्व रूप भी हैं। अर्थात् शमन विद्या के इसी अंग ने आगे चलकर और विकसित होकर चिकित्सा शास्त्र का रूप धारण किया था।

जिस आदमी में यह शक्ति हो कि वह भूताविष्ट लोगों के शरीरों में से भूत-प्रेतों को निकाल बाहर कर सके, उसमें साथ ही उस शक्ति का होना ही आवश्यक और स्वाभाविक ही है, जिसके द्वारा वह किसी

भूत-प्रेत का दूसरे लोगों के शरीर में प्रवेश करा सकता हो और उन्हें बीमार या पागल कर सकता हो। और जादू-टोने में इस तरह की बातें बहुत ही मामूली हैं और रोज हुआ करती हैं। इस प्रकार शमन कई तरह के काम करता है। परन्तु आगे चलकर ज्यों ज्यों सभ्यता बढती जाती हैं, त्यों त्यों उसके ये सब काम एक एक स्वतन्त्र रूप धारण करके लगते हैं; और यह इस बात का एक और प्रमाण है कि इस प्रकार के कृत्य और उपचार, जिन्हें लोग शमन विद्या कहते हैं, बहुत ही प्राचीन काल से और कदाचित् बहुत कुछ आदिम काल से ही चले आ रहे हैं।

एक और प्रकार से भी लोग भूत-प्रेतों को अपने वश में करते हैं और उनसे तरह तरह के काम निकालते हैं। वह प्रकार यह है कि भूत-प्रेत किसी ऐसी चीज में स्थापित या बन्द कर दिये जाते हैं जो साधारणतः सहज में एक स्थान से उठाकर दूसरे स्थान पर ले जाई जा सकती है। जिस समय पुर्त्तगाली जहाजी और व्यापारी पहले-पहल अफ्रिका के पश्चिम समुद्र तट पर पहुँचे थे, उस समय उन लोगों ने देखा था कि वहाँ के निवासी अपने अंगों में ऐसी कौडियाँ, घोंघे या सींग के टुकडे आदि लटकाये रहते हैं, जिनका मुँह बन्द किया हुआ होता है। स्वयं पुर्त्तगाली लोग भी कई तरह की तावीजें पहना करते थे, जो उनके विश्वास के अनुसार अनेक प्रकार की विपत्तियों से उनकी रक्षा करती थीं और सुख-सौभाग्य देनेवाली होती थीं। अतः अफ्रिका के उन हब्शियों के गलों या बाँहों आदि में लटकनेवाली उन सब चीजों को देखकर उन लोगों ने स्वभावतः यही समझा था कि ये सब हमारी ही तावीजों की तरह की तावीजें हैं; और उनका यह समझना ठीक भी था। वे अपनी तावीजों को फेटिसो (Feitico) कहते थे और इसी से युरोपिअन भाषाओं में (Feitiche) और (Fetish) आदि शब्द प्रचलित हुए हैं जो हब्शियों की इसी प्रकार की तावीजों आदि के सूचक होते हैं।

प्रेसिडेन्ट डी ब्रोसेस (de Brosses) ने अपने एक ग्रन्थ के द्वारा युरोपवालों को इस कृत्य या उपचार का परिचय कराया था और इसके नाम का प्रचार किया था; और उनका यह ग्रन्थ धर्मों के अध्ययन के सम्बन्ध में एक प्रकार से युग-प्रवर्तक ही समझा जाता है। डी ब्रोसेस ने इस शब्द (fetish) का प्रयोग का बहुत अधिक विस्तृत अर्थ में करना आरम्भ किया था। इससे उन वस्तुओं का तो अर्थ लिया ही जाता था, जिनमें लोग समझते थे कि कोई भूत-प्रेत बन्द करके रख दिया गया है; पर प्राचीन मिस्र-वासियों की पवित्र पशुओं की पूजा भी इसी के अन्तर्गत मानी जाने लगी थी; और इसका कारण कदाचित् यह था कि मिस्रवाले अपने पवित्र पशुओं में भी किसी भूतात्मा, देवता या इसी प्रकार की और किसी शक्ति का निवास मानते थे। डी ब्रोसेस के बाद लेखकों ने इस शब्द का और भी विस्तृत अर्थ में प्रयोग करना आरम्भ कर दिया था; और निर्जीव पदार्थों की पूजा या उपासना भी इसी के अन्तर्गत रखी थी; और कुछ लोगों ने तो आकाशस्थ पिंडों की पूजा के लिए भी इसी शब्द का प्रयोग किया है। इस प्रकार के अर्थ विस्तार के कारण इस शब्द का विशिष्ट अर्थ प्रायः नष्ट सा हो गया है; और यह शब्द निम्नतम कोटि के म्लेच्छ धर्म या काफिरों के धर्मों के सम्बन्ध में उपेक्षा या तिरस्कारपूर्वक प्रयुक्त होने लगा है; और दार्शनिक काम्टे (Comete) ने इसका प्रयोग इसी अर्थ में किया है।

हब्शियों की तावीजें कई तरह की होती हैं। उनमें विलक्षण चिह्नों-वाले बिल्लौर सरीखे कुछ प्राकृतिक पदार्थ भी होते हैं; और उनका यह विश्वास है कि इन्हें पास रखने से मनुष्य कुछ विशिष्ट संकटों से रक्षित रहता है और कुछ विशिष्ट कार्यों में उसे निश्चित रूप से सफलता प्राप्त होती है। इस बात में बहुत ही कम सन्देह हो सकता है कि इस प्रकार

की वस्तुओं का प्रयोग और उनके फलप्रद होने का विश्वास बहुत पुराना है और उस समय से बहुत पहले का है, जिस समय से लोग इनमें भूतात्माओं आदि का निवास मानने लगे थे। इसके बाद की अवस्था में तावीजों के रूप में प्राकृतिक पदार्थों का उपयोग तो होता ही रहता है, पर साथ ही हाथ से बनाई हुई चीजें भी तावीजों का काम देने लगती हैं। कुछ दिनों में अधिकांश में उन्हीं का प्रचार हो जाता है; और कुछ ऐसे विशेषज्ञ और गुणी लोग निकलने लगते हैं जो खास खास कामों के लिए खास खास तरह की तावीजें वगैरेह बनाने लगते हैं। पश्चिमी अफ्रिका में प्रायः घोंघे अथवा हिरन के सींग की नोक का तावीजों के रूप में व्यवहार होता है और उनके अन्दर अनेक पदार्थों का ऐसा मिश्रण भरा रहता है जो कुछ विशिष्ट प्रकार से मिश्रित किया जाता हैं। इनमें मिलाई जानेवाली कुछ चीजें तो उन सिद्धान्तों के अनुसार चुनी जाती हैं जो सहचारी तन्त्र-प्रयोग (Sympathetic Magic) से सम्बन्ध रखते हैं। उदाहरण के लिए जब पहननेवाले में साहस उत्पन्न करना होता है, तब उसकी तावीज में तेन्दुए या चीते का नाखून या बाल भर दिये जाते हैं; यदि उसे धूर्त बनाना होता है तो उसकी तावीज में किसी मृत पुरुष के मस्तिष्क का कुछ अंश भर देते हैं; और यदि उसे सूक्ष्म दृष्टि या दिव्य दृष्टि प्रदान करनी होती है तो उसकी तावीज में किसी की आँख का गोलक भर देते हैं*। इस काम के लिए गोरे आदमी की आँख का गोलक और भी अच्छा समझा जाता है। इसी प्रकार और भी बहुत सी चीजें ली जाती हैं। पर

---

* भारतवर्ष में तो कहीं कहीं इस प्रकार के प्रयोग केवल नाम के साम्य के कारण ही किये जाते हैं। उदाहरणार्थ जब किसी को उन्निद्र रोग होता है, या और किसी कारण से नींद नहीं आती, तो उसके सिरहाने "सोया" नामक साग रख दिया जाता है और यह माना जाता है कि इससे आदमी सो जाता है!—अनुवादक।

हम लोगों की कल्पना बहुत अधिक कूट तर्क-पूर्ण होती है और इसी लिए हम लोग सहज में यह नहीं समझ सकते कि अमुक काम के लिए अमुक वस्तु तावीज में रखने के लिए क्यों चुनी गई है। किसी को द्रवित करने के लिए मुरगी की बीठ तावीज में भरी जाती है; और अलग अलग भूतात्मा के लिए उसके साथ साथ कई तरह की अलग अलग चीजें मिलाई जाती हैं। जैसे किसी के साथ जड़ी-बूटियों की और किसी के साथ हड्डियों की राख मिलाई जाती है और किसी में कई तरह के गोंद या इसी तरह की और भी बहुत सी चीजें मिलाई जाती हैं।

जब तावीज बनानेवाला ये सब चीजें बना लेता है, तब उन्हें घोंघे या सींग में भर देता है और साथ ही उसमें किसी भूत-प्रेत को भी बैठा देता है और तब तारकोल से उसका मुँह अच्छी तरह बन्द कर देता है। इस प्रकार की तावीजें या उनमें भरी हुई भूतात्माएँ प्राय: अपने अपने संकुचित क्षेत्र में ही काम कर सकती हैं और उनसे कुछ खास काम ही पूरे होते हैं; इसलिए जो लोग धनवान् होते हैं, वे इस तरह की बहुत सी तावीजें अपने पास रखते हैं। उनमें से कोई तावीज अगर एक रोग से बचानेवाली होती है तो दूसरी तावीज किसी दूसरे रोग से उनकी रक्षा करती है। कोई तावीज उन पर बुरी नजर का असर नहीं होने देती तो कोई जंगली जनावरों से उनकी रक्षा करती है अथवा शिकार में उन्हें सफलता प्राप्त कराती है; और किसी की सहायता से वह प्रेम-क्षेत्र में विजयी होते हैं। तात्पर्य यह कि इसी प्रकार के अलग अलग कामों के लिये अलग अलग तावीजें हुआ करती हैं जिनकी संख्या का कोई अन्त नहीं है। इसके सिवा कुछ तावीजें और भी कम प्रशंसनीय उद्देश्यों से बनाई जाती हैं; जैसे किसी को अपने वश में करने की तावीजें भी होती है। जिसे वश में करना होता है, उसका बाल, नाखून या थूक आदि लेकर घोंघे या सींग में भरकर पहन लेते हैं। इस काम के लिए सबसे अच्छा

उस आदमी के खून का कतरा समझा जाता है। और जिसे वश में करना होता है उसकी इन सब चीजों में से अगर कोई चीज भी न मिले, तो फिर उस आदमी के खाली नाम से भी काम चल जाता है।

तावीजें बहुत ही यत्न और आदरपूर्वक रखी जाती हैं, क्योंकि डर रहता है कि यदि उनकी उचित रक्षा या आदर न किया जायगा तो उनके अन्दर जो भूतात्मा बन्द है, वह असंतुष्ट या अप्रसन्न हो जायगी। तावीजें पहननेवाला उनसे बातें भी करता है, मीठी मीठी बातें कहके उन्हें अपने अनुकूल बनाये रखने का प्रयत्न करता है और उनसे कहता रहता है कि हम क्या चाहते हैं और क्या आशा रखते हैं। यदि कोई तावीज अपना ठीक ठीक काम नहीं करती तो वह उसकी भर्त्सना भी करता है; और यदि बहुत दिनों तक प्रतीक्षा करने पर भी उसकी आशा पूरी नहीं होती तो अन्त में वह निराश होकर उसे फेंक भी देता है। या यदि इस बीच में उसे अद्‌भुत वस्तुएँ संग्रह करनेवाला कोई अच्छा युरोपियन ग्राहक मिल जाता है तो वह उसके हाथ बेच भी डालता है। जब कोई तावीज ठीक तरह से अपना प्रभाव नहीं दिखलाती, तब उसका बनानेवाला प्रायः कह दिया करता है कि इसमें जिस भूतात्मा को मैंने बन्द करके रखा था, वह किसी तरह इसमें से निकलकर भाग गई है। अथवा वह कह देता है कि तुम्हारे किसी शत्रु या अशुभ-चिंतक ने कहीं से इससे भी अधिक शक्ति रखनेवाली कोई तावीज पा ली है जिससे यह तावीज अपना काम नहीं करने पाती। और उस दशा में वह यह भी कह सकता है कि अब यदि तुम मुझे इतना धन और दो तो मैं तुम्हारे लिए इससे भी कहीं अधिक शक्ति रखनेवाली एक और तावीज तैयार कर सकता हूँ।

अलग अलग व्यक्तियों के लिए और अलग अलग कामों के लिए जो तावीजें होती हैं, उनके अतिरिक्त कुछ ऐसी तावीजें भी होती हैं जो सारे

समाज की होती हैं; और इनके सम्बन्ध में लोगों का यह विश्वास रहता है कि इनसे सारे समाज के सार्वजनिक हितों की रक्षा होती है। प्रायः गाँवों आदि के चारों तरफ लट्ठों का एक बाड़ा सा बना होता है और इस प्रकार की तावीज उसी बाड़े के किसी लट्ठे पर लटका दी जाती है और यह समझा जाता है कि इसके कारण बाहरी आदमी या भूत-प्रेत आदि हमारे गाँव या समाज पर आक्रमण न कर सकेंगे। गाँव के बाड़े में आने का जो रास्ता होता है, कभी कभी उस रास्ते पर प्रवेश-द्वार के पास ही एक छोटी सी झोंपडी बनाकर उसमें भी इस तरह की तावीज रख दी जाती है। उस तावीज से समय समय पर यह तो कहा ही जाता है कि गाँव के सब निवासी तावीज से क्या क्या चाहते और क्या क्या आशाएँ रखते हैं, पर साथ ही उसके सामने केले, मछली या मुरगी आदि की भेंट भी चढ़ाई जाती है। और हम कह सकते हैं कि यहीं से पूजा–प्रणाली का आरम्भ होने लगता है। हर एक गाँव में जो अलग अलग संरक्षक ग्राम-देवता होते हैं, उनका आरम्भ तथा विकास इसी प्रकार होता है।

गाँव या फिरके की रक्षा करनेवाली भूतात्मा का सूचक एक छोटा आयत या लम्बोतरा पत्थर का टुकड़ा होता है जो यों ही अथवा लकड़ी के एक ऐसे खम्भे पर खड़ा कर दिया जाता है, जिसकी आकृति कदाचित् मनुष्य की आकृति से कुछ मिलती-जुलती होती है। उस लकड़ी पर जब आदमी अपने हाथों से कुछ और काम कर देता है, अर्थात् रंगीन मिट्टी से आँखों, नाक और मुँह की कुछ मोटी सी रूप-रेखा बना देता है, तब वह देखने में मनुष्य की एक भद्दी सी आकृति जान पड़ती है। उसी से वह तावीज बदलते बदलते वह रूप धारण कर लेती है जिसे लोग "मूर्ति" कहते हैं। परन्तु इस समय हम धर्म की जिस अवस्था का विवेचन कर रहे हैं, उसकी अपेक्षा धर्म जब बहुत अधिक उन्नत हो जाता है, तब वास्तव में

कहीं जाकर मूर्ति-पूजा का वह रूप प्रचलित होता है, जो आज कल बहुत से देशों में पाया जाता है।

तावीजें बनाने का काम वही आदमी कर सकता है जो भूत-प्रेतों पर अधिकार रखता हो; और इस प्रकार का अधिकार या नियन्त्रण अपनी किसी परिचित भूतात्मा के द्वारा ही रखा जा सकता है: इसलिए शमन और तावीजें बनानेवाले प्रायः एक ही होते हैं। अर्थात् जो शमन होता है, वही तावीजें बनाता है; और जो तावीजें बनाता है, वही शमन होता है।

जैसा कि हम ऊपर बतला चुके हैं, पशुओं में भी उसी प्रकार की आत्माओं का अस्तित्व माना जाता है, जिस प्रकार की आत्माओं का अस्तित्व मनुष्यों में माना जाता है। दोनों में अन्तर केवल उनके रूप और आकार आदि का होता है। पशुओं आदि के सम्बन्ध में गाँव-देहातों में जो अनेक प्रकार की कहानियाँ प्रचलित होती हैं, अथवा आज-कल की प्रकृति सम्बन्धी अर्थात् पशु-पक्षियों आदि की जो कहानियाँ बालकों के लिए लिखी जाती हैं, उनमें पशुओं की जिस प्रकार की आत्मा वर्णित होती है, ठीक उसी प्रकार की आत्मा जंगली लोग भी पशु-पक्षियों आदि में मानते हैं। मनुष्य समझता है कि जिस प्रकार मुझमें संवेदन और विचार या उद्देश आदि होते हैं, उसी प्रकार वे पशुओं आदि में भी होते हैं। वह जानता है कि उनमें भी समझ होती है और स्वयं अपने अनुभव से उसे पता चलता है कि पशुओं आदि में हम लोगों से भी अधिक समझ होती है और अनेक अवसरों पर वे समझदारी में हमसे बढ़े-चढ़े दिखाई देते हैं। कुछ जानवर मनुष्यों की अपेक्षा अधिक बलवान होते हैं, कुछ अधिक तेज होते हैं और कुछ अधिक चालाक होते हैं। ऐसी अवस्था में यदि मनुष्य तावीजों आदि की सहायता से उनसे अपनी रक्षा करने का प्रयत्न करता हो अथवा उन्हें अपने अधिकार में रखना चाहता हो, तो यह कोई आश्चर्य

की बात नहीं है। यही नहीं, बल्कि वह कुछ और भी अधिक प्रत्यक्ष उपायों से उनका शत्रु भाव कम करने और उन्हें अपने मित्र बनाने का भी प्रयत्न करता है। कुछ विशिष्ट प्रकार के पशु और विशेषतः सरीसृप या रेंगकर चलनेवाले जन्तु मनुष्यों को विशेष रूप से भयंकर जान पड़ते हैं। ऐसे जीवों में भी वह आत्मा का निवास तो मानता ही है, पर उनकी भीषणता के कारण वह समझता है कि इनमें कुछ विशेष प्रकार की दुष्ट और भीषण भूतात्माओं का निवास है। जिन जीवों को खाकर इस प्रकार के प्राणी अपना पेट भरते हैं, उनकी संख्या बढ़ाने के लिए मनुष्यों ने बहुत ही आरम्भिक काल में कुछ न कुछ उपाय अवश्य ही किये होंगे; और साथ ही उनके शारीरिक आक्रमणों से बचने के लिए जो उपाय किये होंगे, उनके सिवा उनमें निवास करनेवाली भीषण भूतात्माओं सेभी बचने के लिए कुछ उपाय अवश्य किये होंगे। बस इसी प्रकार जब कोई ऐसा कृत्य आरम्भ होता है जो पूजा सम्बन्धी कृत्यों से मिलता-जुलता हुआ होता है, तब पशुओं को भी उनका अंश प्राप्त होने लगता है। अर्थात् इसी से धीरे धीरे पशु-पूजा आरम्भ हो जाती है।

संसार के बहुत से देशों में ऐसे मनुष्य-समुदाय मिलते हैं जो अपने नाम का परिचय इसी प्रकार के कुछ अधिक परिचित जीवों के नाम से देते हैं; और प्रायः यही समझते हैं कि उस प्रकार के पशुओं के साथ हमारा किसी तरह का संबंध है। उदाहरण के लिए हमारे प्राचीन भारत के नाग लोग हैं जो अपने आपको नाग या सर्प का वंशज बतलाते थे। कभी कभी इस प्रकार के लोग कोई ऐसी पौराणिक कथा भी सुनाते हैं जिससे यह सूचित होता है कि उनके कोई आदिम पूर्वज उसी जाति के किसी पशु की सन्तान थे। इस प्रकार की बातों पर और उनके साथ पाये जानेवाले सामाजिक संघटन पर और विशेषतः उनके इस नियम पर कि ऐसे समुदाय के आदमी को स्वयं अपने ही समुदाय में विवाह-सम्बन्ध

नहीं करना चाहिए, इधर हाल में बहुत कुछ विचार और विवेचन किया गया है। अंग्रेजी में इसके लिए Totemism शब्द का व्यवहार होता हैं। हिन्दी में किसी उपयुक्त शब्द के अभाव के कारण हम इसके लिए "टोटम वाद" शब्द का ही प्रयोग करेंगे। इसका मुख्य अभिप्राय यही है कि कुछ लोग किसी विशिष्ट पशु–पक्षी या वृक्ष आदि को अपने समुदाय का सूचक चिह्न मान लेते हैं, उसे बहुत पूज्य समझते हैं और कहते हैं कि इस वस्तु या जीव के साथ हमारे पूर्वजों का अदृश्य, पर घनिष्ठ सम्बन्ध था अथवा उनकी उत्पत्ति ही इससे हुई थी। बस इसी आधार पर पाश्चात्य विद्वानों ने आदिम काल की सभ्यता और धर्म के सम्बन्ध में कई बड़े बड़े सिद्धान्त बना डाले हैं। अमेरिका में रहनेवाले जिन इंडियन लोगों की भाषाओं से यह टोटम (Totem) शब्द लिया गया है, उनमें भी और आस्ट्रेलिया के आदिम निवासियोंमें भी ऐसी बहुत अधिक बातें पाई गई हैं जिन्हें देखकर इस सम्बन्ध के बहुत से सिद्धान्त स्थिर किये गये हैं।

यह ठीक है कि बहुत सी जातियों के नाम पशुओं के नामों पर रखे हुए मिलते हैं और बहुत से स्थानों पर कुछ विशिष्ट पशुओं की समस्त जाति की पूजा होती है और वे बहुत पवित्र माने जाते हैं। परन्तु उन सभी अवस्थाओं में केवल यही नहीं कहा जा सकता है कि उन जातियों तथा उन पशुओं में वही सम्बन्ध होता है जो ऊपर बतलाया गया है और जो टोटम कहलाता है। पशुओं और मनुष्य-समुदयों में इस प्रकार के सम्बन्ध स्थापित होने के और भी बहुत से कारण बतलाये जा सकते हैं: और इसलिए यह कहना ठीक नहीं है कि जहाँ कहीं पशुओं और मनुष्यों में इस प्रकार का सम्बन्ध पाया जाय, वहाँ हमें यही मान लेना चाहिए कि इसका सम्बन्ध टोटमवाद (Totemism) से ही है अथवा इसे टोटमवाद के अन्तर्गत ही मानना चाहिए। प्रायः ऐसा होता है कि किसी विशिष्ट गोत्र या फिरके के लोग अपने आपको किसी विशिष्ट

पशु-जाति से सम्बद्ध और उसके वंशज बतलाते हैं; अथवा यह कहते हैं कि हमारे वंश का मूल पुरुष अमुक पशु-जाति का एक पौराणिक पशु था। और ये बातें वे लोग प्रायः उस समय कहते हैं, जब कोई युरोपियन अन्वेषक उनसे इस सम्बन्ध में प्रश्न करता है। परन्तु जो लोग यह जानते हैं कि पौराणिक कथाओं की सृष्टि किस प्रकार होती है, वे यदि यह कहें कि-" जिस प्रकार किसी जाति के लोगों का यह विश्वास मिथ्या और कल्पित है कि हमारे पुरुष सचमुच इसी प्रकार के कोई पशु थे, उसी प्रकार उनका यह कहना भी मिथ्या और कल्पित है कि हमारे गोत्र या जाति का नाम अमुक कारण से पशु के नाम पर पडा है अथवा हम लोग अमुक कारण से इस जीवों का चिह्न धारण करते हैं।" तो हमें यही उचित है कि पौराणिक कथाओं के मूल की जानकारी रखनेवाले ऐसे लोगों को हम उक्त प्रकार की बातें कहने के लिए क्षम्य समझें और उन्हें किसी प्रकार दोषी न ठहरावें। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार किसी के इस विश्वास का कोई मूल्य नहीं है कि हम अमुक पशु के वंशज हैं, उसी प्रकार उस कैफियत का भी कोई मूल्य नहीं है, जो वह अपने गोत्र या जाति के इस प्रकार के नाम-करण के सम्बन्ध में देता है।

टोटेम विद्या (Totemism) की बहुत सी व्याख्याएँ हैं, परन्तु उनमें से एक भी व्याख्या ऐसी नहीं है जिसके अनुसार हम यह कह सकें कि वह आज-कल के जंगलियों में सामान्य रूप से प्रचलित है; और यह बात भी स्पष्ट रूप से जान पडती है कि वह आदिम काल की भी नहीं है। इसके आधार पर बहुत से लोगों ने अपने बुद्धि-कौशल से अनेक आनुमानिक सिद्धान्त स्थिर किये हैं, परन्तु उन पर हम यहाँ विशेष विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं समझते।

आदिम काल के लोग जो जो काम करते थे, उनके आधार पर हमने

यही अनुमान किया है कि आरम्भिक अवस्था में ही वे शक्तियों के आक्रमण से उन कृत्यों द्वारा अपना बचाव करने का प्रयत्न करते थे और वे कृत्य जीव-देह-पार्थक्य-वादवाली उस अवस्था में भी हुआ करते थे, जब कि लोग शक्तियों और पदार्थों में भी अलग अलग भूतात्माओं का निवास मानते थे। उस समय उन लोगों का यह विश्वास था कि इस प्रकार के कृत्यों से मनुष्यों को हानि पहुँचानेवाली भूतात्माएँ दूर रहती हैं; और इसके साथ ही जिन कृत्यों के सम्बन्ध में लोगों का यह अनुमान था कि इनके द्वारा प्राकृतिक शक्तियों से अपने अनुकूल काम कराये जा सकते हैं, उनके सम्बन्ध में अब लोगों का यह विश्वास हो गया था कि प्रकृति में जो भूतात्माएँ काम करती हैं, उन पर इन कृत्यों का प्रभाव पडता है। उदाहरण के लिए वे लोग समझते थे कि इन कृत्यों से पानी बरसाया जा सकता है और धान्य आदि की यथेष्ट वृद्धि की जा सकती है। भूतात्माओं के रूप में शक्तियों की जो कल्पना की गई थी, उसके परिणामों में से एक परिणाम, जैसा कि अभी ऊपर बतलाया जा चुका है, यह भी हुआ था कि लोग उन शक्तियों को मनुष्यों के और भी समान समझने लग गये थे। और आगे चलकर इसका परिणाम यह हुआ था कि भूतात्माओं को हानि पहुँचाने से केवल बलपूर्वक रोका ही नहीं जा सकता और उनसे अपनी इच्छा के अनुसार काम ही नहीं कराया जा सकता, बल्कि उनसे प्रार्थना आदि करके उन्हें इस प्रकार संतुष्ट भी किया जा सकता है कि वे मनुष्यों को हानि पहुँचाने का विचार ही न करें और हमें अनेक प्रकार के लाभ पहुँचावें। अर्थात् जिस प्रकार की परिस्थितियों में वे लोग जिस तरह मनुष्य को सन्तुष्ट कर लिया करते थे, उसी प्रकार वे समझने लगे थे कि प्राकृतिक शक्तियाँ भी सन्तुष्ट की जा सकती हैं। प्राकृतिक शक्तियों को हानिकारक काम करने से रोकने के लिए वे जो कृत्य करते थे, उनके साथ ही वे कुछ ऐसे कृत्य भी करते थे जिनका स्पष्ट रूप से यही अर्थ जान

पड़ता है कि वे भूतात्माओं को प्रसन्न करना चाहते थे; और यदि वे कुपित होती थीं तो उनका कोप दूर करके उन्हें शान्त करना चाहते थे अथवा उनके साथ मित्रता का भाव स्थापित करना चाहते थे; और उन्हें इस अनुकूल बनाना चाहते थे कि वे मनुष्यों की इच्छाओं के अनुसार ही काम करें।

प्राकृतिक शक्तियों के सम्बन्धमें इस इरादेसे लोक वही बातें या काम करते हैं जो किसी ऐसे बलवान् मनुष्य के सम्बन्ध में करते हैं जिनके कोप का फल वे भोग चुके होते हैं अथवा जिसकी मित्रतापूर्ण सहायता वे प्राप्त करना चाहते हैं। ऐसी अवस्थाओं में सभी देशों में लोग शक्तिशाली मनुष्यों को प्रसन्न करने के लिए उन्हें अनेक प्रकार के उपहार आदि देते हैं; और उपहार में दी जानेवाली वे वस्तुएँ ऐसी होती हैं जिनके सम्बन्ध में देनेवाला यह समझता है कि इन्हें वह बड़ा आदमी सबसे ज्यादा पसन्द करेगा और जो हम समय समय पर इसे दे सकेंगे। भूतात्माओं को भी वे लोग इसी प्रकार उपहार या भेंट आदि चढ़ाया करते थे, पर इसका कारण यह नहीं होता था कि वे शक्तिशाली पुरुषों और शक्तियों के व्यवहारों में उसी प्रकार सादृश्य स्थापित कर लेते थे, जिस प्रकार का सादृश्य अभी हमने उपर स्थापित किया है। बात यह है कि जब मनुष्य की समझ में यह आ जाता है कि अमुक शक्ति मुझसे बलवान् है, तब वह आप से आप उसे प्रसन्न करने के अनेक उपाय करता है; और उस समय वह स्वाभाविक रूप से ही कई प्रकार के कार्य करने लगता है। उस समय वह यह सोचने नहीं बैठता कि मनुष्य लोग इस प्रकार प्रसन्न होते हैं, अतः मैं शक्तियों को भी इसी प्रकार प्रसन्न करूँ। शक्तियों को भी और मनुष्यों को भी प्रसन्न करने के उपाय आप से आप और बिलकुल स्वतन्त्र रूप से सूझते हैं। इसके लिए मनुष्य को किसी प्रकार के सादृश्य या अनुकरण की आवश्यकता नहीं होती। बस यहीं से उन उपहारों और भेंटों आदि का आरम्भ होता है जिनका आगे चलकर धार्मिक क्षेत्र में बहुत

अधिक महत्व हो जाता है। भेंट चढाने की प्रथा यहीं से आरम्भ होकर बराबर बढती चलती है।

जब कोई मनुष्य किसी का क्रोध शान्त करने और उसे अपने अनुकूल करके उसकी कृपा सम्पादित करने के उद्देश्य से उसके पास कुछ उपहार या भेंट आदि लेकर आता है, तब स्वभावतः वह यही चाहता है कि जिस प्रकार हो, मेरी यह भेंट स्वीकृत हो जाय और मेरी प्रार्थना मान ली जाय। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए वह एक काम और करता है। जिसके पास वह उपहार या भेंट लेकर जाता है, उसकी महत्ता, शक्ति और उदारता आदि की वह खूब बढा-चढाकर प्रशंसा करता है। इस प्रकार प्रार्थना के साथ प्रशंसा भी सम्मिलित हो जाती हैं और प्रायः पहले के प्राप्त अनुग्रहों के लिए कृतज्ञता भी प्रकट की जाती है। बस यहीं से उन प्रार्थनाओं और स्तुतियों का आरम्भ होता है जो देवता आदि को भेंट चढाने के समय की जाती हैं। बहुत अधिक उन्नत और विकसित धर्मों में भी अपने आराध्य देव के आगे भेंट आदि चढाना नितान्त आवश्यक होता है। आरम्भिक काल के यहूदियों में भी भेंट चढाने का यह सिद्धान्त पूर्ण तथा स्पष्ट रूप से माना जाता था; क्योंकि एक स्थान पर उनके धर्म-ग्रन्थ में उनका ईश्वर कहता है —" कोई मेरा मुँह देखने के लिए मेरे पास खाली हाथ न आवे "। और इसका अभिप्राय यही है कि जहाँ ईश्वर की आराधना या उपासना होती हो, वहाँ किसी को अपने साथ विना भेंट लिये नहीं जाना चाहिए।

भूतात्माओं को प्रसन्न और अपने अनुकूल करने के लिये जिन उपायों का अवलम्बन किया जाता है, उन्हें हम स्पष्ट तथा विशेष रूप स धार्मिक समझते हैं; और समस्त परवर्ती इतिहास में जिन विचारों की प्रेरणा से इन उपायों का विकास होता तथा अस्तित्व बना रहता है, उन्हें

हम सहज में समझ सकते हैं। ऊपर हम उन उपायों का वर्णन कर चुके हैं जिनके द्वारा मनुष्य प्रत्यक्षरूपसे प्रकृति से अपने अनुकूल काम कराने का प्रयत्न करते हैं अथवा जिनके द्वारा वे भूतात्माओं की सहायता से प्राकृतिक शक्तियों को अपने अनुकूल बनाते हैं। इस प्रकार के उपायों के लिये साधारणतः यही कहा जाता है कि ये सब तान्त्रिक प्रयोग हैं। इस प्रकार हमारे सामने एक विवादास्पद प्रश्न आ खडा होता है; और वह प्रश्न यह है कि तन्त्र और धर्म में परस्पर क्या सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध में लोगों में जो वाद विवाद होते हैं, उनमें प्रायः यही होता है कि दोनों पक्षों में जल्दी किसी बात का निर्णय नहीं होता; और इसका कारण यह है कि वादी और प्रतिवादी जो कुछ कहते हैं, वह एक ही बात या चीज के बारे में नहीं कहते। एक पक्ष किसी एक चीज के सम्बन्ध में कुछ कहता है, तो दूसरा पक्ष किसी दूसरी चीज के बारे में अपनी राय जाहिर करता है। "धर्म" और "तन्त्र" दोनों ही ऐसे शब्द हैं जिनका लोग प्रायः बहुत तरह की बातों और कामों के लिये प्रयोग करते हैं। विशेषतः "तन्त्र" शब्द का प्रयोग बहुत से लोग अधिकांश अवसरों पर ऐसे धार्मिक कृत्यों के सम्बन्ध में करते हैं, जो उन की समझ में बुद्धि-संगत नहीं होते अथवा जो मिथ्या विश्वासों पर आश्रित होते हैं। "तन्त्र" शब्द की व्याख्या करना भी प्रायः उतना ही कठिन है, जितना कठिन "धर्म" शब्द की व्याख्या करना है; और इसी लिए हम यहाँ तन्त्र की व्याख्या करने का कोई प्रयत्न किये बिना ही यह बतला देना चाहते हैं कि ऊपर हमने जो ढंग बतलाया है, उसी की सहायता से हम सहज में और सुभीते से दोनों को एक दूसरे से पृथक् कर सकते हैं और यह बतला सकते हैं कि अमुक बातें "धर्म" के अन्तर्गत हैं और अमुक बातें "तन्त्र" के अन्तर्गत आती हैं। हम जब "तन्त्र" शब्द का प्रयोग करते हैं तब हमारे मन में केवल एक ही भाव रहता है। तन्त्रों से अभिप्राय उन्हीं उपायों का लिया जा सकता है जो मनुष्य अपने मन में यह विश्वास रखकर

करता है कि प्रकृति से अपने अनुकूल कार्य कराने में स्वयं हमारे ये उपाय ही सक्षम और समर्थ होते हैं; अथवा वह समझता है कि अपने इन उपायों की सहायता से हम भूतात्माओं को बलपूर्वक विवश करके उनसे अपने अनुकूल काम करा सकेंगे। और "धर्म" शब्द का हम केवल उन्हीं बातों के लिए व्यवहार करेंगे जो मनुष्य अनुनय-विनय के द्वारा भूतात्माओं और देवताओं को अपने अनुकूल बनाने के लिए करता है; और इस प्रकार वह यह चाहता है कि वे भूतात्माएँ या देवता आदि अपने भक्तों की रक्षा करें और उनकी मनोकामनाएँ पूरी करें।

यदि धर्म और तन्त्र के इस विभेद का सदा ठीक तरह से ध्यान रखा जाय, और इन दोनों के आरम्भ के सम्बन्ध में अनुमान के आधार पर जो सिद्धान्त स्थिर किये हैं, वे यदि ठीक हों तो हम यह कह सकते हैं कि मनुष्यों में धर्म सम्बन्धी विचारों और कार्यों का आरम्भ होने से पहले ही तन्त्र सम्बन्धी विचारों और कार्यों का आरम्भ हुआ था। धर्म का अविर्भाव उस समय हुआ था, जब कि लोगों के विचार जीव-देह-पार्थक्यवादवाली सीमा में पहुँच चुके थे और तान्त्रिक प्रयोग भली भाँति स्थापित और प्रचलित हो चुके थे। परन्तु जिस समय धार्मिक विचारों और कृत्यों का आरम्भ हुआ था, उस समय उन्होंने तान्त्रिक विचारों और कृत्यों को दबा नहीं दिया था, बल्कि दोनों बराबर साथ साथ चलते थे। और फिर ध्यान रखने योग्य एक बात यह भी है कि आज तक कभी कोई धर्म तान्त्रिक विचारों और प्रयोगों का समूल नाश करने में समर्थ नहीं हुआ है। दोनों का उद्देश्य एक ही है और वह उद्देश्य है आत्म-रक्षा। और दोनों ही उन शक्तियों पर प्रभाव डालकर अपना यह उद्देश्य सिद्ध करना चाहते हैं, जिन शक्तियों पर मनुष्यों का कल्याण निर्भर करता है। उच्च कोटि के धर्मों में भी अब तक अनेक ऐसे कृत्य दिखाई देते हैं, जो तान्त्रिक प्रयोगों के

अवशिष्ट रूप हैं और कभी कभी तो वे तान्त्रिक प्रयोगों के सांकेतिक रूपों में भी दिखाई पड़ते हैं। फिर इस सम्बन्ध में इससे भी अधिक महत्व की एक और बात है। बहुत से ऐसे कार्य होते हैं जो हमारी व्याख्या के अनुसार मूलत: शुद्ध रूप से धार्मिक थे और जिनका आरम्भ शुद्ध धर्मकी व्याख्या के अन्तर्गत आनेवाले विचारों और सिद्धान्तों के अनुसार हुआ था। परन्तु प्राय: वे कृत्य इतने अधिक प्रभावशाली और अवश्य फल देनेवाले माने जाते हैं कि अनुनय-विनय या स्तुतियोंवाला अंश बिलकुल दब जाता है, और यदि सब लोगों का नहीं तो कम से गँवारों का तो अवश्य ही यह विश्वास हो जाता है कि यदि ये कृत्य ठीक तरह से किये जायँगे तो इनके करने मात्र से ही अभीष्ट फल की सिद्धि हो जायगी। और इसका अभिप्राय यह निकलता है कि धर्म-क्षेत्र के अनेक कृत्य भी कभी कभी उन्हीं कृत्यों में आकर सम्मिलित हो जाते हैं, जिन्हें हम अभी अपनी व्याख्या के अनुसार तान्त्रिक ठहरा चुके हैं।

तीसरा प्रकरण
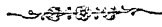
देवताओंका आविर्भाव

पहले एक प्रसंग में यह बतलाया जा चुका है कि अपने समस्त विकास में धर्म का स्वरूप मुख्यत; दो बातों से निश्चित होता है। पहली बात तो यह है कि मनुष्यों की समझ में जिन शक्तियों पर उन का कल्याण निर्भर करता है, उन शक्तियों से वे क्या प्राप्त करना चाहते हैं; और दूसरी बात यह है कि उन शक्तियों के स्वरूप या प्रकृति आदि सम्बन्ध में वे क्या समझते हैं; और इन दोनों बातों में पहली बात प्रमुख है और धर्म का

स्वरूप पहले-पहल उसी से निश्चित होना आरम्भ होता है। यही बात दूसरे शब्दों में इस प्रकार कही जा सकती है कि मनुष्य की सभ्यता सम्बन्धी समस्त उन्नति की भाँति उसके धर्म की उन्नति भी उसकी बढती हुई आवश्यकताओं का ही परिणाम होती है। और साधारणतः सभ्यता मात्र की उन्नति और धर्म की उन्नति केवल साथ ही साथ नहीं होती, बल्कि दोनों की उन्नतियों में परस्पर इतना घनिष्ठ सम्बन्ध होता है कि हर एक की प्रत्येक बात का प्रभाव सदा दूसरे पर पड़ता चलता है। बस इसी प्रकार भूतात्माओं के बहुत बडे दल में से कुछ भूतात्माएं बाकी सब भूतात्माओं की अपेक्षा बहुत कुछ ऊपर उठ आती हैं और वह रूप प्राप्त कर लेती हैं, जिस रूप में हम लोग उन्हें देवता कहते हैं। इसी प्रकार प्राकृतिक रूप से वहु देववाद का विकास होता है, और अब हम इसी विकास का कुछ विवेचन करना चाहते हैं।

जब मनुष्य जंगली अवस्था में रहता है, तब उसकी परिस्थितियां ऐसी होती हैं जिन में वह अपनी सहज तथा नितान्त प्रयोजनीय आवश्यकताओं की पूर्ति करने में अपने आपको समर्थ पाता है। उस समय शक्तियों के साथ मुख्यतः उसका यही सम्बन्ध होता है कि एक अज्ञात क्षेत्र से जो आपत्तियां और संकट आदि उस पर आ पडते हैं, उन से उद्धार पाने के लिये उसे आत्म-रक्षा करनी पडती है और उसे उन पशुओं तथा पौधों आदि की वृद्धि करनी पडती है जिनसे उसे खाने-पीने की चीजें मिलती हैं। जीवन-निर्वाह के मार्ग में वह ज्यों ज्यों आगे बढता जाता है, त्यों त्यों उसे ऋतु सम्बन्धी प्रभावों पर और भी अधिक निर्भर करना पडता है। जब वह पशुओं को पालने लगता है, तब उसे एक प्रकार से इस बात का निश्चय सा हो जाता है कि मुझे अपनी गौओं और भैंसों से दूध-दही आदि और भेड-बकरियों से मांस आदि यथेष्ट मात्रा में मिलता रहेगा। परन्तु यदि ठीक समय पर काफी पानी न बरसे तो

पशु-पालन करनेवाले लोगों को जितनी अधिक भीषण विपत्तियों का सामना करना पडता है, उतनी अधिक भीषण विपत्तियों का सामना उन जंगलियों को नहीं करना पडता, जो शिकार करके या मछलियां मारकर अपना पेट भरते हैं। इसी लिए लोग बार बार आनेवाली ऋतुओं का और भी अच्छी तरह ध्यान रखने लगते हैं और उन ऋतुओं का कुछ विशिष्ट तारों तथा नक्षत्रों के उदय और स्थिति आदि से सम्बन्ध में उनका विश्वास होता है कि यही अपने साथ वर्षा लाते हैं। एक स्वयं आकाश ही होता है जिसमें तारों और नक्षत्रों आदि का उदय होता है; और दूसरे वह सूर्य होता है जिससे जीवन दान देनेवाली गरमी निकलकर वनस्पतियों आदि को फूलने-फलने में प्रवृत्त करती है अथवा जिसकी भीषण तपन चरागाहों को जला डालती है और जलाशयों को सुखा देती है। अर्थात् ये सब शक्तियां ऐसी होती हैं जो उन्हें सम्पन्न और सुखी भी बना सकती हैं और उजाड़ भी सकती हैं। ऐसी अवस्था में यदि एशिया के बडे बडे प्रान्तरों में बसनेवाले दल बहुत आरम्भिक काल में ही स्वयं आकाश को ही सबसे बडा देवता मानने लग गये थे तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। और फिर यह बात भी निस्सन्देह है कि वे लोग इसलिए भी आकाश को सब से बड़ा देवता मानते थे कि वे जब एक स्थान छोड कर बहुत दूर के किसी दूसरे स्थान पर जा बसते थे, तब भी वह आकाश और आकाशस्थ पिंड ही सदा और सब जगह उनका साथ देते थे; और जिन देवताओं का निवास-स्थान इस पृथ्वीपर होता था, वे सब पीछे छूट जाते थे।

कदाचित् इस प्रकार हमें इस बात का पता लग जाता है कि मंगोल लोग आकाश को ही क्यों सबसे बडा देवता मानते थे और नितान्त आरम्भिक काल में ही चीनियों की देव कोटि में आकाश को ही क्यों सबसे ऊंचा और अनुपम पद दिया गया था। आरम्भिक काल के आर्य लोग

जिन प्रदेशों में बसते थे, उन प्रदेशों में भी आकाश तथा उसमें प्रकट होनेवाली प्राकृतिक शक्तियों की उपासना होती थी और यह उपासना आर्य धर्म में सब जगह समान रूप से पाई जाती है। उसकी इतिहास-पूर्व काल की पुरानी अवस्था के सम्बन्ध में भी यही निगमन निकाला जा सकता है। पर जान पडता है कि दूसरे स्थानों में आकाशस्थ पिंडों की उपासना या पूजा उस समय आरम्भ हुईथी, जिस समय वहाँ के निवासी खेती-बारी करने लगे थे।

इसके सिवा कुछ और प्रकार की भी परिस्थितियाँ होती थीं जिनमें खाना बदोश फिरके शाद्वल आदि स्थानों में रहा करते थे अथवा कुछ संकुचित क्षेत्रों के अन्दर रहकर थोडी थोडी दूरी पर के एक चरागाह से हट-कर दूसरे चरागाह में चले जाते थे और इस प्रकार थोडी सी सीमा के अन्दर ही हटते बढते रहते थे। ऐसी परिस्थितियों में मनुष्यों को केवल उन्हीं स्थानिक शक्तियों पर निर्भर करना पडता था जिनसे उनको अपने पशुओं के लिये चारा पानी मिला करता था। जिस अवस्था में जीव-देह-पार्थक्य-वाला सिद्धांत माना जाता था, उस अवस्था में लोग ऐसे स्थानों को "भूतात्माओं के रहने अथवा बराबर आते-जाते रहने का स्थान" मानने लगे थे और दूर दूर से आकर लोग ऐसे स्थानों पर भेट आदि चढाते थे और अपनी अपनी प्रार्थनाएँ सुनाते थे। इस प्रकार उन भूतात्माओं तथा उन फिरकों में धार्मिक सम्बन्ध स्थापित हो गये थे जो प्रायः उन भूता-त्माओं के निवासस्थानों पर आया करते थे, और लोग यह समझने लग गये थे कि यही भूतात्माएँ हमारे पशुओं की संख्या बढाती हैं, और पशु-ओं की संख्या वृद्धि का परिणाम उनके लिये यह होता था कि उन्हें खाने पीने की काफी चीजें मिलने लगती थीं और दूसरे अनेक प्रकार के लाभ होते थे। इस लिये लोग यह भी मानते थे कि ये भूतात्माएँ हमें खाद्य पदार्थ भी प्रदान करती हैं और दूसरे अनेक प्रकार के लाभ भी पहुँचाती

हैं। वे भूतात्माएँ अपने अपने स्थान की स्वामिनी समझी जाती थीं, इस लिए लोग उनसे यह भी प्रार्थना करते थे कि आप दूसरे फिरकों के आक्रमणों से हमारी रक्षा करें, और स्वभावतः ही इस के बाद दूसरी प्रार्थना उनसे यह की जाती थी कि जब हम दूसरे फिरकों को लूटने के लिये जायँ तो वहाँ हमें खूब माल मिले। इन सब बातों का परिणाम यह होता था कि स्थान के साथ किसी भूतात्मा का पहले से जितना घनिष्ट सम्बन्ध रहता था, उसकी अपेक्षा अब फिरके के साथ उसका और भी अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो जाता था, और जब वह फिरका अपने पुराने निवास-स्थान से चल कर किसी नये स्थान में जा बसता था, तब वह अपने साथ अपने पुराने देवता को भी वहां लेता जाता था और उसे वहीं स्थापित कर देता था।

ये उदाहरण यह बतलाने के लिये यथेष्ट हैं कि खाना-बदोश जातियों के धर्मों में भिन्न भिन्न परिस्थितियों में किस किस प्रकार के विकास हुए हैं।

जब मनुष्य खेती-बारी को अपनी जीविका के निर्वाह का मुख्य साधन बना लेता है, तब वह अपने आप को प्राकृतिक शक्तियों पर और भी अधिक निर्भर कर देता है। अगर किसी गडरिये को एक जगह अपने पशुओं के लिए चारा-पानी मिलना बन्द हो जाय तो वह अपने पशुओं को हाँककर किसी दूसरी जगह ले जा सकता है और वहां अपना निवास-स्थान बना सकता है। परन्तु खेती-बारी करनेवाला आदमी अपने खेत आदि छोडकर इस प्रकार कहीं और नहीं जा सकता और अगर एक साल भी सूखा पड जाय तो उसके यहां अकाल पड जाता है और उस के लिये भूखों मरने की नौबत आ सकती है। लोग जो पशु पालन छोडकर खेती-बारी के काम में लग जाते हैं, उसका

धर्म पर बहुत ही महत्वपूर्ण प्रभाव पडता है और धर्म को एक नया स्वरूप प्राप्त होने लगता है। और इसका कारण यह है कि ऐसे ही जलवायु और ऐसे ही स्थानों में रहनेवाले लोग पशु-पालन छोडकर खेती-बारी का काम शुरु करते हैं, जहाँ की वे प्राकृतिक शक्तियाँ, जिनकी सहायता से ही खेती-बारी के काम हो सकते हैं, जैसे उपजाऊ भूमि, उपयुक्त समय पर ठीक तरह से होनेवाली वर्षा और सूर्य का उत्पादक ताप अधिक स्थिर या निश्चित और अधिक लाभदायक होती हैं। मनुष्य इसी आशा से अपने खेत जोतता और बोता है कि उसमें अच्छी फसल पैदा होगी; और साधारणतः उसका अनुभव यही बतलाता है कि इस विषय में मैंने जो आशा की थी, वह निरर्थक और निर्मूल नहीं थी। इस प्रकार उन शक्तियों पर उसका और भी अधिक विश्वास हो जाता है जो उसके कृषि सम्बन्धी परिश्रम सफल करती हैं; और उसे इस बात का और भी अधिक भरोसा होने लगता है कि ये शक्तियाँ मेरी मित्र और सहायक हैं और ये प्रायः मेरी सहायता ही करती हैं। परन्तु बीच में उसे निराश भी होना पडता है, क्योंकि कभी कभी उसकी फसल बरबाद हो जाती है या बिलकुल होती ही नहीं; और इसलिए उसके मन में बराबर यह भाव भी जाग्रत अथवा जीवित रहता है कि हमारा कल्याण बहुत कुछ इन्हीं शक्तियों की कृपा पर निर्भर रहता है। इसलिए वह इस बात का प्रयत्न करता है कि मुझे इन शक्तियों की कृपा निश्चित रूप से प्राप्त होती रहे और कोई ऐसा उपाय हो, जिसमें मुझ पर सदा इनका अनुग्रह होता रहे। जमीन को जोतने–बोने के जितने काम होते हैं, उन में पग पग पर इन शक्तियों के अनुशीलन की आवश्यकता होती है और इस प्रकार वे शक्तियाँ उसके लिए सबसे अधिक आवश्यक देवताओं का रूप धारण कर लेती हैं। वह इस बात की कल्पना ही नहीं कर सकता कि बिना इन शक्तियों को प्रसन्न तथा अनुकूल किये केवल अपने परिश्रम के बल से ही मैं फसल पैदा कर सकता हूँ। जमीनों को जोतने–बोने का काम केवल

कला या विद्या ही नहीं है, बल्कि धर्म भी है। जमीन को जो पहले-पहल जोतने से लेकर अनाज अपने घर के अन्दर लाकर रखने तक जितने काम होते हैं, उनमें से हर एक काम के साथ और कदम कदम पर बराबर धार्मिक कृत्य भी अवश्य ही होते हैं।

इन सहायक तथा मित्र शक्तियों के साथ समाज के जो सम्बन्ध होते हैं, वे दिन पर दिन अधिक नियमित और व्यवस्थित होते जाते हैं। इसी लिए जिन स्थानों पर समाज बसते हैं, उन स्थानों पर इन शक्तियों की पूजा आदि और सार्वजनिक उत्सवों के लिए स्थायी या उपासना-गृह आदि बनने लगते हैं। कभी कभी तो प्राकृतिक शक्तियों के देवता स्वयं अपने ही नामों से स्थापित होते हैं और कभी कभी पुराने फिरकेवाले और स्थानीय देवता भी कृषि कार्य सम्पन्न और सफल करानेवाले देवताओं के स्वरूप में माने जाने लगते हैं। दोनों ही अवस्थाओं में वे सारे समाज के देवता हो जाते हैं और उनके द्वारा लोगों को केवल प्रकृति के प्रसाद ही नहीं प्राप्त होते, बल्कि सभी बातों में वे समाज के रक्षक, हर प्रकारसे उनके पक्षका समर्थन करनेवाले और सब प्रकारसे उन्हें लाभ पहुंचानेवाले हो जाते हैं। बहुत से कृत्य इस उद्देश्यसे किये जाते हैं कि इन शक्तियों की कृपा से इस मौसिम में अच्छी फसल हो या इस मौसिम में अच्छे फल प्राप्त हों; और वे सब देखने में बिलकुल तान्त्रिक प्रयोगों या रस्मों के जान पडते हैं; और यह बात भी निस्सन्देह ठीक ही है कि मूलतः वे सब कृत्य थे भी तान्त्रिक ही। पहले तो वे कृत्य इसलिए किये जाते थे कि इनसे प्रकृति हमारे अनुकूल काम करेगी अथवा जो भूतात्माएं प्राकृतिक शक्तियों का संचालन करती हैं, वे हमारे अनुकूल कार्य करने के लिए बाध्य होंगी। परन्तु अब उन कृत्यों का अर्थ बदल जाता है और वे कृपालु देवताओं की पूजा के अंग बन जाते हैं। इस सम्बन्ध में एक और बात यह भी ध्यान मे रखनी चाहिए

कि पहले तो लोग यही समझते थे कि स्वयं इन कृत्यों में ही इतनी शक्ति निहित है कि ये हमारे अनुकूल कार्य करा सकते हैं; परन्तु अब लोग देवताओं की कृपा और उदारता पर निर्भर रहने लगते हैं। और इस प्रकार आरम्भिक काल के तान्त्रिक कृत्य आगे धार्मिक कृत्यों का स्वरूप प्राप्त कर लेते हैं।

लोगों के पशु-पालन छोडकर खेती-बारी के काम में लगने का केवल यही एक परिणाम नहीं होता कि शक्तियों के प्रति उनका भाव या रुख ही बदल जाता हो। इसके सिवा और भी अनेक नई परिस्थितियां उत्पन्न हो जाती हैं; और उनमें कदाचित् सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात यह होती है कि जनसंख्या दिन पर दिन बहुत अधिक बढती जाती है; और इन सब नई परिस्थितियों का परिणाम यह होता है कि जमीनें जोतना-बोना ही लोगों का खास काम हो जाता है और इसी से उनकी जीविका चलने लगती है। इसी के साथ साथ यह भी होता है कि लोग गांवों और कस्बों में स्थायी रूपसे बसने लग जाते हैं। उन गांवों और कस्बों के चारों तरफ पहले से इसलिए चहार दीवारियां या परकोटे बने होते हैं कि जिसमें खाना-बदोश लोग या शत्रु पडोसी आकर सहज में न घुस सकें। इन सब बातों के कारण सामाजिक संघटन में बहुत बडे बडे परिवर्तन होने लगते हैं। इतिहास से हमें जिन सबसे पुरानी और ऊंचे दरजे की सभ्यताओं का पता चलता है, वे नील नदी की तराई में यूफ्रेटीज या फरात और टाइग्रिस या दजला नदियों की तराई में और चीन की पीत नदी (Yellow River) की तराई में थीं। इन तीनों ही स्थानों की जमीनें ऐसी थीं कि उनकी उपजाऊ शक्ति कभी कम नहीं हो सकती थी और सब जमीनें कछारी थीं। फिर वहाँ का जल-वायु भी खेती-बारी के कामों के लिये बहुत अनुकूल पडता था और वहाँ थोडे परिश्रम से ही जीविका निर्वाह के यथेष्ट साधन प्राप्त

हो जाते थे। इन्हीं सब बातों के कारण उक्त स्थानों की जन-संख्या बराबर बढ़ती जाती थी और धीरे धीरे यहाँ तक बढ़ गई थी कि और भी बहुत सी जमीनें उन्हें सिंचाई और जोतने बोने के योग्य बनानी पड़ीं अथवा नाशक बाढ़ों को कम कम करने के लिए नदियों को नियन्त्रित करना पड़ा। इस प्रकार उन्होंने इंजीनियरी के ऐसे बड़े बड़े काम किये थे जो बहुतसे लोगों के सम्मिलित उद्योग से और एक केन्द्रीय अधिकारी के संघटन में ही हो सकते थे; और वे सब काम फिरकों या दलों के सैनिक सरदारों के कामों की अपेक्षा कहीं अधिक स्थायी होते थे।

पहले तो समाज के सब लोग मिलकर खेती-बारी करते थे और पैदावार का उपभोग भी सम्मिलित रूप से ही होता था; पर आगे चलकर जमीन पर लोगों का व्यक्तिगत अधिकार होने लगा। साथ ही बहुत सी कलाओं और पेशों की भी वृद्धि हुई। अब वाणिज्य-व्यापार भी होने लगा। इन सब बातों के लिये बहुत से नियमों या कानूनों आदि की आवश्यकता हुई। खाना-बदोश फिरकों में तो कुछ सीधी-सादी प्रथाएँ हुआ करती थीं और उन्हीं प्रथाओं के अनुसार लोगों के अधिकार निश्चित होते थे और इस लिए नियम-पालन आदि में उन्हें कोई कठिनता नहीं होती थी। परन्तु अब उन दिनों की अपेक्षा कहीं अधिक जटिल परि-स्थितियाँ उत्पन्न हो गई थीं और उन परिस्थितियों में ऐसे शासन की आवश्यकता थी जो सब लोगों के कानूनों और नियमों आदि का पालन करा सके। पहले तो फिरकों की अलग अलग नैतिक प्रथाएँ या नियम हुआ करते थे और उन्हीं नैतिक प्रथाओं या नियमों से शासन और नियन्त्रण आदि के बहुत से काम होते थे। परन्तु अब बहुत से भिन्न भिन्न फिरकों तथा गोत्रों के लोग मिलकर एक साथ रहने लगे थे और इससे उन नियमों के अधिकार बहुत कुछ कम हो गये थे। धीरे धीरे कस्बे भी बढ़कर बड़े बड़े नगरों का रूप धारण करने लगे। पहले तो नगर-राज्य

स्थापित हुए और तब बहुत से नगर–राज्यों के योग से बड़े बड़े प्रान्तीय राज्य स्थापित होने लगे। और अन्त में बड़े बड़े प्राचीनतम साम्राज्य भी हो गये। ऐसे राज्यों या साम्राज्यों में यह होता था कि अनेक प्रकार के और बड़े बड़े अधिकार राजा अथवा सम्राट के ही हाथ में रहते थे।

जब जनता में इस प्रकार नया राजनीतिक संघटन हो गया, तब उस संघटन की प्रतिच्छाया देवताओं से भी सम्बन्ध रखनेवाली धारणाओं पर पड़ने लगी। पहले तो देवता लोग जनता की केवल रक्षा और उपकार करनेवाले ही माने जाते थे, परन्तु अब वे लौकिक राजाओं की तरह दैवी राजा और शासक भी माने जाने लगे। मनुष्यों में जो राजा या शासक होता था, वही नियम बनाता और लोगों से उनका पालन कराता था और वही सबके अधिकारों की रक्षा करता था; इसलिए समाज की प्रचलित प्रथाओं और सर्व–समान नियमों को लोग यह समझने लगे थे कि ये सब दैव द्वारा अनुमोदित और मान्य हैं; और प्रायः यह भी मानने लगे थे कि इनका मूल या उत्पत्ति भी दैवी ही है। बैबिलोन के राजा हम्मूरबीने जो कानून बनाये थे, वे इसी प्रकार दैवी माने जाने लगे थे। इस प्रकार समाज और उसके देवताओं में अब एक नया सम्बन्ध स्थापित हो गया था। सार्वजनिक धर्म पर अब राज्य का अधिकार हो गया और उस धर्म के सब कृत्य राज्य की ओर से होने लगे और राज्य ही धर्म का साधक बन गया। अब राजा समस्त धार्मिक विषयों में प्रधान माना जाने लगा और उसे एक नवीन धार्मिक स्वरूप प्राप्त हो गया था; और प्रायः यह भी माना जाने लगा था कि स्वयं राजा ही दैवी जाति या वर्ग का होता है अथवा राजा मात्र में ईश्वरीय अंश होता है। अब शान्ति काल में भी और युद्ध काल में भी देवताओं से पहले की अपेक्षा बहुत बड़ी और नये नये प्रकार की बहुत सी प्रार्थनाएँ की जाती थीं और इसी लिए स्वयं देवताओं का महत्व भी दिन पर दिन स्थिर रूप से बढ़ता जाता था।

इस प्रकार धर्मने जिस ढंग से ये सब भिन्न भिन्न अवस्थाएँ पार की गई थीं, उसका धर्म के समस्त भविष्य पर बहुत ही महत्वपूर्ण प्रभाव पडा। मनुष्यों के देवता भी अब पूर्ण रूप से मनुष्यों के ही समान हो गये थे और इसी लिए अब उन देवताओं की नैतिक सत्ता भी स्थापित होने लगी थी और उनमें नैतिक आदर्शों की स्थापना होने लगी थी। प्राकृतिक शक्तियां अपने जो काम करती थीं, उनमें कहीं कोई नैतिक भाव नहीं होता था। और न उन भूतात्माओं में ही कोई नैतिक भाव रहता था, जिनके साथ प्रत्येक आत्मा की पृथक् सत्ता माननेवाले जंगली लोग उन प्राकृतिक शक्तियों का एकीकरण करते थे और जिनके रूप में वे उन शक्तियों को मानते थे। बिलकुल आरम्भ में भूतात्माओं में जो व्यक्तित्व की स्थापना की गई थी, उसका आशय केवल यही निकलता था कि उन भूतात्माओं के कृत्यों में अस्थिरता और चंचलता रहती है—वे जब जो कुछ चाहती हैं, तब वही कर बैठती हैं। भूतात्माओं का कोई नैतिक सिद्धान्त या नियम तो होता ही नहीं था और वे जो कुछ चाहती थीं, वही करती थीं। बडे बडे उद्दंड और अविचारी जंगली भी सब अवस्थाओं में केवल मनमानी ही नहीं करते, बल्कि अनेक अवसरों पर बहुत सी बातों का विचार करके उन्हें कुछ विशिष्ट बन्धनों में रहना ही पडता है। परन्तु वे भूतात्माएँ इस प्रकार के बन्धनों का भी कोई खयाल नहीं रखती थीं और निरे जंगलियों से भी बढकर स्वेच्छाचारिणी होती थीं। परन्तु जब वे धीरे धीरे मनुष्यों के ही समान देवताओं के रूप में मानी जाने लगीं, तब लोग यह भी समझने लगे कि वे नैतिक उत्तरदायित्व से भी युक्त हैं; और अन्त में इसका परिणाम यह हुआ कि जिन बातों के बल से मनुष्य नैतिक दृष्टि से पूर्ण माना जाता था, अब उन बातों का देवताओं में भी आरोप होने लगा। फिर देवताओं को सब तरह से मनुष्यों के समान बना देने से ही काम नहीं चल सकता था। इस बात की भी आवश्यकता थी कि वे मनुष्यों के संघटित समाज में

अपना उपयुक्त स्थान ग्रहण करना सीखें; अर्थात् उन देवताओं को भी सभ्य और संस्कृत बनाने की आवश्यकता हुई।

मुख्यतः दो बातों से देवता लोग मनुष्यों के समान और सभ्य बनाये गये हैं; और उनमें से पहली बात पूजा या उपासना और दूसरी बात उनके सम्बन्ध की पौराणिक कथाएँ हैं। नियमित और व्यवस्थित रूप से पूजा और उपासना करने के लिए एक ऐसे स्थान की आवश्यकता होती है जहाँ उपासक अपने देवता को निश्चित रूप से पाने की आशा रख सकता हो। बहुत आरम्भिक काल में ही लोगों का यह विश्वास हो गया था कि कुछ विशिष्ट स्थानों या विशिष्ट पदार्थों में देवता का अस्तित्व रहता है; और वे यह भी समझते थे कि हमने उन विशिष्ट स्थानों या विशिष्ट पदार्थों का पता पा लिया है और इसी लिए वे अपनी भेंट और पूजा की सब सामग्री आदि लेकर उन विशिष्ट स्थानों में अथवा उन विशिष्ट पदार्थों के पास जाते थे और वहीं उनके सामने अपनी प्रार्थनाएँ सुनाते थे। कुछ दूसरी अवस्थाओं में वे स्वयं ही कोई ऐसा पदार्थ चुन लेते थे और यह समझ लेते थे कि इसमें देवता का निवास कराया जा सकता है; और तब वे देवता से प्रार्थना करते थे कि आप आकर इस पदार्थ में निवास करें; और तब मन में यह दृढ विश्वास रखकर कि इस पदार्थ में देवता का आविर्भाव और निवास हो गया है, उसकी पूजा करते थे और उसके सामने भेंट आदि चढाते थे। हिन्दुओं में देवताओं की मूर्तियां बनाकर उनकी जो प्राण-प्रतिष्ठा की जाती है, वह इसी कोटि की है। लोग भिन्न भिन्न प्रकार के स्थानों और पदार्थों में अपने देवताओं को स्थापित करते हैं। उदाहरण के लिए पहाड, चट्टान, वृक्ष, पशु अथवा किसी आकाशस्थ पिंड में अपने देवता को प्रतिष्ठित करते और उसी में उसका निवास मानते हैं; अथवा वे कोई पत्थर या खम्भा खडा कर देते हैं और समझते हैं कि इसी में हमारे देवता रहते हैं। साधारणतः हम लोग यही समझते हैं कि स्थान और

पदार्थ के विचार से इस प्रकार देवताओं की जो अनेक प्रकार की स्थापनाएँ होती हैं, उनमें परस्पर बहुत कुछ अन्तर है। परन्तु यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो इसमें कुछ भी भेद या अन्तर नहीं है। चाहे कोई सूर्य को देवता माने और चाहे कोई किसी वृक्ष या पर्वत की पूजा करे, पर तात्विक दृष्टि से इस प्रकार की उपासनाओं में कोई अन्तर है और ये सभी उपासनाएँ मूलत: एक ही सिद्धान्त पर आश्रित हैं। प्राचीन काल में लोग वृक्षों और पत्थरों की पूजा करते थे और अब भी अनेक स्थानों के जंगली ऐसा करते हैं; और इसी से आगे चलकर मूर्तिपूजा का विकास हुआ था। आज-कल लोग इस प्रकार की पूजा को तुच्छ और मनुष्यों को नीचे गिरानेवाली समझते हैं। परन्तु हमारी समझ में अधिक बुद्धिमत्ता की बात तो यह होगी कि हम समझ लें कि यह पूजा का ऐसा प्रकार था जिसके द्वारा सीधे-सादे लोग किसी पदार्थ में देवता की उपस्थिति या अस्तित्व का अनुभव करते थे; और इस प्रकार की पूजा करने में भी उनका वही उद्देश्य था, जो उद्देश्य आज-कल बड़े बड़े मन्दिर और उपासना-गृह आदि बनाने में हमारा होता है। धर्म की इस अवस्था में स्वयं उस भौतिक पदार्थ की पूजा नहीं होती, बल्कि उसमें रहनेवाली अदृश्य शक्ति अथवा आत्मिक सत्ता की पूजा होती है। पूजा जानेवाला अनगढ पत्थर या खम्भा ही मोटे तौर पर मूर्ति के रूप में बदला जा सकता है और पुराने ढंग की मूर्ति का स्थान आगे चलकर बहुत सुन्दर तथा कलापूर्ण मूर्ति ग्रहण कर सकती है। जिस झोंपडी में पहले गाँव के भूत-प्रेत रहा करते थे, उसी के स्थान पर बाद में शानदार मन्दिर बन सकता है। इन सब परिवर्तनों में केवल कला और सौन्दर्य की ही वृद्धि होती है; और नहीं तो मूल विचार वही और ज्यों का त्यों रहता है—मुख्य बात में किसी प्रकार का परिवर्त्तन नहीं होता।

मनुष्यों का यह विश्वास होता है कि हमने अपने अनुभव से इस

बात का पता लगा लिया है कि देवताओं की कृपा किन उपायों से सम्पादित की जा सकती है; और यदि वे किसी कारण से असन्तुष्ट हो गये हों तो उन्हें किस प्रकार फिर से प्रसन्न तथा सन्तुष्ट किया जा सकता है। धीरे धीरे कुछ दिनों बाद देवताओं को प्रसन्न करने के यही उपाय बहुत से और बड़े बड़े धार्मिक कृत्यों का स्वरूप प्राप्त कर लेते हैं। अब लोगों का विश्वास यही होता है कि ये उपाय तभी फलीभूत हो सकते हैं जब इनका सम्पादन ठीक तरह से किया जाय-उनकी सब क्रियाएँ जिस प्रकार होनी चाहिए, उसी प्रकार हों। इसी लिए आदिम काल के पवित्र स्थानों के संरक्षकों की जगह अब पुजारियों या पुरोहितों का वर्ग आ जाता है। यही पुरोहित-वर्ग समस्त परम्परागत बातों की रक्षा करता है और इस बात का ध्यान रखता है कि पूजा सम्बन्धी समस्त कृत्य ठीक तरह से और यथा-विधि हों। एक और बात है जिसका महत्व साधारणत: सब जगह माना जाता है। लोग समझते हैं कि समाज के पास ऐसे साधन भी होने चाहिएँ जिनके द्वारा वह इस बात का पता लगासकें कि देवताओं की इच्छा क्या है और वे क्या चाहते हैं: और इसी लिए पुरोहित लोग पूजा-विधि के आचार्य होने के साथ ही साथ भविष्यद् वाणी या ज्यौतिष आदि के भी आचार्य हो जाते हैं।

देवताओं की पूजा में दो बातें ऐसी हैं जो सदा होती हैं। उनमें से एक तो देवता के आगे भेंट आदि चढ़ाना है और दूसरे उनसे प्रार्थना करना। नितान्त आरम्भिक काल में कदाचित् खाने-पीने की चीजें ही देवताओं को भेंट चढ़ाई जाती थीं; और तब से बहुत दिनों तक लोगों का बराबर यही विश्वास बना रहा कि ये पदार्थ वास्तव में देवताओं के भोजन होते हैं। अपने मृतक सम्बन्धियों या उन की आत्माओं के लिए लोग जो खाद्य पदार्थों की व्यवस्था करते थे, उसका इससे जो सादृश्य है, वह स्पष्ट ही है। परन्तु इसका आवश्यक रूप से केवल यही निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि मृतकों के उद्देश्य से लोग जो खाद्य पदार्थ रखा करते थे, उसी के

अनुकरण पर वे भूतात्माओं या देवताओं के उद्देशसे भी भेंट आदि चढाने लगे थे । जिस प्रकार यह बात नहीं सिद्ध की जा सकती कि सब देवता मूलत: पितरों की प्रेतात्माएं ही थे, ठीक उसी प्रकार यह भी सिद्ध नहीं किया जा सकता कि पितरों के उद्देश से समाधियों आदि में खाद्य पदार्थ रखने की जो प्रथा थी, उसी के अनुकरण पर देवताओं के आगे भी नैवेद्य और भेंट आदि रखने की प्रथा चली थी ।

धर्म के विकास की इस अवस्था में देवताओं के आगे जो नैवेद्य और भेंट आदि रखी जाती थीं, उनके सम्बन्ध में साधारणत: लोगों का विचार यही होता था कि ये पदार्थ देवताओं को उपहार स्वरूप दिये जाते हैं । परन्तु कुछ अवस्थाओं में देवताओं को ऐसी चीजें भी चढाई जाती थीं जो अपनी कृतज्ञता दिखलाने के लिए होती थीं और जिनका चढाना एक आवश्यक कर्तव्य के रूप में होता था । उदाहरण के लिए, जब किसी पशु को पहले पहल बच्चा होता था तो देवताओं के आगे वह बलि चढाया जाता था । इसी प्रकार जब नई फसल तैयार होती थी तो उस में का कुछ अन्न आदि भी देवताओं को चढाया जाता था वास्तव में इस प्रकार के बलिदानों और भेंटों का मूल कुछ और ही था । लोग यही समझते थे कि पशुओं को जो बच्चे होते हैं या खेतों में जो फसल होती है वह सब, देवताओं की ही कृपा से होती है; और उनकी कृपा से जो कुछ प्राप्त हो, उसमें से सब से पहले कुछ अंश उन्हीं देवताओं अथवा शक्तियों को अर्पित किया जाना चाहिये । इसके सिवा लोग और जिन चीजों को मूल्यवान् समझते हैं, वे सब भी देवताओं को भेंट चढाई जाती हैं ।

लोग सार्वजनिक रूपसे अथवा निजी रूप से जब बलिदान आदि चढाया करते थे, तब प्राय: उनके साथ में दावतें भी किया करते थे । टोटेम-वाद (Totemism) वाले सिद्धान्त के अनुसार यह माना जाता है कि

आदिम काल में जिन पशुओं का बलिदान होता था, उनके सम्बन्ध में साधारणतः लोगों का यही विश्वास होता था कि ये हमारे गोत्र या कुल के वह दैवी पशु हैं जिनसे हम लोगों की उत्पत्ति हुई थी। वे यह भी समझते थे कि जब सब लोग साथ बैठकर अपने पूर्वज का मांस खाते हैं, तब गोत्र या वंश के सब लोगों को उससे नवीन जीवन और नवीन शक्ति प्राप्त होती है और सब लोग रक्तसम्बन्धवाले बन्धन से और भी दृढतापूर्वक बंध जाते हैं। बहुत सम्भव है कि यह बात इसी लिए समझी जाती है कि किसी पवित्र स्थनपर धार्मिक कृत्यों के साथ जो नैवेद्य लगाया जाता है, उसे लोग पवित्र समझा करते हों और यह मानते हों कि उस में दैवी गुण आ जाते हैं; और फिर जो लोग वह पदार्थ खाते हैं, वे उसके फलस्वरूप स्वस्थ, सशक्त और सुखी रहते हैं। और इसी के परिणाम स्वरूप लोग यह भी समझने लग गये होंगे कि जिस देवता के स्थानपर हम लोग एकत्र होकर भोजन करते हैं, या आजकल के शब्दों में कहा जाय तो जिस देवता के चौके में हम अतिथि रूप मे बैठते हैं, उस देवता के साथ भी हमारा आपस-दारी-वाला सम्बन्ध और घनिष्ट हो जाता है और एक साथ बैठकर वहां खानेवालों में आपसदारी का जो भाव बढता है, वह तो बढता ही है। इसी लिए बलिदान सम्बन्धी भोज को धार्मिक संस्कार-वाला रूप प्राप्त हो गया था; और जो लोग उस भोज में सम्मिलित होते थे, वे समझने लगते थे कि देवता के साथ हमारा बहुत निकट का और मित्रतापूर्ण सम्बन्ध है और यह ज्ञान उनके लिए एक धार्मिक अनुभव के रूप में होता था।

देवताओं आदि की जो प्रार्थना होती है, उसमें मुख्यतः दो बातें होती हैं। एक तो यह कि उसमें देवता की स्तुति या प्रशंसा की जाती है, और दूसरे यह कि उनसे अपने सम्बन्ध में कुछ बातें निवेदन की जाती हैं अथवा अपने कुछ कष्ट दूर करने के लिए या सुख-समृद्धि बढाने-

के लिए कहा जाता है। इस प्रकार की प्रार्थना वास्तव में यही मानकर की जाती है कि देवता के साथ हमारा व्यक्तिगत सम्बन्ध है; और प्रार्थना करने से मनुष्य और देवता के पारस्परिक तथा व्यक्तिगत सम्बन्ध का भाव और भी प्रबल होता है। विशेषतः विनीत भाव से की जानेवाली प्रार्थना में यह बात और भी बढ जाती है; और जब प्रार्थना करनेवाले को यह विश्वास होता है कि मेरी प्रार्थना स्वीकृत हो गई है, तब देवता के साथ उसका घनिष्ठतावाला भाव और भी बढ जाता है। और यह भी एक वास्तविक धार्मिक अनुभव होता है। इसके विपरीत आरम्भिक काल में लोगों की एक और प्रवृत्ति रहती थी। वे स्तुतियों और प्रार्थनाओं आदि के साथ कुछ विशेष कृत्य भी करते थे और समझते थे कि इस प्रकार के कृत्यों से प्रार्थनाएं और स्तुतियां स्वयं देवताओं को वश में कर लेती हैं। हम पहले एक अवसर पर यह बतला चुके हैं कि धर्म क्षेत्र के कुछ कृत्य फिर ऐसा रूप धारण कर लेते हैं कि वे तन्त्र के क्षेत्र में चले जाते हैं। बस इसी प्रकार वे प्रार्थनाएं भी तान्त्रिक मन्त्रों का रूप धारण कर लेती हैं और उस अवस्था में उस व्यक्तिगत सम्बन्ध का लोप हो जाता है जो साधारण रूप से प्रार्थना करनेवाले मनुष्य और उसके देवता में होता है; और कुछ धर्मों में इसका बहुत ही दूर व्यापी परिणाम हुआ है।

दूसरी बात, जिससे देवताओं को मनुष्यों का सा स्वरूप प्राप्त होता है, पुराण है। " पुराण " शब्द का सबसे सीधा-सादा अर्थ प्राचीन आख्यान या पुरानी कथा है। अँगरेजी में इसके लिए मिथ् (Myth) शब्द का प्रयोग होता है इसका भी अर्थ वही जो " पुराण " शब्द का अर्थ है। पुराण में किसी बात की व्याख्या या किसी प्रश्न का उत्तर होता है और वह व्याख्या या उत्तर प्राचीन काल की किसी घटना की कहानी के रूप में होता है। सब पुराने पुराणों में सम्भवतः प्रकृति सम्बन्धी उन्हीं प्रश्नों के उत्तर हैं जो नितान्त आरम्भिक काल में और प्रायः

सभी देशों मे कुतूहलवश उत्पन्न हुआ करते थे; उदाहरण के लिए लोग यह जानना चाहते थे कि—"वह कौन सी चीज है जिसके सहारे आकाश ऊपर ठहरा हुआ है ? " और साधारणतः सभी देशों में पहले यही माना जाता था कि यह थाली के आकार का एक ढकना है जो पृथ्वी के ऊपर रखा हुआ है और उसके ऊपर पानी का वह खजाना है जिसमें से वर्षा होती है। अथवा कहीं कहीं लोगों के मन में यही प्रश्न इस रूप में उपस्थित होता था कि " यह आकाश इतने ऊपर किस प्रकार पहुंचा " ? और जंगलियों के मन में यह प्रश्न इस रूप में उत्पन्न होता था कि-" इस आकाश को किसने ऊपर रखा ? " इस प्रकार की आकाश सम्बन्धी पौराणिक कथाएं बहुत से देशों में पाई जाती हैं। साधारणतः सभी देशों की पौराणिक कथाओं में इस प्रकार के प्रश्नों का उत्तर भी पाया जाता है कि मनुष्य का शरीर नश्वर क्यों है और वह मर क्यों जाता है ? (क्योंकि मृत्यु सदा सब लोगों को कुछ अस्वाभाविक सी बात जान पड़ती थी) अथवा मनुष्य भी देवताओं की तरह अमर क्यों नहीं होता। इसका सबसे अधिक प्रसिद्ध और प्रचलित उदाहरण अदन के बाग (Garden of Eden) वाली कथा है। यह कथा बाइबिल की है। इसमें कहा गया है कि जब ईश्वरने सृष्टि की रचना कर ली, तब उसने छठे दिन आदम (Adam) नाम का एक पुरुष हौवा (Eve) नाम की एक स्त्री बनाई और उन दोनों को अदन के बाग में रख दिया और उन्हें समस्त जीव-जन्तुओं पर राज्य करने का अधिकार दे दिया। उन्हें अदन के बाग के और सब वृक्षों के फल खाने की तो आज्ञा दे दी गई, परन्तु ज्ञान के वृक्ष के फल खाने की मनाही कर दी गई। तब सांप या शैतान ने उन लोगों को बहकाना शुरू किया और अन्त में हौवा उसके बहकाने में आ ही गई। और उसने अपने पति को भी उस वर्जित वृक्ष के फल खाने पर राजी कर लिया। इसी अपराध के कारण उन्हें यह दंड मिला कि वे स्वर्ग की वाटिका से निकाल दिये गये और उन्हें शाप दे दिया गया। इब्रानियों और ईसाइओं

आदि के अनुसार यही आदम सारी मनुष्य जाति का मूल पुरुष है। इस कथा का आशय यही है कि ज्ञान के जिस वृक्ष के फल खाने की आदम को मनाही कर दी गई थी, उस वृक्ष के फल खाने से मनुष्य अमर हो सकता था। और आदम भी वह फल खाकर अमर होना चाहता था और इसी लिए वह स्वर्ग के अदन नामक बाग में से निकाल दिया गया था। इस प्रकार यहां भी वही अमरता और नश्वरतावाला प्रश्न प्रमुख रूप से सामने आता है। कुछ लोगों के मन में यह प्रश्न भी उत्पन्न होता था कि मनुष्य क्यों कुछ अंशों में अमर और कुछ अंशों में नश्वर है; और इसका उत्तर वे यह देते थे कि उसका शरीर तो मिट्टी से बनाया गया था और इसलिए वह कुछ अंशों में नश्वर है; पर उस मिट्टी के साथ एक देवता का खून भी मिला दिया गया था और इसी लिए वह कुछ अंशों में अमर है। अथवा वे यह कहते थे कि देवताने पहले अपने हाथमे मिट्टी की एक मूरत बनाई थी और तब उसमें देवता का श्वास फूंक दिया था; और इसी लिए वह अंशतः नश्वर तथा अंशतः अविनश्वर है।

जिन जातियों में कल्पना और कवित्व की शक्तियां होती हैं, वे इस प्रकार की आदिम काल की स्थूल कथाओं मे अनेक प्रकार की घटनाओं आदि से युक्त और भी अनेक कहानियां मिलाकर उन्हें और भी अधिक विशद तथा सुन्दर रूप दे देते हैं। उदाहरण के लिए आकाश के इतनी ऊंचाई पर पहुंचने के सम्बन्ध की वह पौराणिक कथा ले लीजिए जो न्यूज़ालैंड के उन पालिनीशियन जाति के लोगों में प्रचलित है जो माओरी कहलाते हैं। उस कथा में यह कहा गया है कि पहले पृथ्वी और आकाश जिनमें पत्नी और पति का सम्बन्ध था, एक दूसरे से सटे हुए रहते थे और उन्हीं की सन्तान के रूप में मनुष्य उत्पन्न हुए थे। पृथ्वी और आकाश आपस में गाढ आलिंगन किये रहते थे जिससे उनकी सन्तान को बीचवाले बहुत ही संकुचित स्थान में बहुत ही कष्ट से रहना पड़ता

था। बहुत कुछ वाद–विवाद के उपरान्त और बहुत प्रबल प्रयत्न करके उन बालकों ने अपने पिता आकाश को तो उठाकर ऊपर स्थित कर दिया और तब स्वयं अपनी माता पृथ्वी के वक्ष-स्थल पर रहने लगे। बहुत सी पौराणिक कथाओं में सूर्य का इस प्रकार कवित्वपूर्ण वर्णन किया गया है कि वह नित्य एक नाव पर सवार होकर आकाश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक यात्रा करता है अथवा एक आग्नेय रथ पर चढकर नित्य पूर्व से पश्चिम की ओर जाता है। हिन्दुओं की पौराणिक कथाओं में कहा गया है कि सूर्य एक ऐसे एक-पहियेवाले रथ पर चढकर आकाश मार्ग से भ्रमण करता है जिसमें सात घोडे जुते होते हैं; और उसका सारथी अरुण कहा गया है। कुछ पौराणिक कथाओं में यह बतलाने का भी प्रयत्न किया गया है कि रात के समय वह किस तरह लौटकर फिर उस स्थान पर आता है, जहां से वह नित्य प्रातःकाल अपनी यात्रा आरम्भ करता है। कोई कहता है कि वह उत्तरवाले अंधेरे मार्ग से लौटता है; और कोई बतलाता है कि जमीन के नीचे एक सुरंग है और उसी सुरंग के रास्ते वह रोज रात को लौटता है। इस प्रकार की कथाओं में देवताओं को चाहे जिस प्रकार से सम्मिलित कर लिया गया हो, और बाद में इस प्रकार की कथाओं को धर्म ने भी भले ही क्यों न ग्रहण कर लिया हो, पर वास्तव में इस प्रकार की कथाएं मूलतः धार्मिक नहीं हैं।

फिर बहुत सी पौराणिक कथाएं ऐसी भी होती है जिनमें पूजा-विधि से सम्बन्ध रखनेवाली समस्याओं आदि का विवेचन या व्याख्या होती है। उनमें इस बात का वर्णन होता है कि मनुष्यों ने यह कैसे जाना था कि अमुक देवता की अमुक स्थानपर अथवा अमुक प्रकारसे पूजा होनी चाहिए। इसके सिवा कुछ और पौराणिक कथाएं होती हैं जिन्हें लोग संस्कृति-सम्बन्धी पुराण (Culture Myths) कहते हैं। उन कथाओं में यह बतलाया जाता है कि कृषि अथवा कलाओं का आरम्भ किस प्रकार

हुआ था, किस प्रकार किसी देवताने लोगों को इन सब बातों की शिक्षा दी थी अथवा किस प्रकार इनका आविष्कार एक ऐसे आदमी ने किया था जो बाद में देवता हो गया था ।

जब एक बार मनुष्य की कल्पना शक्ति देवताओं और उनके कृत्यों की ओर प्रवृत्त होकर उन्हें अपना विषय बना लेती है, तब लोग बहुत सी पौराणिक कथाएं सिर्फ इसी लिए गढने लगते हैं कि उन्हें प्रकृति अथवा धर्म सम्बन्धी प्रश्नों की मीमांसा करने के बदले इस प्रकार की कहानियां गढने में ही विशेष आनन्द आता है। परन्तु कहानियों के पात्र कुछ विशिष्ट देवता आदि ही होते हैं; और वे लोग उन्हीं देवताओं के सम्बन्ध की कहानियां गढते हैं जिससे पुराणों और पौराणिक कथाओं की संख्या में बहुत अधिक वृद्धि होने लगती है। हमारे यहां हिन्दुओं और उनसे भी बढकर जैनियों में इस प्रकार की कथाओं की संख्या बहुत अधिक है। इन कथाओं में देवताओं की कल्पना चाहे जिस शारीरिक आकार में की जाय, परन्तु विचार, अनुभूति और कार्य में वे देवता पूर्ण रूपसे मनुष्य ही होते हैं। मनुष्य की कल्पना शक्ति, जो अनेक प्रकार के संयोग या मिश्रण प्रस्तुत करती है, उनके लिए उसे मानवीय अनुभवों के सिवा और किसी प्रकार के तत्व या उपकरण मिलते ही नहीं। हां यह बात दूसरी है कि वह उन मानव अनुभवों का खूब बढा-चढाकर और उन्हें खूब विशद रूप देकर वर्णित करे; और इसी लिए देवताओं के जिन कृत्यों का इस प्रकार की कथाओं में वर्णन होता है, वे सब प्रायः "पूर्ण रूपसे मानवोचित" ही होते हैं।

देवी-देवताओं के सम्बन्ध में इस प्रकार की जो कथाएं होती हैं, उनके कारण लोग यह समझने लगते हैं कि ये देवी देवता भी हमारी ही तरह स्त्रियां और पुरुष ही थे; परन्तु हम लोगों की अपेक्षा बहुतही श्रेष्ठ

तथा उच्च कोटि के थे; और उनके ऐसे निजी तथा स्वतन्त्र व्यक्तित्व थे जिनका पूरा पूरा पता केवल उनके कार्यों से ही नहीं लगता। अर्थात् उनके कार्यों से उनके व्यक्तित्व का जो स्वरूप प्रकट होता है, उसकी अपेक्षा उनका व्यक्तित्व कहीं बढ़ा-चढ़ा और उच्च कोटि का था। देवताओं के सम्बन्ध में कुछ ऐसी कथाएं भी होती हैं जिनमें उनका अपेक्षाकृत कुछ कम महत्व वर्णित होता है। परन्तु ऐसी कथाओं से भी लोगों की दृष्टि में उनका महत्व कम नहीं होता, बल्कि इसके विपरीत वे उन्हें और भी अधिक मनुष्यों के ही समान समझने लगते हैं उनके प्रति लोगों के मन में आपसदारी का भाव ही पैदा होता है। परन्तु आगे चलकर जब सभ्यता की और अधिक उन्नति तथा विकास होता है, लोगों की रुचि अधिक परिमार्जित हो जाती है, अथवा नैतिक दृष्टि से वे और अधिक उच्च तल पर पहुंच जाते हैं, तब इस प्रकार की पौराणिक कथाएं उन्हें अच्छी नहीं लगतीं। देवताओं के सम्बन्ध में जो बहुत सी पौराणिक कथाएं प्रचलित होती हैं, उनमें देवताओं के इस प्रकार के अनेक कृत्यों के वर्णन होते हैं, जैसे कृत्य मनुष्यों के भले और अच्छे समाज में प्रशंसनीय नहीं समझे जाते। देवताओं के जिस प्रकार के कृत्य और आचरण कहे जाते हैं; उस प्रकार के कृत्य तथा आचरण यदि मनुष्य किसी सभ्य और उन्नत समाज में करें तो लोग उसे बहुत बुरा समझेंगे। परन्तु फिर भी कवि लोग प्रायः देवताओं के सम्बन्ध में ऐसे ही कृत्यों और आचरणों का वर्णन करते हैं और उन्हें देखकर परिमार्जित रुचिवाले तथा अधिक नीतिमान् पुरुष अनेक प्रकार की आपत्तियां करते हैं। परन्तु यहां भी लोगों में यही विचार काम करता है कि देवताओं को मनुष्यों के सामने अच्छे उदाहरण तथा उत्तम आदर्श उपस्थित करने चाहिएं। और यह बात लोग इसी लिए चाहते हैं कि वे देवताओं को भी पूर्ण रूपसे मनुष्य ही समझते हैं और उनसे मानवोचित उत्तम कृत्यों की ही आशा रखते हैं।

कुछ शक्तियों को लोग उच्च कोटि के बडे बडे देवताओं के रूप में मानने लगे थे, परन्तु इसके कारण उनके साथ काम करनेवाली, पर अपेक्षाकृत कम महत्व रखनेवाली वे शक्तियां अधिकार-च्युत नहीं हो गई थीं जो प्रकृति अथवा मानव जीवन के विशिष्ट विभागों का शासन और नियन्त्रण करती थीं। वास्तव में हुआ यह था कि जब सभ्यता की उन्नति के साथ साथ मनुष्यों की आवश्यकताएं बहुत बढ गई थीं, तब वे आरम्भ में उन शक्तियों की संख्या बढाने लग गये थे जो प्रकृति अथवा मानव जीवन के विशिष्ट विभागों का नियन्त्रण करनेवाली मानी जाती थीं। बडे बडे देवता प्राय: नगरों या राष्ट्रों के देवता और उनके संरक्षक तथा उपकारक हुआ करते थे और समाज अथवा उसके व्यक्ति सदस्य प्राय: अपनी प्रत्येक आवश्यकता के समय उन्हीं से सहायता की प्रार्थना करते थे; और इसी लिए अब बडे बडे देवता वे सब काम करनेवाले भी माने जाने लगे थे जो काम आरम्भिक काल में भिन्न भिन्न और विशिष्ट कार्य-कारिणी शक्तियों के माने जाते थे। इस प्रकार अब बडे बडे देवता अनेक पुरानी शक्तियों को अपने में अन्तर्भुक्त करने लग गये थे-पुरानी शक्तियां अब नये और बडे बडे देवताओं में सम्मिलित होने लग गई थीं। पहले पुरानी और छोटी छोटी भूतात्माओं के जो नाम हुआ करते थे, उनका प्रयोग अब उस देवता की उपाधियों आदि के रूप में होने लग गया था, जिस देवता में वे शक्तियां मिलकर एक हो गई थीं। और अब इन्हीं विशिष्ट उपाधियोंवाले रूप में उस देवता से वे सब काम करने के लिए लोग प्रार्थना करने लग गये थे जो काम पहले उन उपाधियोंवाले नामों की शक्तियां किया करती थीं। दूसरी ओर कुछ इसके विपरीत घटना भी होती थी। कुछ स्थानीय देवता भी कभी कभी किसी बहुत बडे और प्रसिद्ध देवता का नाम ग्रहण कर लिया करते थे। प्राय: ऐसा होता था कि जो देवता पहले किसी छोटेसे स्थान के अधिष्ठाता के रूप में प्रसिद्ध होते थे, वे आगे

चलकर किसी दूसरे बहुत बडे देवता के नाम से प्रसिद्ध हो जाते थे* ?

धर्म के विकास में जो भिन्न भिन्न अवस्थाएं होती हैं, उनमें से कोई अवस्था ऐसी नहीं होती, जिसका अपनी पूर्व-वर्त्तिनी अवस्था के साथ सम्बन्ध न हो। यहां तक कि जब किसी धर्म में कोई बहुत ही उत्कट और आत्यन्तिक सुधार होता है, तब भी अपनी पूर्वावस्था के साथ उसका सम्बन्ध विच्छिन्न नहीं होने पाता-पुराने रूप और नये सुधरे हुए रूप में किसी न किसी प्रकार का सम्बन्ध बना ही रहता है; और धर्म की वह शृंखला कहीं से टूटने नहीं पाती। प्राकृतिक बहुदेववादमें जो प्रेत और राक्षस आदि मनुष्यों को अनेक प्रकार से हानि और कष्ट पहुंचाते हैं, वे भी अपने पुराने स्थानपर बराबर बने रहते हैं और पहले की ही तरह उत्पात भी करते रहते हैं। जिन तान्त्रिक प्रयोगों के सम्बन्ध में पहले लोगों का यह विश्वास रहता था कि इनके अनुष्ठान से भूत-प्रेत आदि निकल या भाग जाते हैं अथवा उनके दुष्ट उद्देश्य सिद्ध नहीं होने पाते, वे सब तान्त्रिक प्रयोग, प्राकृतिक बहुदेववाद प्रचलित हो जाने पर भी, बराबर पहले की तरह चलते रहते हैं और उनमें कुछ भी कमी नहीं होने पाती यद्यपि प्राय: सभी देशों के धर्मों में अब तक अनेक प्रकार के और बहुत बडे बडे परिवर्तन हो चुके हैं, परन्तु फिर भी आज दिन तक सब जगह इस प्रकार के तान्त्रिक प्रयोग प्रचलित दिखाई देते हैं और सब जगह उन्होंने अपने लिए मानों स्थायी रूप से स्थान बना लिया है। परन्तु जिस प्रकार के बहुदेववादों का हम इस समय जिक्र कर रहे हैं, उनमें भूत-प्रेतों के उपद्रवों से बचने के लिए लोग देवताओं से भी प्रार्थना करते हैं। कभी कभी तो भूत-प्रेतों को भगानेवाले मन्त्रों में देवताओं का केवल नाम ही

---

* देवताओं के रूपों, नामों और कार्यों आदि के इस प्रकार के परिवर्त्तनों के उदाहरण अधिकतर प्राचीन असीरिया, वेबिलोनिया और मिस्र में ही पाये जाते हैं।—अनुवादक।

सम्मिलित कर दिया जाता है और समझा जाता है कि देवताओं के नाम की दुहाई देने से ही भूत-प्रेत भाग जायंगे या उनके उपद्रव शान्त हो जायंगे; और कभी कभी भूतों आदि को भगाने के लिए कुछ ऐसे स्वतन्त्र कृत्य भी किये जाते हैं, जिनका स्वरूप विशिष्ट रूप से धार्मिक होता है। और अन्त में धर्म के द्वारा लोगों को यह बतला दिया जाता है कि भूत-प्रेतों आदि में कोई ऐसी स्वतन्त्र शक्ति नहीं है जिससे वे मनुष्यों का अपकार कर सकें या उन्हें हानि पहुंचा सकें। और इसके बदले में लोगों के मन में यह बात अंकित करने का प्रयत्न किया जाता है कि जब मनुष्य अपने किसी अनुचित कृत्य के कारण देवताओं को अप्रसन्न करते और उनके कोप के भाजन बनते हैं, तब उन देवताओं की प्रेरणा से ही और देवताओं के कोप का बदला चुकाने के लिए ही भूत-प्रेत अनेक प्रकार के उपद्रव करते हैं और देवताओं की दृष्टि में अपराध करनेवाले लोगों को हानि तथा कष्ट पहुंचाते हैं। तात्पर्य यह कि भूत-प्रेतों का उपद्रव केवल देव-ताओं की प्रेरणा से ही होता है। परन्तु जन-साधारण का आरम्भ से ही हो जो यह विश्वास चला आता है कि भूत-प्रेत स्वयं ही और स्वतन्त्र रूप से सब उपद्रव करते हैं, वह विश्वास ऊपर बतलाये हुए सिद्धान्त से कभी निर्मूल न हो सका—यह सिद्धान्त कभी उस पुराने विश्वास का स्थान ग्रहण न कर सका।

कभी कभी कुछ लोग कहा करते हैं कि धर्म और मन्त्र-तन्त्र में आदि से अन्त तक बराबर एक बहुत प्रबल विरोध बना रहता है। लोगों की यह धारणा या मत मन्त्र-तन्त्र की उस व्याख्या के कारण होता है, जिसमें विरोध का भाव पहले से ही वर्त्तमान रहता है। कहा जाता है कि प्राकृतिक धर्म वास्तव में सामाजिक होता है और उसका अन्तिम उद्देश्य यही है कि जन-साधारण का अर्थात् सब लोगों का कल्याण और मंगल हो। और मन्त्र तन्त्र के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि वह सामाजिकता का

विरोधी है और उसका प्रयोग ऐसे उद्देश्यों की सिद्धि के लिए किया जाता है जो समाज के हित के विपरीत या विरोधी होते हैं और उनसे प्रायः दूसरों को सदा हानि ही हानि पहुँचती है। इसी लिए समाज स्वयं अपनी रक्षा के विचार से मन्त्र-तन्त्र के समूल नाश का प्रयत्न करता रहता है और धर्म उसे देवताओं के लिए अनिष्टकारक और निन्दनीय समझता है। परन्तु हमने अब तक "तन्त्र" शब्द का प्रयोग बराबर अधिक विस्तृत और विशद अर्थ में किया है; और इसी लिए हम कह सकते हैं कि मन्त्र-तन्त्र का प्रयोग सामाजिक हित के कामों के लिए भी किया जा सकता हैं और समाज के हित के विरोधी कामों के लिए भी किया जा सकता है; और इसी लिए वह अधिकांश में स्वयं धार्मिक कृत्यों के अन्तर्गत ही रहता है और उन्हीं में सम्मिलित हो जाता है। मन्त्र-तन्त्र के भी दो विभाग या अंग होते हैं। उसके विभाग या अंग में तो वे क्रियाएँ होती हैं, जिन्हें हम निवारक कह सकते हैं। जैसे व्यक्तियों या दलों पर भूत-प्रेतों के जो आक्रमण और प्रहार होते हैं, उन्हें दूर करना अथवा खाद्य पदार्थों की वृद्धि सरीखे उत्पादक कार्यों में उसका प्रयोग करना; और दूसरे विभाग या अंग में वे क्रियाएँ होती हैं जो दूसरों को हानि पहुँचाने के उद्देश्य से की जाती हैं; और लोगों ने इन दोनों प्रकारों का भेद बहुत पहले ही समझ कर तन्त्र-मन्त्र के दो विभाग कर लिए थे। अँगरेजी में पहले प्रकार के लिए White or licil शब्द का प्रयोग किया जाता है और दूसरे प्रकार के लिए Black Art शब्द प्रयुक्त होता है। हमारे भारतवर्ष में भी मन्त्र-तन्त्र का प्रचार बहुत प्राचीन और वैदिक काल से चला आता है और अथर्व वेद में भी अनेक प्रकार के मन्त्र-तन्त्र तथा तान्त्रिक प्रयोग आदि मिलते हैं। हमारे यहाँ उक्त दोनों प्रकार के तन्त्रों के नाम क्रमशः दक्षिणोपचार और वामोपचार हैं। इन्हीं को दक्षिण तन्त्र और वाम तन्त्र भी कहते हैं।

हम इस पुस्तक के आरम्भ में ही इस बात का उल्लेख कर चुके हैं कि प्राचीन काल के लोग प्राय: उत्पादक तन्त्र का प्रयोग किया करते थे, अर्थात् वे अपने पशुओं, धन धान्य और उपजों की वृद्धि के लिए भी अनेक प्रकार के तन्त्रोपचार करते थे। स्पेन्सर (Spencer) और गिल्लन (Gillen) ने अनेक ऐसे कृत्यों के उल्लेख किये हैं जो मध्य आस्ट्रेलिया के फिरकों में प्रचलित हैं; और वे सब कृत्य इसी उत्पादक प्रकार के हैं। मध्य आस्ट्रेलिया में रहनेवाला प्रत्येक फिरका या दल कुछ ऐसे विशिष्ट तान्त्रिक प्रयोग करता है जिसके फल-स्वरूप कुछ विशिष्ट जातियों के पशुओं की वृद्धि होती है अथवा कुछ विशिष्ट प्रकार के अनाज खूब पैदा होते हैं। संसार के अनेक भागों में कुछ विशेष प्रकार के नृत्य होते हैं जिन्हें हम धान्य-नृत्य (Corn-dances) कह सकते हैं; और उनके नर्तकों का यह विश्वास होता है कि इस प्रकार के कृत्यों से अनाज की पैदावार खूब बढ़ती है।

जब लोग कई तरह के पशुओं को अपने घरों में पालने लगे, तब वे यह भी समझने लगे कि कुछ विशिष्ट पशु केवल अपनी जाति के पशुओं की ही वृद्धि नहीं करते, बल्कि उनके द्वारा वनस्पतियों और अनाजों की वृद्धि में भी यथेष्ट सहायता मिलती है। इस प्रकार के पशु विशेषत: वही होते थे जिनमें सन्तान उत्पन्न करने की योग्यता या सामर्थ्य और प्रवृत्ति विशेष रूप से होती थी और इस प्रकार के पशुओं में मुख्यत: साँड और बकरे ही आते हैं। यही कारण था कि पशु-पालन करनेवाले फिरकों में ये पशु देवताओं के रूप में माने जाने लगे थे; और आगे चलकर उनके खेती-बारी करनेवाले उत्तराधिकारी भी उन पशुओं को दे ताओं के रूप में ही मानते रहे, क्योंकि उन्हें भी अपने खाद्य पदार्थों के लिए बहुत कुछ इन पशुओं के झुंडों पर ही निर्भर रहना पडता था। जिस समय लोग पशु–पालन करते थे, सम्भवत: उसी समय पशुओं के पहले बच्चे को बलिदान करने की प्रथा चली थी; और

आगे चलकर जब वे लोग खेती-बारी भी करने लगे, तब इस प्रकार के बलिदान के साथ साथ देवताओं को नया अनाज भेंट चढाने की भी प्रथा चल पडी थी। इन प्रथाओं के मूल में लोगों की यह धारणा काम करती थी कि यदि देवताओं को आगे पहले बच्चे का बलिदान न चढाया जायगा या उन्हें नया अनाज भेंट न किया जायगा और हम अकेले ही इन सब वस्तुओं का भोग करने लगेंगे तो हमारी गौएं, बकरियां आदि बाँझ हो जायंगी या खेतों में पैदावार ही न होगी। जहां तक प्रमाणों से पता चलता है, इसका एक कष्टकर परिवर्द्धित रूप पहले पहल होनेवाले पुत्रों का बलिदान भी था जो समाज की सभ्यता के दिनों में भी प्रचलित था। जिस युग में हमें इस प्रकार की बातों का पता चलता है, उस युग में यह समझा जाता था कि मनुष्यों को होनेवाली पहली सन्तान भी और पशुओं को होनेवाली पहली सन्तान भी देवताओं के सामने बलिदान कर देना आवश्यक है, क्योंकि उनके भोग के भागी देवता ही होते हैं।

एक और प्रकार का तान्त्रिक प्रयोग भी लोगों में प्रचलित था जिस का प्रयोग खेतों की उर्वरा शक्ति बढाने के लिए होता था और जिसे हम उर्वर तन्त्र (Fertility Magic) कह सकते हैं। तन्त्र का यह प्रकार भी अन्त में धर्म के ही अन्तर्गत हो गया था और धर्म ने उसे ग्रहण कर लिया था। इस का आधार आदिम काल के लोगों की उस धारणा पर था जिसे हम " प्राकृतिक सहानुभूति " वाला सिद्धान्त कह सकते हैं; और ज्यादा ठीक तरह से जिसकी व्याख्या इस प्रकार हो सकती है कि आदिम काल के लोग यह समझते और मानते थे कि प्रकृति के समस्त क्षेत्रों में–पशु–जगत में भी और वनस्पति जगत में भी–उत्पादन या जनन की क्रिया बिलकुल एक ही सी और समान होती है। इसी के परिणाम-स्वरूप लोगों का यह विश्वास हो गया था कि यदि बीज बोने के साथ ही साथ मनुष्य भी अपना प्रजजनवाला कार्य सम्पादित करें तो बीजों

में अंकुर भी जल्दी निकलेंगे और उनसे फसल भी काफी पैदा होगी और इसी लिए कुछ देशों में किसी समय यह प्रथा भी प्रचलित थी कि जब खेतिहर लोग अपने खेतों में बीज बोते थे, रात के समय वे वहां स्त्री-समागम भी करते थे। इस प्रकार के कृत्यों के थोड़े-बहुत क्षीण रूप आधुनिक युरोप के कई भागों में अब भी प्रचलित हैं।

जब कृषि-कर्म से सम्बन्ध रखनेवाले धर्म का विकास हुआ, तब इस पुराने उर्वर तन्त्र को, जिसका आरम्भ में भूतात्माओं अथवा देवताओं के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं था, किसी ऐसे देवता के साथ सम्बद्ध कर दिया जाता था जो जन-साधारण के विश्वास के अनुसार कृषकों की उपज बढानेवाला माना जाता था। उदाहरण के लिए इस तन्त्र का सम्बन्ध भूमि की अधिष्ठात्री देवी के साथ अथवा अनाजों के अंकुरित होने की ऋतु से सम्बद्ध किसी नाक्षत्रिक देवता के साथ स्थापित कर दिया जाता था और इस बात का कुछ भी विचार नहीं किया जाता था कि और और बातों के साथ उस देवता का किस प्रकार का सम्बन्ध है। पश्चिमी रशिया में इस प्रकार के तांत्रिक प्रयोगों का सम्बन्ध प्रायः उर्वरा शक्ति से सम्बन्ध रखनेवाली एक ऐसी बडी देवी के साथ स्थापित कर दिया जाता था जिसकी पूजा बहुत से स्थानों में अनेक भिन्न भिन्न नामों से हुआ करती थी। पर यह बात नहीं थी कि यह सम्बन्ध केवल इसी देवी के साथ स्थापित किया जाता हो। इसके सिवा कुछ और भी देवी-देवता थे जिन के साथ इसका सम्बन्ध जोड दिया जाता था।

जो लोग कस्बों में रहने लग गये थे, वे अपने कस्बे में ही कुछ पवित्र स्थान या मन्दिर आदि नियत कर लेते थे, जहां वे अपने कृषि सम्बन्धी उत्सव मनाया करते थे। वहीं वे इस प्रकार के तान्त्रिक कृत्यों के साथ साथ कृषि सम्बन्धी अपने दूसरे तान्त्रिक प्रयोग तथा पूजाएं आदि भी करते थे। इस प्रकार जब ये कृत्य खेतों से हटा दिये गये और उनके

बदले में सार्वजनिक पूजन और उपासना के किसी विशिष्ट स्थान में किये जाने लगे, तब उनका आदिम कालवाला विशिष्ट महत्व और भाव नष्ट हो गया। देवालयों से सम्बन्ध रखनेवाले व्यभिचारका यह भी एक मूल कारण है; और कदाचित् सबसे पुराना कारण है; और सम्भवतः इसी की छाया उन "पवित्र विवाहों" और उन पौराणिक कथाओं में देखने में आती है जिनमें अप्सराओं अथवा मानव जाति की स्त्रियों के साथ देवताओं के सम्भोग का वर्णन होता है। इस के सिवा इसके कुछ और भी मूल कारण हैं, परन्तु यहां उनका विवेचन करने की आवश्यकता नहीं है।

इस प्रकार के कृत्य मुख्यतः कृषि-कर्मवाली अवस्था में ही देखने में आते हैं और बराबर उच्च धर्मों में भी बने रहते हैं। बहुत से देशों में अनेक रूपों में जो लिंग-पूजा प्रचलित थी, कुछ लोग कहा करते हैं कि उसी का अवशिष्ट रूप यह उर्वर तन्त्र है जिसमें पैदावार बढाने के लिए स्त्री-पुरुष समागम करते हैं। परन्तु उनका यह मत ठीक नहीं है। इस लिंग-पूजा के सम्बन्ध में आधुनिक काल के कुछ लेखकों का यह मत है कि यह भी आदिम काल का एक धर्म था; और कुछ लोग तो यहां तक कहते हैं कि आदिम काल में सब लोगों में एक मात्र यही धर्म प्रचलित था और इस धर्म की ओर लोग प्रजननवाले रहस्य की प्रेरणासे प्रवृत्त हुए थे। परन्तु हमारी समझ में यह बात भी ठीक नहीं है। वास्तव में आदिम काल के और जंगली लोग बहुत कुछ स्वस्थ और अच्छे पशुओं के ही समान हुआ करते हैं और पशुओं की ही तरह वे लोग भी कामुकता से रहित होते हैं। कामुकता तो वास्तव में जीर्ण-शीर्ण और ध्वंस होनेवाली सभ्यता में ही होती है और अपकर्ष या पतन की सूचक है।

एक और प्रकार का उर्वर तन्त्र भी आदिम काल के लोगों में प्रचलित था; और आगे चलकर कुछ देशों में नर-बलि की जो प्रथा प्रचलित

हुई थी, उसके कई मूल कारणों में से एक कारण इस प्रकार का उर्वर तन्त्र भी था। उदाहरण के लिए बंगाल की कान्ध (?) नामक जाति में किसी समय यह प्रथा प्रचलित थी कि वे बलि चढाने के लिए किसी आदमी को खरीद लेते थे और उसे मारकर उस का मांस इसलिए गांव के सब खेतिहरों में बांट देते थे कि वे अपने अपने खेतों में वह मांस गाड़ दें। इस प्रकार के कुछ कृत्योंने मिलकर अब ऐसे बलिदान का रूप धारण कर लिया है जो भूमि की अधिष्ठात्री देवी के उद्देश्य से किया जाता है; परन्तु जान पडता है कि इसका आदिम अंश शुद्ध तान्त्रिक था, क्योंकि प्राचीन काल में लोगों का यह भी विश्वास होता था कि यदि मांस और रक्त अथवा उन की राख जमीन में गाड दी जाय तो इससे खेतों की पैदावार अच्छी होती है।

कुछ बर्बर जातियों की सभ्यताओं में अनाज की पैदावार बढाने के लिए सार्वजनिक धर्म में नर-हत्या का बहुत बडा स्थान था और इस काम के लिए वे लोग खूब नर-हत्याएं करते थे; और इन नर-हत्याओं को आगे चलकर पूर्ण रूप से बलिदान के रूप में परिवर्त्तित कर दिया गया था। मेक्सिको की कुछ पूजा-प्रणालियां ऐसी हैं जिनमें बलि चढाये जानेवाले मनुष्य को लोग बनस्पतियों और धान्यों का देवता मानते हैं और अन्त में सूर्य देवता के उद्देश्य से बलि चढाते हैं; परन्तु यह कदाचित् ऐसे तान्त्रिक प्रयोगों का विकास था जो आरम्भ में कृषि की उन्नति के लिए किये जाते थे। परन्तु देवताओं को भेंट चढाने के उद्देश्य से ही मनुष्यों का जो बलिदान होता था, वह साधारणतः जंगलीपन की अवस्था में नहीं, बल्कि सभ्यता की अवस्था में ही दिखाई पडता है। इसके सिवा लडाई में जो लोग कैद किये जाते थे, उन्हें भी लोग स्वयं अपने पक्ष के निहत योद्धाओं की आत्माओं को सन्तुष्ट करने के लिए कुछ विशिष्ट तान्त्रिक कृत्यों के उपरान्त मार डाला करते थे; और इस प्रकार की

हत्याओं की प्रथा भी बहुत पुरानी है। इसके अतिरिक्त कुछ देशों में यह भी प्रथा थी कि जब कोई राजा या सरदार मर जाता था, तब उसके साथ उसकी औरतों, गुलामों, नौकर-चाकरों और कर्मचारियों को भी इसलिए मार डालते थे कि वे भी उस राजा या सरदार के साथ परलोक में जाकर रहें और उस की सेवा करें। परन्तु इस प्रकार की हत्याओं को हम बलिदान के अन्तर्गत नहीं ले सकते और न हम उन्हें ठीक ठीक "बलिदान" ही कह सकते हैं।

निवारक तन्त्र की बहुत सी बातें भी किसी रूप में बहुत से कृत्यों में अवशिष्ट रह जाती हैं और जब वे धर्म में ले ली जाती हैं, तब प्राय-श्चित्तात्मक हो जाती हैं। कुछ बातें ऐसी होती हैं जिन्हें लोग अपने अनुभव का भ्रमपूर्ण अर्थ लगाने के कारण-परम भीषण समझते हैं अथवा लोगों को जिन्हें परम भीषण समझने की शिक्षा मिलती है। उदाहरण के लिए मृत्यु की उपस्थिति या सामीप्य है; और इसी लिए हमारे यहां हिन्दुओं में शवको छूने के उपरान्त नहाने की प्रथा है। इस प्रकार की बातों के सम्बन्ध में लोगों का यह विश्वास था कि जो लोग इस तरह की बातों या घटनाओं के क्षेत्र में आ जाते हैं, उनमें एक प्रकार की शारीरिक छूत लग जाती है और वह छूत शरीर से दूर भी की जा सकती है। इसके बाद यह माना जाने लगा था कि इस प्रकार की छूत भूत-प्रेतों के कारण लगती है और भूत-प्रेत सम्बन्धी उपायों से ही उसका प्रतिकार भी हो सकता है। फिर अन्त में यह समझा जाने लगा था कि भूत-प्रेतों से सम्बन्ध रखने-वाली वस्तुओं के साथ यदि मनुष्य का सम्पर्क ही हो जाय तो देवता उस मनुष्य से अप्रसन्न हो जाते हैं; और इसी लिए ऐसे मनुष्यों को प्रायश्चित्त करने की आवश्यकता होती थी। इस प्रकार पुराने कृत्यों का अब एक नया अर्थ और नया महत्व हो गया था। इस प्रकार की अपवित्रताओं, छूतों और पापों आदि से मुक्त होने का एक विशेष प्रकार था जो बहुत

दूर दूर के देशों में अनेक रूपों में प्रचलित था। इस प्रकार के प्रायश्चित्तों का बहुत कुछ वर्णन ईसाइयों की प्राचीन धर्म-पुस्तक (Old Testament) में भी मिलता है। इसे अंग्रेजी में Scapegoat rites कहते हैं और हिन्दी में हम इसे पाप-अजा-कृत्य कह सकते हैं*। कुछ देशों में यह भी प्रथा है कि लोग अपने सब प्रकार के कष्ट और अनिष्टकारक कर्म-फिर चाहे वे चेचक आदि संक्रामक रोगों के रूप में हों, चाहे भूत-प्रेतों के प्रभावों के रूप में हों और चाहे धार्मिक पापों या अपराधों के रूप में हों एक नाव पर लाद देते हैं और उस नाव को ही किसी नदी या समुद्र में आप से आप बहने के लिए छोड देते हैं अथवा उन्हें किसी पशुपर लाद देते हैं और उसे हांककर बहुत दूर भगा देते हैं; अथवा कभी कभी उस पशु को इसलिए मार भी डालते हैं जिसमें वह उन पापों या अनिष्टकारक कर्मों को लेकर फिर लौट न आवे। इसी प्रकार कुछ देशों में ऐसे पापों और अनिष्टकारक कर्मों को किसी मनुष्य के सिर पर लादकर उसे मार डालने की प्रथा भी प्रचलित थी; और इस प्रथा को भी कुछ लोग भूल से नर बलि के ही अन्तर्गत मान लेते हैं।

धर्म जब बहुदेववादवाली अवस्था में आकर पहुंचते हैं, तब उन में परस्पर इतने अधिक भेद उत्पन्न हो जाते हैं, जितने भेद पहलेवाली अवस्थाओं में बिलकुल नहीं होते थे। भिन्न भिन्न ऐतिहासिक, सामाजिक,

---

* यह कृत्य प्राचीन काल के यहूदियों में प्रचलित था और वर्ष में एक बार होता था। इसमें उन का एक बडा धर्म-पुरोहित सब लोगों के पाप एक बकरी के सिरपर लाद देता था और तब वह बकरी जंगल में छोड दी जाती थी। इस प्रकार **लोग समझते थे** कि हमारे सिर के सब पाप और दोष उतरकर उस बकरी के सिरपर चले गये और हम लोग उनसे सदा के लिए मुक्त हो गये।—अनुवादक।

और आर्थिक परिस्थितियों में भिन्न भिन्न जातियां अपनी सभ्यता का विकास करने लगती हैं और सब जातियां अपना अपना विशिष्ट और एक दूसरे से बहुत भिन्न रूप धारण कर लेती हैं और उनकी व्यक्तिगत विशेषताएं बराबर बढती जाती हैं। ऐसी अवस्था में जिस प्रकार उनकी और सब बातों में एक दूसरे से बहुत अधिक भेद हो जाते हैं, उसी प्रकार उनके धर्मों के रूप भी एक दूसरे से बहुत भिन्न हो जाते हैं। परन्तु यह विषय बहुत ही विस्तृत है और यहां हम इसका विवेचन नहीं कर सकते। हमने यहां यही बतलाया है कि धर्म के इस अंग का विकास किन मुख्य मुख्य दिशाओं में होता है; और हमारे पाठकों के लिए यही यथेष्ट होना चाहिये।

चौथा प्रकरण

नैतिक आचरण और धर्म

पहले के प्रकरणों में कई स्थानों पर हमने प्रसंग-वश नैतिक आचरण और धर्म के पारस्परिक सम्बन्धों की चर्चा की है; परन्तु यह विषय इतने अधिक महत्व का है कि स्वतन्त्र रूपसे इसका पूरा पूरा विवेचन करने की आवश्यकता है। "नैतिक आचरण," "नीति," "आचार शास्त्र" और "आचार सम्बन्धी" आदि ऐसे शब्द हैं कि यदि इनकी व्युत्पत्ति और मूल अर्थों पर विचार किया जाय तो पता चलता है कि ये उन विचारों के सूचक हैं जो समाज की प्रथाओं और रीति-रवाजों के सम्बन्ध में आरम्भिक काल में लोगों में प्रचलित थे। मनुष्यों का कोई समाज, चाहे वह कितने ही प्रारम्भिक और आदिम रूप में क्यों न हो, बिना कुछ प्रथाओं और रीति रवाजों के कभी

बना नहीं रह सकता; और उन प्रथाओं तथा रीति-रवाजों का पालन करने के लिए उस समाज के सब व्यक्ति बाध्य होते हैं और स्वभावत: अथवा अभ्यास-वश वे बराबर उनका पालन भी करते हैं। आदिम काल की नीति केवल इस प्रकार की प्रथाओं के पालन में ही है; इसके सिवा वह और किसी बात में नहीं है। आदिम काल के लोगों की बहुत सी प्रथाएं और प्रणालियां ऐसी हैं जिनका नैतिक आचरण या सदाचार से कुछ भी सम्बन्ध नहीं और उनकी बहुत सी प्रथाएं और प्रणालियां ऐसी भी हैं जो हमारे आचार शास्त्र के इतने विरुद्ध पडती हैं कि हम उन्हें नीति विरुद्ध और अनाचारपूर्ण कहकर उनकी निन्दा करते हैं। परन्तु यदि हम इतिहास की कसौटी पर जांच करें तो हमें पता चलता है कि ऊपर बतलाई हुई दोनों प्रकार की प्रथाएं प्रणालियां नीति-संगतथीं और इसी कारण सब लोगों के लिए उनका पालन करना एक आवश्यक कर्तव्य होता था। प्रथा या रूढि का आशय इस से भी कुछ और बढकर है। अभ्यास के कारण प्रथा या रूढि मनुष्य के लिए एक दूसरी प्रकृति या स्वभाव का रूप धारण कर लेती है—उसके लिए वह प्रकृति या स्वभाव के समान ही हो जाती है। और लोग उनका पालन एक ऐसी सहज बुद्धि या सहज स्वभाव के कारण करते हैं जो उन में प्राकृतिक रूप से तो नहीं होता, परन्तु फिर भी जिसे वे लोग अर्जित कर लेते हैं। तात्पर्य यह कि लोग उनका पालन बहुत कुछ स्वाभाविक तथा आवश्यक रूप से करने लगते हैं।

बहुत सी प्रथाएं ऐसी होती हैं जो समाज के कल्याण के लिए बल्कि उसके स्थायी रूप मे बने रहने के लिए भी, नितान्त आवश्यक होती हैं; और इस क्षेत्र में जब उन नैतिक सिद्धान्तों या नियमों का भंग होता है, तब सब लोग उसके लिए क्रोध और असन्तोष प्रकट करते हैं। समाज का यह क्रोध और असन्तोष उसकी आत्म-रक्षावाली सहज बुद्धि की तात्कालिक प्रतिक्रिया का ही फल होता है; और यही क्रोध तथा असन्तोष

उन नियमों या सिद्धान्तों का भंग करनेवालों को समाज की ओरसे दंड दिलाता है। कभी कभी तो यह दंड इस सीमा तक पहुंच जाता है कि लोग उस नियम भंग करनेवाले को मार तक डालते हैं अथवा उसे भीषण अपराधी समझकर समाज से बहिष्कृत कर देते हैं और सामाजिक सुभीतों से वंचित कर देते हैं। इसके विपरीत समाज के सब लोग अपने नैतिक सिद्धान्तों या नियमों के प्रति आस्था और निष्ठा का अनुभव करते हैं और अपनी वह आस्था तथा निष्ठा समय समय पर प्रकट भी करते रहते हैं। उनकी यह आस्था और श्रद्धा अनेक रूपों में प्रकट होती है। वे खून का बदला बहुत जल्दी और निष्ठुरतापूर्वक चुकाते हैं, आत्म-रक्षा के समय अथवा दूसरों पर आक्रमण करने के समय पूरी पूरी वीरता दिखलाते हैं और आदिम-कालीन समाज के उदारता, आतिथ्य-सत्कार आदि मूल और शान्तिपूर्ण गुणों का प्रदर्शन करते हैं। तात्पर्य यह कि नैतिक सिद्धान्तों और नियमों के अनुसार जितने प्रकार के आचरणों और व्यवहारों की आवश्यकता होती है, उन सबका पूरा पूरा और बहुत अच्छी तरह से पालन करते हैं और इन सब बातों में औरों के लिए बहुत अच्छा आदर्श उपस्थित करते हैं।

लोगों के अच्छे कामों से समाज खुश होता है और बुरे कामों से नाराज होता है; और इस खुशी नाराजगी के कारण समाजवाले अपने हृदय के राग-विराग आदि जो भाव प्रकट करते हैं, वे कृत्य कर्त्ता और परिस्थितियों के अनुसार तीव्र या कोमल होते हैं। इस सम्बन्ध में महत्वपूर्ण बात यह है कि इस प्रकार की अनुभूतियां समाज के सब लोगों को समान रूप से होती हैं; और जब समाज की सारी जनता में क्रोध या आनन्द की कोई भावना पूरी तरह से फैल जाती है और वह जनता किसी कार्य के द्वारा अपना वह क्रोध या आनन्द प्रकट करने लगती है, तब उन लोगों के मनोविकारों की तीव्रता बहुत बढ़ जाती है। उदाहरण के लिए जब

किसी अपराधी को लोग पत्थर मार मारकर हत्या करने लगते हैं, उस समय इन मनोविकारों का तीव्र रूप भली भांति देखने में आता है। हत्या के उस काम में सभी लोग बडे उत्साह से सम्मिलित होते हुए दिखाई देते हैं। इस प्रकार सभी लोगों के मन पर निहत व्यक्ति के अपराध की भीषणता की छाप बहुत अच्छी तरह बैठ जाती है सब लोग समझ जाते हैं कि इसने बहुत भीषण अपराध किया था; ऐसा अपराध किसी को नहीं करना चाहिए और जो ऐसा अपराध करेगा, वह इसी प्रकार के दंड का भागी होगा।

यदि मौलिक और आरम्भिक नीतिमत्ता के इस वर्णन में हम अपने परिचित वर्गों या विभेदों से काम लें तो जिन कामों से सारा समाज नाराज होता है, उन्हें हम अनुचित या खराब कह सकते हैं; और जिन कामों से सब लोग प्रसन्न होते हैं या जिनकी प्रशंसा करते हैं, उन्हें हम उचित या अच्छा कह सकते हैं। पर इस सम्बन्ध में हमें सदा इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि केवल उसी दल या समाज के लोगों के ही विचार से वे बातें अच्छी या बुरी होती हैं और उसी समाज में वे अच्छी या बुरी मानी जाती हैं। तात्पर्य यह कि उन सब बातों का विश्व-व्यापक रूप से अच्छा या बुरा होना आवश्यक नहीं है। बहुत सी बातें ऐसी होती हैं जो एक समाज या दल में तो अच्छी समझी जाती हैं, पर दूसरे समाज या दलवाले उसे बुरा समझते हैं।

यहां जिस भाव से हमनें आचरणों आदि को अच्छा या बुरा कहा है, उसी भाव से समाज या दल के लोग अपने प्रत्येक सदस्य या व्यक्ति से इस बात की आशा रखते हैं कि वह केवल अच्छे काम ही करेगा और बुरे कामों से बचेगा। और समाज या दल का प्रत्येक व्यक्ति स-ज्ञान भाव से सब की इसी आशा के अनुरूप काम करता है, इसी से लोगों में

औचित्य की भावना उत्पन्न होती है और लोग अच्छे काम करना नैतिक दृष्टि से अपना कर्तव्य समझते हैं।

बहुत से जंगली समाजों में कुछ विशिष्ट क्रियाओं के द्वारा अपने अपने नैतिक सिद्धान्तों की शिक्षा नव-युवकों को उस समय दी जाती है, जब वे वयस्क होकर समाज के पुरुष वर्ग में सम्मिलित होते हैं। उस समय के अनेक कृत्य प्रायः बहुत कुछ भय उत्पन्न करनेवाले और कष्ट-दायक होते हैं और उनका उद्देश्य यह होता है कि नवयुवक के मन पर बुरे कामों से बचने का ऐसा असर हो जाय जो जल्दी दूर न हो सके। बसूटो* लोगों में नवयुवकों को इस प्रकार की शिक्षा दी जाती है "कभी चोरी मत करो। परस्त्री गमन या व्यभिचार मत करो। किसी की सम्पत्ति आदि का हरण मत करो। अपने मातापिता का सन्मान करो। अपने सरदारों की आज्ञा का पालन करो।" और इसी शिक्षा के साथ साथ इसलिए उन्हें खूब जोरों से कोडे भी लगाये जाते हैं जिसमें सदाचार की ये सब बातें उन्हें सदा स्मरण रहें और वे उन्हें कभी भूल न जाँय। आस्ट्रेलिया के कुछ आदिम निवासी अपने नवयुवकों को शिक्षा देते हैं—"अपने बडों की आज्ञाओं का सदा पालन करो। तुम्हें जो कुछ मिले, उसका उपभोग अकेले मत करो, बल्कि मित्रों को भी उसमें से उचित अंश दो। सदा शान्तिपूर्ण जीवन व्यतीत करो। लडकियों या विवाहित स्त्रियों पर आक्रमण मत करो।" इस प्रकार की नैतिक शिक्षाओं के और भी बहुत से उदाहरण दिये जा सकते हैं। हमारे यहां हिन्दुओं में इसी प्रकार की और भी बहुत सी शिक्षाएँ बालकों को उसी समय दी जाती हैं, जब उनका यज्ञोपवीत संस्कार होता है। मनु के बतलाये हुए धर्म के लक्षण बहुत ही प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार मूसा पैगम्बर की भी नीति सम्बन्धी

---

* दक्षिणी आफ्रिका में बसूटोलैंड (Basutoland) नामक एक छोटासा प्रदेश है और वहीं के निवासी बसूटो कहलाते हैं।—अनुवादक।

दस आज्ञाएँ हैं जिसके दूसरे भाग में कहा गया है-" किसी की हत्या मत करो। व्यभिचार मत करो। चोरी मत करो।" इसराईल के बारह फिरकों में से पुरोहितों का लेवाईट नामक जो एक पवित्र फिरका था, उसके लेविटिकस नामक धर्म-ग्रन्थ के १९ वें अध्याय में इस प्रकार की शिक्षाओं में और भी बहुत सी बातें सम्मिलित की गई हैं और रहन-सहन से सम्बन्ध रखनेवाली बातें भी छोडी नहीं गई हैं। आरम्भिक काल में साधारणत: नीति के साथ ही आचरण सम्बन्धी बातें भी सम्मिलित रहती थीं और लोग दोनों में उस प्रकार का कोई भेद नहीं करते थे, जिस प्रकार का भेद आज-कल किया जाता है। यही बात उन लैटिन नैतिक सिद्धान्तों से भी सिद्ध होती है जिन्हें Mores कहते हैं।

समाज के नैतिक सिद्धान्तों के अनुसार जो काम नहीं करने चाहिएं, उनमें से कोई काम अगर कोई आदमी करता है अथवा उन सिद्धान्तों के अनुसार जो काम करने चाहिएं, उनमें से कोई काम यदि आदमी नहीं करता, तब समाज की ओर से उस पर जो कोप होता है, उसका तो वह अनुभव करता ही है, पर अपने अन्दर से भी उसे अनौचित्य का अनुभव होता है। स्वयं उसके मन में भी एक प्रकार की ग्लानि होती है-उस के मन में अनुताप होता है। हम लोग प्राय: कहा करते हैं कि कोई अनुचित काम करने पर मनुष्य का विवेक उसका तिरस्कार करता है आदमी का मन कचोटता है। सम्भवत: विवेक के इस तिरस्कार और मन के कचोटने का मूल इसी प्रकार का आन्तरिक अनुभव है जो मनुष्य को कोई निन्दनीय काम करने पर होता है। इसके विपरीत जब वह कोई अच्छा काम करता है और समाज उससे प्रसन्न तथा सन्तुष्ट होता है, तब स्वयं उसके मनमें भी प्रसन्नता और सन्तोष होता है और ऐसे कामों का अनुमोदन उसका विवेक भी करता है। जब कोई अच्छा या बुरा काम करने का अवसर आता है, तब मनुष्य पहले से ही समझ लेता है कि यदि मैं यह काम

करूंगा तो इसके फल-स्वरूप मुझे अमुक प्रकार की अच्छी या बुरी अनुभूति होगी; और इसी दृष्टि से मनुष्य का विवेक पहले से ही कह देता है कि अमुक काम करना चाहिए और अमुक काम नहीं करना चाहिए; और अन्त में इसी विचार से लोगों के नैतिक कर्तव्य निर्धारित होते हैं।

ईमानदारी, विश्वसनीयता या एतबार और निष्ठा या कर्तव्य-परायणता आदि बातों में बहुत से जंगली फिरकों के लोग बहुत ऊंचे नैतिक सिद्धान्त रखते हैं और अनेक विकट प्रसंगों पर यह सिद्ध हो चुका है कि वे सदा इन सिद्धान्तों के अनुसार पूरा पूरा काम करते हैं। अर्थात् मौका पडने पर यही साबित होता है कि वे बहुत ही ईमानदार, एतबार करने के काबिल और पूरा पूरा साथ देनेवाले होते हैं। साथ ही उनकी रहन-सहन और तौर-तरीके भी स्वयं उनके समाज के नैतिक सिद्धान्तों की दृष्टि से बहुत अच्छे होते हैं, और प्रायः लोगों को यह कहना पडता है कि जब ऊंचे दरजे के सभ्य पुरुषों के साथ इस प्रकार के जंगलियों का सम्पर्क होता है, तब, उनके अनेक नैतिक गुण भी नष्ट हो जाते हैं और तौर-तरीके भी बिगड जाते हैं। परन्तु यह बात केवल इसी लिए नहीं होती कि नई और ऊंची सभ्यताओं के जिन प्रतिनिधियों से उन्हें काम पडता है, वे लोग स्वयं नैतिक दृष्टि से पतित होते हैं। कभी कभी ऐसा भी होता है कि पादरी आदि बहुत अच्छी नीयत से और उन जंगलियों का सुधार करने तथा उन्हें अच्छा मार्ग दिखलाने के विचार से ही उनमें जाकर निवास करते हैं। परन्तु इसका परिणाम भी यही होता है कि वे जंगली बहुत कुछ नीति-भ्रष्ट हो जाते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि इसका मुख्य कारण यही है कि जब विदेशियों के नैतिक सिद्धान्त और नियम आदि उन जंगलियों में थोडे-बहुत प्रचलित हो जाते हैं, तब वे गड़बड़ी में पड़ जाते हैं और अच्छी तरह यह निश्चय नहीं करने पाते कि वास्तव में आदर्श और कर्तव्य क्या है; और इसी लिए उनके यहां के पुराने नियम और

सिद्धान्त आदि भी उनके लिए बहुत कुछ निरर्थक से हो जाते हैं।

फिरकों के जिस प्रकार के नैतिक आचरणों का हम इस समय विवेचन कर रहे हैं, उनका पूरा पूरा पालन और निर्वाह मुख्यतः दो बातों पर निर्भर होता है। पहली बात तो यह है कि फिरके या समाज के सब आदमी बिलकुल एक ही तरह के–एक ही जाति और एक ही धर्म के–होने चाहिएं, और दूसरी बात यह है कि किसी के अच्छे कामों की प्रशंसा या बुरे कामों की निन्दा समाज के सब लोग मिलकर अर्थात् एक मत होकर और पूरे जोरों के साथ करें। यह नहीं होना चाहिए कि कुछ लोग तो उसकी प्रशंसा या निन्दा करें और कुछ लोग न करें; अथवा कुछ लोग तो खूब जोरों से उसकी प्रशंसा या निन्दा करें और कुछ लोग यों ही ऊपरी मन से कर के रह जांय। हम सब लोग यह बात बहुत अच्छी तरह से जानते हैं कि सामाजिक प्रथाओं आदि के पालन में इस प्रकार की स्थिति बहुत अधिक आवश्यक होती है। समाज के अ-लिखित नियम शुद्ध रूप से रूढ़िगत ही होते हैं–वे रूढियों पर ही आश्रित रहते हैं। वे न तो बुद्धि-संगत ही होते हैं और न नीति–संगत ही, और इसी लिए उनके सम्बन्ध में किसी प्रकार के तर्क–वितर्क या वाद-विवाद की गुंजाइश नहीं रहती। यदि अनजान में किसी सामाजिक नियम आदि के विरुद्ध हमसे कोई काम हो जाता है, तब हमारे मन में जो अनुभूति या भाव उत्पन्न होता है, वह वास्तव में अनुताप या पश्चात्ताप के रूप में होता है और उस अनुभूति या भाव की अपेक्षा प्रायः अधिक तीव्र और कटु होता है, जो कोई ऐसा काम हो जाने पर होता है जो हमारे नैतिक नियमों के विपरीत होता है, परन्तु फिर भी जो हमारे समाज या क्षेत्र में सहज में क्षमा कर दिया जाता है। तात्पर्य यह कि नैतिक नियमों का भंग उतना बुरा नहीं समझा जाता, जितना बुरा सामाजिक नियमों का भंग समझा जाता है। अभी इस बात को सौ वर्ष भी

नहीं बीते होंगे कि पाश्चात्य देशों में ऊंचे से ऊंचे दरजे के लोग भी द्वन्द्व युद्ध में आपस में एक दूसरे को मार डालते थे और इस बात की कोई परवा नहीं की जाती थी कि कानून और धर्म दोनों की ही दृष्टि में इस प्रकार किसी को मार डालना "हत्या करना" कहलाता है। और इसका कारण यही था कि उन दिनों इसी बात में इज्जत समझी जाती थी कि यदि हमारे प्रति कोई कुछ विशिष्ट प्रकार के अपराध करे या हमारे साथ कुछ खास तरह की बुराई करे तो हम उसके साथ द्वन्द्व युद्ध करें। यदि ऐसे अवसर पर अथवा किसी के ललकारने पर कोई आदमी द्वन्द्व युद्ध करने से इन्कार करता था तो वह भला आदमी नहीं समझा जाता था, समाज में बहुत ही तुच्छ दृष्टि से देखा जाता था और समाज से त्यक्त हो जाता था। कम से कम सुनी-सुनाई बातों के आधार पर हम यह भी कह सकते हैं कि ईमानदार जुआरियों तक में जूए और लेनदेन आदि के सम्बन्ध में कुछ बंधे हुए नियम होते हैं और उन नियमों का पालन जुआरियों के लिए आवश्यक होता है। आज-कल के इन उदाहरणों से ही हम यह समझ सकते हैं कि आरम्भिक काल के सामाजिक नियम कितने प्रबल हुआ करते थे और उन नियमों का पालन समाज के सब लोगों के लिए कितना अधिक आवश्यक होता था और वे नियम ही किस प्रकार लोगों से बलपूर्वक अपना पालन करा लिया करते थे। वे नियम ऐसे होते थे कि उनके पालन करने और न करने के सम्बन्ध में कभी किसी प्रकार का विवाद हो ही नहीं सकता था—वे निर्विवाद रूप से पालन करने के योग्य माने जाते थे। उनका नैतिक आदेश पूर्ण और अखंड होता था—किसी के लिए उस आदेश या विधि से बचने की कोई सूरत ही नहीं होती थी। और यदि कभी कोई उन नियमों का भंग करता था तो उसके परिणाम-स्वरूप उसे समाज से बहिष्कृत होना पडता था—वह समाज से अलग कर दिया जाता था।

यह सारा विकास धर्म और उसके अभ्युपगमों से बिलकुल स्वतन्त्र है। न तो यह विकास धर्म की ही प्रेरणा से हुआ है और न उसमें मानी जानेवाली बातों के जोर से ही। धर्म ने न तो कभी उचित और अनुचित या अच्छे और बुरे के विचार की ही सृष्टि की थी और न उसने नैतिक कर्तव्य ही निर्धारित किये थे। न तो उसने लोगों में विवेक ही उत्पन्न किया था और न आदिम-कालीन नीति में सहायता पहुंचानेवाला ही कोई काम था। हाँ धर्म ने कुछ अपनी प्रथाएं और प्रणालियां अवश्य स्थापित की थीं जो समाज के साधारण नियमों का अंग बन गई थीं। विवेक के सम्बन्ध में साधारणतः लोगों की यह धारणा है कि वह एक बहुत उच्च कोटि का और ऐसा ज्ञानातीत नैतिक नियम है जो विशिष्ट रूप से मनुष्य की प्रकृति में ही होता है और उसके द्वारा मनुष्य को आप से आप और अपनी सहज बुद्धि से ही इस बात का पता लग जाता है कि कौनसी बात उचित या अच्छी है और कौन सी अनुचित या बुरी है; और उसमें एक ऐसी शक्ति होती है जिससे उसका आदेश बिलकुल स्पष्ट और सुनिश्चित रहता है। साथ ही उसके पास एक ऐसा शस्त्र या शक्ति रहती है जिससे वह आज्ञा-भंग करनेवाले को अनुताप या पश्चात्ताप के रूप में दंड देता है और इस प्रकार मानों या जान पड़ता है कि स्वयं उसके हृदय के अन्दर ही एक ऐसी दैवी न्यायकारिणी शक्ति उपस्थित रहती है जो आज्ञा-भंग करनेवाले के मन में पश्चात्ताप उत्पन्न करके उसे दंड देती है। विवेक के सम्बन्ध के ये विचार भी मनुष्य के मन में उसी प्रकार उद्भावना के रूप में वर्त्तमान रहते हैं, जिस प्रकार उसकी वह विशिष्ट आन्तरिक शक्ति होती है जो उसे धर्म तथा धार्मिक बातों की ओर प्रवृत्त करती है और जो धर्म के बीज के रूप में उसमें वर्त्तमान रहती है। नैतिक सिद्धान्तों और नियमों आदि का क्षेत्र तो केवल इसी लिए बराबर

बढ़ता गया था कि समाज सभ्यता के क्षेत्र में उन्नति करता जाता था और उसके सम्बन्ध दिन पर दिन अधिक जटिल होते जाते थे।

जंगलियों में जो नियम प्रचलित होते थे, वे सामाजिक दृष्टि से तो मान्य होते थे, परन्तु इसके अतिरिक्त एक और कारण भी था जिससे उन नियमों की मान्यता को और भी अधिक बल प्राप्त हो गया था। जो लोग संस्कृति के निम्नतम तलों पर होते हैं, उनके मन में यह विश्वास तो होता ही है कि हम अमुक अमुक प्रकार के कार्य करके शत्रु और हानिकारक शक्तियों से अपनी रक्षा कर सकते हैं अथवा उन्हें सन्तुष्ट और शान्त कर सकते हैं और कुछ दूसरे उपायों से हम उन शक्तियों से अपने कुछ और काम भी करा सकते हैं, पर साथ ही उनका यह विश्वास होता था कि कुछ ऐसी बातें भी हैं जो हमें कभी नहीं करनी चाहिएं; और यदि हम ये बातें अथवा काम करेंगे तो हम पर बहुत बड़ी आपत्ति आवेगी अथवा हमारा सर्वनाश ही हो जायगा। वे समझते थे कि कुछ ऐसे पदार्थ हैं जिन्हें कभी छूना नहीं चाहिए, कुछ ऐसी जगहें हैं जिनमें कभी जाना नहीं चाहिए और कुछ ऐसे काम हैं जिनसे सदा और सब अवस्थाओं में बचना चाहिए। वे प्राय. देखते थे कि पहले कोई बात होती है और उसके बाद ही कोई और बात या घटना हो जाती है; और इसलिए " वे भ्रम से यही समझ बैठते थे कि पहली बात होने के कारण ही यह दूसरी बात भी हुई है और इन दोनों में कारण तथा कार्य का सम्बन्ध है। मनुष्यों को जो कुछ अनुभव होते हैं, उनका इस प्रकार का भ्रमपूर्ण अर्थ संसार के सभी भागों में लगाया जाता है और अनुभवों के सम्बन्ध का यह हेत्वाभास विश्व-व्यापी है। बस इसी हेत्वाभास के आधार पर लोग यह समझ लिया करते थे कि अमुक अमुक काम करने का बहुत ही भीषण और घातक परिणाम होता है। इस प्रकार का एक

उदाहरण पुराने जमाने की लिखी हुई कुछ किताबों में पाया जाता है। उनमें कहा गया है कि अफ्रिका के पश्चिमी समुद्र-तट पर एक हब्शी रहा करता था। उसे कहीं संयोग से समुद्र के किनार पडा हुआ किसी जहाज का एक पुराना लंगर मिल गया। उसने उस लंगर में से लोहे का एक टुकडा अपनी कुदाली बनाने के लिए काट लिया था। दूसरे ही दिन वह हब्शी अचानक मर गया। बस लोगों ने यही समझा कि यह लंगर में से लोहा काटने के कारण ही मर गया; और साथ ही उन्हों न यह भी समझ लिया कि जो कोई ऐसा काम करेगा, वह भी जरूर मर जायगा। तभी से उन लोगों ने लंगर में से लोहा काटना छोड दिया। जंगलियों के जगत में इसी प्रकार की बहुत सी ऐसी चीजें हुआ करती हैं जिनके सम्बन्ध में उनका विश्वास होता है कि उनमें कोई• गूढ शक्ति रहती है या उसके सम्बन्ध में हम यह कह सकते हैं कि उनके विश्वास के अनुसार उनमें एक प्रकार का तान्त्रिक विद्युत्-प्रवाह होता है और वह उतना ही रहस्यपूर्ण तथा घातक होता है, जितना भौतिक विद्युत्-प्रवाह हुआ करता ह। वे लोग समझते हैं कि यदि इन पदार्थों के साथ हमारा, जान में अथवा अनजान में, जरा सा भी सम्पर्क हो जायगा अथवा यदि हम इन पदार्थों के समीप भी पहुंच जायंगे तो हमारा वह सम्पर्क या सामीप्य ही उन पदार्थों में से उस विद्युत् को प्रवाहित कराने के लिए यथेष्ट हो जायगा। उन पदार्थों को छूते ही या उनके पास पहुंचते ही उसमें से वह घातक विद्युत्-प्रवाह निकल पडगा और उनकी गूढ शक्ति हमारा नाश या अन्त कर डालेगी।

जीव-देह-पार्थक्यवाद की दृष्टि से इसका कारण यह बतलाया जाता है कि उन पदार्थों में जो भूतात्मा निवास करती है, वह हमारे छूने या पास पहुंचने से अपनी व्यक्तिगत क्षति समझती है और इसी लिए हम

पर अपना कोप प्रकट करती है; और जब हम पदार्थ में रहनेवाली भूतात्मावाले विचार से एक कदम और आगे बढते हैं, तब यह मानने लगते हैं कि वह कोई भूतात्मा नहीं बल्कि देवता है, जिसके लिए वह पदार्थ परम पवित्र है और हमारे स्पर्श या सम्पर्क से उस पदार्थ की वह पवित्रता नष्ट होती है जिस से हम पर उस देवता का कोप होता है। ईसाइयों और यहूदियों में एक पौराणिक कथा प्रचलित है जिसमें कहा गया है कि प्रभु (Lord) एक बार एक छकडा-गाडी पर एक सन्दूक में बहुत से धर्मग्रन्थ भरकर कहीं ले जाकर रहे थे। रास्ते में एक जगह वह छकडागाडी कुछ उलटने को हुई। इस पर उज्जाह ने अपना हाथ इसलिए आगे बढाया जिसमें धर्मग्रन्थों से भरा हुआ वह सन्दूक गिर न पडे। परन्तु उस सन्दूक की पवित्रता का उसे ऐसा प्रबल आघात लगा कि अभी उसका हाथ सन्दूक तक पहुंचने भी न पाया था कि वह तुरन्त मर गया। पदार्थों में रहनेवाले इस घातक तरल पदार्थ के लिए जो किसी का स्पर्श या सामीप्य सहन नहीं कर सकता, इबरानी भाषा में जो शब्द है, उसका अर्थ " पवित्रता " ही होता है। इस प्रकार के पवित्र पदार्थों के स्पर्श या सामीप्य के घातक परिणामों के अवश्यम्भावी होने के सम्बन्ध में लोगों का विश्वास इतना अधिक दृढ है कि जब कभी स्वस्थ तथा बलवान पुरुषों ने भी उन पदार्थों के प्रति बिलकुल अनजानमें भी इस प्रकार का कोई अपमानकारक व्यवहार किया है, तब ज्यों ही उन्हें इस बात का पता लगा है कि हमसे भूल से यह अपराध हो गया है, त्यों ही वे गिर पडे हैं और मर गये हैं, और उनके इस प्रकार मरने का कारण यही था कि जब वे यह बात जानते थे कि हमने जो कुछ किया है, उसके फल-स्वरूप हम अवश्य ही मर जायंगे। तात्पर्य यह कि वे मारे दहशत के ही मर गये।

जिन व्यक्तियों, पदार्थों या कृत्यों में इस गूढ घातक शक्ति का निवास होता है, उन्हें प्राय: टैबू (Tabu) कहते है। यह टाबू वास्तव में पोलिनीशियन (Polynesian) भाषा का शब्द है और कहते हैं कि उस भाषा में इसका अर्थ है–" अंकित या चिन्हित " परन्तु अब रूढि और धर्म में इस शब्द का प्रयोग साधारणत: वर्जित के अर्थ में होता है। टैबू शब्द का वर्जन या मनाहीवाला जो अर्थ है, वह तो केवल सामाजिक और गौण है। उसका वास्तविक और मूल अर्थ तो वह अनिवार्य, आप से आप होनेवाला और अतुलनीय या अपरिमित परिणाम है जो किसी की पवित्रता भंग करने से होता है। फिर एक बात यह भी है कि यह परिणाम संक्रामक होता है। आदिम काल में सारा समाज प्राय: सभी दृष्टियों से एक ही माना जाता था; और यदि समाज का कोई आदमी जानबूझकर अथवा संयोग से कोई काम कर बैठता था तो उसका परिणाम उसके परिवार के सब लोगों को, यहां तक कि सारे समाज को भी, भोगना पड सकता था–उस कार्य से उसके परिवार और यहां तक कि समाज का भी नाश हो सकता था। यदि समाज का कोई आदमी इस प्रकार का अनुचित कर्म कर बैठता था तो समाज को यह भय होता था कि कहीं सारे समाज को ही इसका परिणाम न भोगना पडे; और इस भयंकर संकट से बचने के लिए और उसके परिणाम के संक्रमण से अपने आपको प्रक्षालित करने के लिए समाजवाले या तो उस अनुचित कृत्य करनेवाले को मार डालते थे और या उसे समाज से बहिष्कृत कर देते थे। तात्पर्य यह कि किसी न किसी रूप में वे उसके साथ सब प्रकार के सम्बन्धों का परित्याग कर देते थे और उसके किये हुए काम से अपने आपको बरी कर लेते थे।

जिस प्रकार के संस्कारों या विश्वासों का हम इस समय वर्णन कर रहे

हैं, वे नैतिक नहीं हैं, परन्तु फिर भी इस प्रकार के निषेधों का पालन सामाजिक नियमों का एक अंग हो जाता है और आत्म-रक्षावाली आन्तरिक शक्ति ही सब लोगों से बलपूर्वक इसका पालन कराती है। इस प्रकार इसे दोहरा बल प्राप्त हो जाता है और वह पूर्ण रूप से प्रभावशाली भी होता है; और इसी लिए जिन लोगों के हाथमें अधिकार और बल होता है, वे सब लोगों के हित के विचार से अथवा सरदारों या पुरोहितों के विशेष लाभ के विचार से यह प्रथा ऐसे दूसरे बडे बडे क्षेत्रों में भी प्रचलित कर देते हैं जिनमें पहले से इस प्रकार की बातों के लिए कोई प्राकृतिक आधार उपस्थित नहीं रहता। हवाई (Hawaii) टापुओं (प्रशान्त महासागर) में तो यह प्रथा इतने अधिक और असह्य विस्तार तक पहुंच गई थी कि उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में इसने वहां का सारा सामाजिक ढांचा ही नष्ट कर डाला था।

फिर टैबू भी मूलतः धार्मिक नहीं था उसकी उत्पत्ति भी धर्म के क्षेत्र में अथवा धार्मिक विचारों से नहीं हुई थी। परन्तु माना यही जाता है कि यदि कोई मनुष्य किसी भूतात्मा या देवता के क्षेत्र में प्रवेश करे या कोई ऐसा काम करे जो उन्हें अप्रिय हो तो उसके होनेवाले दुष्परिणाम भूतात्माओं या देवताओं के प्रकोप के ही फल-स्वरूप होते हैं और इसी लिए इसका भी धर्म के साथ सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। और जब इस प्रकार की बातें धर्म के अन्तर्गत हो जाती हैं, तब वहां उनके क्षेत्र का और भी अधिक विस्तार हो जाता है और उनका महत्व तथा अभिप्राय बिलकुल बदल जाता है। अब जितनी चीजें विशिष्ट रूप से देवताओं की मानी जाती हैं अथवा जितनी बातें विशिष्ट रूप से उन्हें अप्रसन्न करनेवाली मानी जाती हैं, वे सब इसी प्रकार के निषेध के अन्तर्गत आ जाती हैं। पहले संक्रमण को दूर करने के लिए जो शारीरिक या भौतिक

कृत्य किये जाते थे, वे अब भूत-प्रेतों और उनके प्रभावों को दूर करनेवाले माने जाने लगते हैं और अन्त में प्रायश्चित्त तथा तुष्टि के सब कृत्य देवताओं के उद्देश्य से होने लगते हैं । पाप का भाव इसी प्रकार के विचारों या धारणाओं से उत्पन्न होता है ।

यद्यपि मनुष्य के आचरण को नियन्त्रित रखनेवाले इस प्रकार के निषेध वस्तुतः नैतिक नहीं होते, परन्तु फिर भी बहुत सी ऐसी बातें, जो आरम्भिक काल में और प्रायः सब जगह सब से अधिक निषिद्ध मानी जाती थीं, नैतिक आचरण के क्षेत्र में ही आ जाती हैं । यहां नैतिक आचरण उसी अर्थ में प्रयुक्त किया गया है जिस अर्थ में साधारणतः आज-कल सब लोग उसका प्रयोग करते हैं । उदाहरण के लिए संसार के बहुत से भागों में अब भी यह प्रथा प्रचलित है कि जब कोई आदमी किसी दूसरे को मार डालता है—फिर चाहे वह युद्ध-क्षेत्र में अपने शत्रु को मार डालनेवाला योद्धा ही क्यों न हो—तब उसे समाज में प्रविष्ट होकर अपना पुराना मामूली स्थान फिर से ग्रहण करने से पहले प्रायः प्रायश्चित्तों और शुद्धियों से सम्बन्ध रखनेवाले बहुत से बड़े बड़े कृत्य करने पड़ते हैं । प्राचीन काल के यूनानियों में यह प्रथा प्रचलित थी कि जब किसी आदमी के हाथ से केवल संयोग से भी किसी दूसरे आदमी की हत्या हो जाती थी, तब लोग उसे नर-हत्या का अपराधी तो नहीं समझते थे, परन्तु फिर भी उसे कुछ काल के लिए अपने देश का परित्याग करना ही पड़ता था और किसी विदेशी या अपरिचित से अपनी शुद्धि करानी ही पड़ती थी । इस प्रकार की अवस्थाओं में जो कृत्य किये जाते हैं, उनके स्वरूप या प्रकृति से ही इस बात का पता चल जाता है कि आरम्भ में ये सब कृत्य केवल शारीरिक अपवित्रता दूर करने के लिए ही हुआ करते थे । परन्तु जंगली लोग इस प्रकार के कृत्यों के जो कारण बतलाया करते

हैं, वे प्रायः उनके उसी जीवदेह-पार्थक्य-वाले सिद्धान्त के ही आधार पर होते हैं। वे कहते हैं कि हम ये सब कृत्य इस लिए करते हैं कि जिसमें निहत पुरुष की प्रेतात्मा हमसे दूर रहे अथवा सन्तुष्ट तथा अनुकूल हो जाय। परन्तु यदि कोई अपने ही गोत्र अथवा वर्ग के किसी की आदमी हत्या कर डाले तो साधारणतः यही माना जाता है कि उसका प्रायश्चित्त इस प्रकार के उपायों से नहीं हो सकता। इसमें तो खून का बदला खून से ही चुकाया जा सकता है—इसमें हत्याकारी को मार डालने की ही आवश्यकता होती है।

जंगलियों में प्रायः यह भी नियम होता है कि वे अपने से मिलते-जुलते कुछ विशिष्ट वर्गों या दलों के साथ न तो विवाह-सम्बन्ध ही करते हैं और न उन वर्गों के स्त्री-पुरुष आपस में अनुचित सम्बन्ध ही करते हैं। आज-कल हम लोगों में जो अगम्या-गमनवाला सिद्धान्त प्रचलित है, वही सिद्धान्त आदिम काल के निवासियों में इस प्रकार के निषेधों के रूप में प्रचलित था। अब यदि इस प्रकार के वर्गों में का कोई पुरुष या स्त्री किसी दूसरे वर्जित वर्ग की स्त्री या पुरुष के साथ विवाह कर ले या अनुचित सम्बन्ध स्थापित कर ले तो यह भी एक ऐसा महापातक माना जाता है जिसका कोई प्रायश्चित्त हो ही नहीं सकता। यह बात समाज के मुख्य सिद्धान्तों या नियमों के अन्तर्गत मानी जाती है; और यदि कोई इस सिद्धान्त या नियम का उल्लंघन करे तो उसके दुष्परिणामों से बचने का एक मात्र उपाय यही माना जाता है कि इस प्रकार निषिद्ध विवाह या अनुचित सम्बन्ध करनेवाले पुरुष और स्त्री दोनों को मार डाला जाय। कुछ स्थानों में यह प्रथा भी प्रचलित है कि ऐसा निषिद्ध कर्म करनेवाले पुरुष और स्त्रियां दोनों ही अपने अपने समाज से बहिष्कृत कर दिये जाते हैं और अपने पापों के फल भोगने के लिए बिलकुल छोड़ दिये जाते हैं।

इबरानियों में यह नियम प्रचलित था कि व्यभिचार करनेवाली स्त्री को तो समाज के सब लोग पत्थर मार मारकर खतम कर दिया करते थे, परन्तु और अनेक प्रकार के अगम्यागमनों के लिए कानून की ओर से किसी प्रकार के दंड का विधान नहीं था। इस सम्बन्ध का अशुभ वाक्य इस प्रकार है—"ऐसा पुरुष अपने समाजवालों से बिलकुल अलग कर दिया जायगा।" अर्थात् स्वयं ईश्वर ही उस मनुष्य का अन्त कर डालेगा। इस अभिव्यक्ति या कथन की अपौरुषेयता से यही सूचित होता है कि आदिम काल के मनुष्यों की जो यह धारणा थी कि निषिद्ध विवाह अथवा अगम्यागमन करनेवाला पातकी अपने पातक के भीषण और घातक दुष्परिणाम के फल-स्वरूप आपसे आप नष्ट हो जायगा, उसी धारणा का यहूदियों में फिर से आविर्भाव या प्रचार हो गया था। यहूदियों में इसी प्रकार के बहुत से पातक माने गये हैं, जिन्हें केरिथाथ (Kerithoth] कहते हैं (मिशनाह Mishnah में इस प्रकार के छत्तीस पातक गिनाये गये हैं) और अच्छी तरह देखने से पता चलता है कि आरम्भ में ये सब केवल निषिद्ध कर्म ही थे, परन्तु ऐसे निषिद्ध कर्म थे जिनके सम्बन्ध में यह माना जाता था कि स्वयं इनमें ऐसी दैवी शक्ति वर्तमान है जो इनके कर्त्ताओं को आप से आप दंड दे देती है और अपना बदला चुका लेती है। अन्तर केवल यही है कि इनके सम्बन्ध में यह नहीं माना जाता था कि स्वयं इनमें कोई आन्तरिक घातक शक्ति है, बल्कि उस घातक शक्ति के स्थान पर दंड देनेवाली दैवी या ईश्वरीय शक्ति मानी जाती थी।

देवताओं के जो अपराध किये जाते हैं, उनका बदला तो वे लेते ही हैं, पर कदाचित् इसी प्रकार धीरे धीरे लोग यह भी मानने लगते हैं कि नीति के कुछ दूसरे क्षेत्रों में भी अपराधियों को दंड देते हैं; अर्थात् जब मनुष्य कुछ विशिष्ट नैतिक अपराध करता है, तब उसका दंड उसे

देवताओं की ओर से मिलता है। अथवा यही बात हम दूसरे शब्दों में इसी प्रकार कह सकते हैं कि सामाजिक नियमों में जो इस प्रकार के निषेध हुआ करते हैं और जिनका आधार सामाजिक नहीं बल्कि उससे भिन्न कुछ और ही हुआ करता है, वे निषेध भी आगे चलकर धार्मिक स्वरूप धारण कर लेते हैं। धर्म के क्षेत्र में अनेक बातों के सम्बन्ध में यह माना जाता है कि वे संक्रामक होती है और उनका पाप एक से दूसरे को लगता है तथा वंशानुक्रम से चलता है। यदि कोई आदमी कोई विशिष्ट पाप करता है तो वह पाप उसके लडकों पोतों और पडपोतों तक चलता है और उसके कारण वंश ही पातकी हो जाता है। यदि हम इस प्रकार की धारणाओं के मूल का पता लगाना चाहें तो कदाचित यही सिद्ध होगा कि ऐसी धारणाएं वही टैबूवाली या निषेधात्मक धारणाओं से उत्पन्न होती हैं। यूनानी भाषा के अनेक दुःखान्त नाटकों में इस प्रकार की धारणाओं और भावों की मुख्यता पाई जाती है; और उदाहरण के लिए हम ओएडिपस § का शोचनीय अन्त या एट्रियस * के वंश का विनाश ले सकते हैं।

---

§ ओएडिपस, युनानी अनुश्रुतियों के अनुसार, थीब्स के राजा लेइयस का लडका था और उसकी माता का नाम जोकास्टा था। किसी ने भविष्यद्वाणी की थी कि जोकास्टा के गर्भ से जो पुत्र उत्पन्न होगा, उसी के हाथों लेइयस मारा जायगा। इसी लिए जब जोकास्टा के गर्भ से ओएडिपस का जन्म हुआ, तब लेइयस ने उसके पैर छिदवाकर उसे पहाड पर फेंकवा दिया। वहां कुछ गडेरियों ने उसका पालन-पोषण करके उसे बडा किया। एक अवसर पर ओएडिपस और लईयस का सामना हुआ और उसने अपने पिता को न पहचानकर मार डाला। इसके

आगे चलकर ज्यों ज्यों समाज का राजनीतिक विकास होने लगा, त्यों त्यों इस प्रकार के विचार भी बढनेलगे और उनका बहुत कुछ दूर–

बाद ओएडिपस ने स्फिंक्स नामक विकट जन्तु के हाथों जब थीब्स की रक्षा की, तब थीब्सवालों ने उस पर प्रसन्न होकर उसकी माता जोकास्टा के साथ ही उसका विवाह कर दिया। इसी पातक के कारण उस देश में एक भयंकर महामारी फैली। उस समय किसी भविष्यद्वक्ता ने कहा कि जब तक लेइयस की हत्या करनेवाले का पता न लगेगा, तब तक इस महामारी का अन्त न होगा। इस पर ओएडिपस स्वयं ही लेइयस की हत्या करनेवाले का पता लगाने के लिए निकला। अन्त में टिरेसियस नामक पैगम्बर ने उसे बतलाया कि तुम्हीं लेइयस के लडके हो और तुम्हींने अजान में अपने पिता की हत्या की है। उसी समय उसे यह भी पता चला कि जिस जोकास्टा के साथ मेरा विवाह हुआ है, वह वास्तव में मेरी माता है। इस पर जोकास्टा तो फांसी लगा कर मर गई और ओए-डिपस ने अपने हाथों से अपनी आंखें निकाल कर फेंक दीं।–अनुवादक।

* एट्रियस, पौराणिक कथाओं के अनुसार, पेलोप्स का लडका और टेन्टेलस का पोता था। जब यह माइसेनेई (Mycenae) का राजा हुआ, तब इसने अपने भाई थिएस्टीज को देश–निकाल दे दिया, और तब कुछ दिनों बाद एक दावत करके उसमें थिएस्टीज को भोजन के लिए बुलाया। उस समय उसने थिएस्टीज के ही बाल–बच्चों की हत्या करके और उन्हीं का मांस पकवाकर उसके सामने खाने के लिए परोसवाया। इस भीषण पाप के कारण ही एट्रियस के वंश को देवताओं ने शाप दिया जिससे उसके वंशवरों को बडे बडे कष्ट भोगने पडे और अंत में उस वंश का विनाशही हो गया। –अनुवादक।

व्यापी परिणाम हुआ। जैसा कि हम इससे पहलेवाले प्रकरण में बतला चुके हैं, लोग देवताओं को भी दैवी शासकों के समान समझने लगे। जिस प्रकार सभ्यता की इस अवस्था के मानव शासक समाज के सब प्रकार के प्रचलित नियमों के रक्षक माने जाते थे, उसी प्रकार देवता भी उन नियमों के रक्षक माने जाते थे और उन नियमों का भंग करनेवालों को इस प्रकार का दंड देते थे, जो साधारणतः बदला चुकानेवाली बातों से भिन्न होता था और जिसमें जन-साधारण को भी कुछ दिलचस्पी रहती थी। यह माना जाता था कि इस प्रकार के जो अनुचित कृत्य मनुष्यों की दृष्टि से बच जाते हैं अथवा जो अपराध ऐसे लोगों के प्रति किये जाते हैं जो स्वयं अपनी रक्षा करने में असमर्थ होते हैं, उन पर देवता लोग विशेष ध्यान देते हैं और उन अनुचित कृत्य करनेवालों या अपराधियों को वेही दंड देते हैं। अब भी साधारणतः लोग दूसरों के अत्याचारों से पीडित होने पर और स्वयं उसका प्रतिकार करने में असमर्थ होने पर कहा करते हैं कि इसका बदला ईश्वर अथवा अमुक अमुक देवता लेगा। देवता लोग विशिष्ट रूप से केवल उन्हीं बातों के लिए लोगों को दंड नहीं देते, जिन्हें आज-कल हम लोग अनीति-पूर्ण आचरण कहते हैं, परन्तु फिर भी इस प्रकार के कामों के बदले में देवताओं की ओर से मिलनेवाले दंड की जो धारणा है, उसे इस क्षेत्र में एक और भी विशिष्ट प्रकार का महत्व प्राप्त हो जाता है।

देवता भी पार्थिव राजाओं की भांति शासक समझे जाते हैं और इसी लिए लोग देवताओं से भी यह आशा करते हैं कि वे बिलकुल ठीक ठीक न्याय करते हैं और निष्पक्ष भाव से लोगों को दंड देते हैं। पार्थिव राजाओं और देवताओं में जो इस प्रकारका साम्य स्थापित होता है, उसके कारण लोगों का यह दृढ विश्वास हो जाता है कि देवता लोग पूर्ण

न्यायशील होते हैं और बढते बढते कुछ दिनों में ईश्वर के साथ न्याय का ऐसा अभिन्न सम्बन्ध स्थापित हो जाता है जिसका कभी विच्छेद नहीं होता; और लोग यह मानने लगते हैं कि ईश्वर परम न्यायाशील है और न्याय का विचार उसी से निकला है। इसके सिवा एक अच्छा राजा केवल निष्पक्ष भाव से न्याय ही नहीं करता, वह बुद्धिमत्तापूर्वक और निस्स्वार्थ भाव से अपनी प्रजा के हित-साधन के भी सब काम बराबर करता रहता है, और इसी लिए देवताओं में भी इस आदर्श का आरोप कर दिया जाता है। जिस प्रकार मनुष्य का अत्याचार असह्य माना जाता है, उसी प्रकार देवताओं का अत्याचार असम्भव समझा जाता है और कभी किसी को इस बात की कल्पना भी नहीं हो सकती कि देवता भी कभी किसीपर अत्याचार करते हैं। परन्तु यह एक ऐसा विषय है जिसका विवेचन इस प्रकरण में नहीं हो सकता और इसी लिए यह दूसरे प्रकरण के लिए छोड दिया जाता है।

जब लोगों का यह विश्वास हो जाता है कि देवता लोग समाज के प्रचलित नियमों के केवल संरक्षक ही नहीं हैं और उन नियमों को भंग करनेवालों को वे केवल दंड ही नहीं देते, बल्कि सभी प्रकार के सामाजिक, नागरिक और धार्मिक नियमों तथा विधि-विधानों के कर्त्ता भी हैं, तब लोग यह भी समझने लगते हैं कि उन नियमों का भंग या उपेक्षा करना स्वयं ईश्वर के विरुद्ध अपराध करना है। साधारणत: लौकिक बातों में भी यही माना जाता है कि जो आदमी कानून भी बनाता हो और लोगों पर शासन भी करता हो वह कानून के खिलाफ चलनेवालों को पूरा पूरा दंड देता है। ठीक यही बात ईश्वर या देवताओं के सम्बन्ध में भी मानी जाती है। तिस पर अगर कोई जान-बूझकर इस प्रकार का अपराध करता है, तो वह मानों उसके अधिकार और शक्ति

का मुकाबला करता है और इसी लिए ईश्वर या देवता उससे और भी दूने असन्तुष्ट होते हैं। इस प्रकार जब अनुचित कृत्यों का सम्बन्ध प्रत्यक्ष रूप से ईश्वर के साथ स्थापित हो जाता है, तब वही अनुचित कृत्य पाप या पातक गिने जाने लगते हैं।

बस इसी प्रकार नैतिक आचरण सम्बन्धी बातें अन्त में धर्म के क्षेत्र में जा पहुंचती हैं, और अनीति पूर्ण आचरण धर्म-विरुद्ध समझा जाने लगता है। धर्म में अनीति पूर्ण आचरण का निषेध होता है और उस के लिए दंड का भी विधान होता है। इसका कारण यही है कि जब सभ्यता की यथेष्ट उन्नति हो जाती है, तब उनके मौलिक अधिकार और निषेध आदि नष्ट हो जाते हैं और उन पर धार्मिक अधिकार तथा निषेध की छाप लग जाती है। जैसा कि हम पहले बतला चुके हैं, आरम्भ में बहुत ही छोटे छोटे दलों के ऐसे समाज होते थे जिनमें सब लोग सभी बातों में एक से हुआ करते थे और उनके हित या स्वार्थ भी बहुत ही सीधे-सादे हुआ करते थे और आरम्भिक नीति सम्बन्धी विचार भी इन्हीं परिस्थितियों में उत्पन्न हुए थे और इन्हीं के आश्रित थे। जब बडे बडे नगर बनने लगे और उनमें बहुत सी भिन्न भिन्न जातियों के लोग आकर बसने लगे और उन सब के हित या स्वार्थ भी जटिल हो गये, तब समाज के मत की वह पुरानी शक्ति भी शिथिल पड गई जो पहले सब लोगों को उन नियमों का पालन करने के लिए विवश करती थी। फिर संसार और प्रकृति के कार्यों से सम्बन्ध रखनेवाला ज्ञान भी बहुत बढ गया था जिससे आरम्भिक काल के बहुत से विश्वासों की जड कट गई। अब नैतिक आचरण की बातें दैवी नियम के क्षेत्र में आकर उसका अंग बन गई थीं, तब आरम्भिक काल के सामाजिक नियमों का स्थान केवल धर्म ही ग्रहण कर सकता था और

उसी ने वह स्थान ग्रहण भी कर लिया। परन्तु यह नई धार्मिक मान्यता और निषेध भी तभी तक अपना काम कर सकते थे जब तक लोग स्वयं धर्म का अधिकार मानते थे और जब तक वे खुल्लम खुल्ला यह नहीं कहते थे कि धर्म कोई चीज ही नहीं है। परन्तु धर्म में विशेष रूप से पुराण-प्रेम होता है और वह जल्दी पुरानी बातों को नहीं छोडता, इसी लिए धर्म के द्वारा उन नैतिक आचरण सम्बन्धी बातों ने भी और प्राचीन काल के बहुत से कृत्यों तथा कर्म-कांडों आदि ने भी एक निश्चित और स्थायी रूप धारण कर लिया था, जो अनेक युगों से एकत्र होते चले आते थे और जिनका अभी तक वर्गीकरण नहीं हुआ था। जिन्हें हम लोग आज-कल नैतिक निषेध कहते हैं, वे नीति से इतर बहुत से निषेधों के साथ इस प्रकार मिल-जुल गये थे कि जल्दी अलग ही नहीं किये जा सकते थे। दुर्भाग्य, रोग, पाप, अपराध और दंड आदि सब आपस में ऐसे मिल-जुल गये कि उनका अन्तर ही जल्दी समझ में नहीं आता था और इनमें से किसी एक के लिये जो प्रायश्चित्त आदि निर्धारित हुए थे, वही दूसरी अनेक बातों के लिए भी होने लगे। धर्म को आचार-शास्त्रीय रूप नहीं दिया गया था, बल्कि नैतिक आचरण को धार्मिक स्वरूप दिया गया था। और इसी लिए नैतिक उन्नति के मार्ग में धर्म के कारण प्रायः बहुत बडे बडे विघ्न उपस्थित होते रहे हैं। यह बात उस अवस्था में और भी विशेष रूप से देखने में आती है, जिस अवस्था में नैतिक नियम आदि पवित्र धर्म-ग्रन्थों में सम्मिलित हो कर निश्चित हो जाते हैं; और यह मान लिया जाता है कि इन धर्म-ग्रन्थों के साथ साथ इन नियमों आदि का भी ईश्वर की ओर से विधान अथवा आभास हुआ है और ये सब ईश्वर-कृत हैं। इसका फल यह होता है कि वे नैतिक नियम न तो घटाये या बढाये ही जा सकते हैं और न उनमें किसी प्रकार का परिवर्तन ही

किया जा सकता है। इससे प्राचीन काल की संस्थाओं, नियमों या विधानों और नैतिक सिद्धान्तों पर पूर्णता की छाप लग जाती है और इसी लिए उन सब बातों के साथ धर्म भी जहां का तहां रुका रह जाता है और आगे बढने नहीं पाता।

पांचवां प्रकरण

उच्चतर सभ्यताओं के धर्म

जैसा कि हम पहले के एक प्रकरण में बतला चुके हैं, प्रकृत धर्म जब अपने इस स्तर या अवस्था में आ पहुंचा था, तब संसार के सभी भागों में उसके दो ही रूप प्रचलित थे। एक तो सब जगह बहुत से भूत-प्रेतों की पूजा होती थी और या दूसरे बहुत से देवी-देवताओं की पूजा होती थी। बहुभूतात्मावाद और बहुदेववाद नामक दोनों रूप ही विश्वव्यापी थे। मनुष्य को बराबर यही अनुभव होता है कि कुछ शक्तियां हैं; जो हमारे प्रति अथवा हमारे लिए कुछ करती है और उन शक्तियों की संख्या दिन पर दिन उसके ज्ञान की वृद्धि के साथ ही साथ बढती जाती हैं। अब यह बात दूसरी है कि चाहे वह यह समझे कि वे शक्तियां स्वयं ही सब काम करती हैं अथवा उनमें रहनेवाली भूतात्माएं सब काम करती हैं और या कुछ भूत-प्रेत आदि स्वयं उसमें प्रविष्ट होकर वे सब काम करते-कराते हैं। स्वयं मनुष्य की आवश्यकताएं दिन पर दिन बढती जाती हैं और इसी लिए उन शक्तियों की संख्या भी बढती जाती है जिनसे वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कराना चाहता है अथवा जिनसे उनकी पूर्त्ति की आशा रखता है। फिर जिन शक्तियों पर वह

अपनी बड़ी बड़ी और निरन्तर बनी रहनेवाली आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए निर्भर करता है, वे शक्तियां बाकी शक्तियों से आगे बढ़ जाती हैं और अन्त में देवताओं का रूप धारण कर लेती हैं। परन्तु फिर भी देवताओं का रूप प्राप्त करनेवाली वे शक्तियां न तो अपने साथवाली दूसरी छोटी शक्तियों का स्थान छीनती हैं और न वे अधिक पुराने असुर-वाद या भूत-प्रेत की पूजा को ही दबाती हैं। तात्पर्य यह कि दूसरी छोटी छोटी शक्तियां भी अपनी अपनी जगहों पर बनी रहती हैं और पुराने जमाने की भूत-प्रेत की पूजा भी ज्यों की त्यों बनी रहती है। बहुत से नये देवी-देवता अवश्य उत्पन्न हो जाते हैं जो इन सबसे बड़े समझे जाते हैं और जिनकी इन सबकी अपेक्षा अधिक पूजा तथा उपासना होती है।

जब पहले-पहल धर्म के क्षेत्र में देवताओं का आविर्भाव होता है, तब हम देखते हैं कि जिन उपकरणों या औजारों से लोग अपनी आवश्यकताएं पूरी करते हैं, उन्हीं को वे अपने देवता भी बनाते हैं। जिन हथियारों की सहायता से लोग शिकार या युद्ध करते हैं अथवा जिन औजारों से वे अपने खेती-बारी के काम करते हैं अथवा जिनका उपयोग वे अपने आरम्भिक कला-कौशल में करते हैं और जिनसे कई तरह की चीजें बनाते हैं, उन्हीं को वे पहले अपने देवता के रूप में मानते हैं और उन्हीं की पूजा आदि करते हैं। संसार के अन्यान्य अनेक भागों की भांति भारत में भी इस प्रकार की पूजा अब तक अनेक रूपों में प्रचलित है। विजया दशमी के अवसर पर राजाओं के यहां घोड़ों, हाथियों और अस्त्र-शस्त्रों की पूजा होती है और दीवाली के अवसर महाजनों के यहां बही-खाने की और कायस्थों में कलम की पूजा होती है। अन्यान्य अनेक अवस्थाओं की भांति इन अवस्था में भी धर्म में एक नवीन और मौलिक तान्त्रिक शक्ति या गुण का प्रवेश होता है। कभी कभी ऐसा भी होता है कि जिन उपकरणों से देवताओं की पूजा की

जाती है, स्वयं उन्हीं उपकरणों की भी पूजा होने लगती है; और इस उपकरण-पूजा के सम्बन्ध में भी हम यही मान सकते हैं कि इसका आरम्भ भी उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार जीविका के साधनों को देव रूप में मानकर उनका पूजन आरम्भ होता है। हमारे यहां प्राचीन वैदिक काल में जो यज्ञ आदि होते थे, उन में मुख्य उपकरण हम अग्नि को ही मान सकते हैं; और यज्ञ की उसी अग्नि को वैदिक ऋषियों ने एक स्वतन्त्र देवता के रूप में मान लिया था और उस अग्नि की भी पूजा होने लगी थी। यज्ञों का दूसरा प्रधान उपकरण सोम था और यह सोम भी देवता के रूप में पूजा जाता था। इस प्रकार भारत में ऋग्वेद काल में जो अनेक बड़े बड़े प्रकृति-देवता माने जाते थे, उन्हीं में अग्नि और सोम को भी स्थान मिल गया था।

बहुदेववाद का विकास बिलकुल अलग और स्वतन्त्र या एकान्तिक रूप से नहीं होता और इसी लिए अन्त में बहुत से लोगों के भिन्न भिन्न देवता एक दूसरे के साथ मिल जाते हैं। जब एक ही तरह के बहुत से फिरके आपस में मिल जाते हैं अथवा दूसरे बड़े बड़े फिरकों में सम्मिलित हो जाते हैं; तब उन सम्मिलित लोगों का एक सम्मिलित और सार्वजनिक धर्म बन जाता है और उस में सब फिरकों के सब अथवा कुछ मुख्य मुख्य देवता ले लिए जाते हैं। जब आस-पास के कई छोटे छोटे कस्बों के योग से कोई नया और बड़ा शहर बनता है, तब भी यही बात होती है और सब कस्बों के देवता उस शहर की देव-कोटि में ले लिए जाते हैं। इसी प्रकार जब कोई छोटी छोटी रियासतों के योग से किसी बड़ी रियासत या राज्य की स्थापना होती है, तब उन छोटे छोटे राज्यों के देवताओं को मिलकर एक राष्ट्रीय देव-कोटि बना ली जाती है। यदि कुछ फिरके या वर्ग यह समझते हैं कि हम सब लोग एक ही मूल जाति की भिन्न भिन्न शाखाएँ हैं तब चाहे उनमें राजनीति

न भी हो तो भी यही बात होती है और सब फिरकों या वर्गों के देवता एक में सम्मिलित हो जाते हैं। जब एक देश के लोग किसी दूसरे देश पर विजय प्राप्त कर लेते हैं अथवा दूसरे देश में जाकर बस जाते हैं और वहाँ अपना उपनिवेश स्थापित कर लेते हैं, तब उन नये प्रदेशों में वे लोग स्वयं अपने देवताओं की पूजा का तो प्रचार करते ही हैं, परन्तु साथ ही प्रायः उन विजित देशों के देवताओं को भी अपनी देव-कोटि में सम्मिलित कर लेते हैं। इस क्रिया में एक बात से और भी सुभीता होता है। प्रायः यह मान लिया जाता है कि तुम्हारे यहां के अमुक देवता और हमारे यहां के अमुक देवता दोनों एक ही हैं; और इस प्रकार किसी देश के आदिम निवासियों के बहुत से देवता नवागन्तुकों के बहुत से देवताओं के साथ मिलकर एक हो जाते हैं और इस प्रकार बहुत सा झगडा मिट जाता है। यूनानियों और रोमनों के धर्मों में इस प्रकार की घटनाओं के अनेक उदाहरण देखने में आते हैं। साथ ही उन धर्मों में यह भी देखने में आता है कि वाणिज्य व्यापार के द्वारा भी धर्म में बहुत से नये नये देवताओं का प्रवेश तथा प्रचार हो जाता है; और कभी कभी ऐसा भी होता है कि कुछ विशिष्ट कार्यों के लिए अथवा कुछ विशिष्ट आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए लोग जान-बूझकर दूसरों के देवताओं को अपने धर्म में सम्मिलित करके उन की पूजा आदि करने लगते हैं। सिकन्दर बादशाह के संपूर्ण साम्राज्य में और उस के बाद स्थापित होनेवाले समस्त मेसिडोनियन राज्यों में यह क्रिया बहुत बडे मान में और बहुत विस्तृत क्षेत्र में बराबर होती हुई दिखाई देती है। और अन्त में रोमन साम्राज्य में तो आकर यह अवस्था हो गई थी कि भूमध्य-सागर के आस-पास के समस्त प्रदेशों में जितने देवता और जितनी पूजा विधियाँ थीं, वे सब आपस में मिल-जुलकर एक हो गई थीं आर उन सब का सब जगह समान रूप से अंगीकार और आदर होने

लग गया था। और इस प्रकार हम कह सकते हैं कि बहु देववाद एक बहुत ही भद्दे और असंगत रूप में प्रचलित हो गया था; और यही सब बातें देख देखकर बडे बडे दार्शनिक और धार्मिक नेताओं को यह सिद्ध करने के लिए एक प्रबल युक्ति मिल गई थी कि एक ईश्वर ही सबसे बडा देवता है जो दूसरे समस्त देवताओं में मुख्य है।

यह भी स्पष्ट रूप में दिखलाई पडता है कि मनुष्य जाति ज्यों ज्यों राजनीतिक क्षेत्र में उन्नति करती गई, त्यों त्यों उसकी उस उन्नति की प्रतिच्छाया उसके देव-जगत् पर भी पडती गई। प्रायः ऐसा होता था कि जब किसी एक नगर के निवासियों का आस-पास के दूसरे प्रदेशोंपर राज्य स्थापित हो जाता था, तब उस नगर का रक्षक देवता उन सब प्रदेशों का भी रक्षक देवता बन जाता था। अथवा जब एक जाति किसी दूसरी जाति पर विजय प्राप्त करती थी, तब उस जेता जाति का राष्ट्रीय देवता ही उस विजेता जाति का भी राष्ट्रीय देवता हो जाता था। बल्कि कभी कभी तो यहां तक होता था कि जेता जाति का देवता सारे राज्य का और यहां तक कि समस्त साम्राज्य का सर्व प्रधान और रक्षक देवता बन जाता था। मिस्र के इतिहास में इस प्रकार की कई घटनाएँ देखने में आती हैं। वहाँ पहले थीब्स में एमोन नामक मेष देवता की पूजा होती थी और मिस्र के दूसरे अनेक स्थानों में सौर देवता रा की पूजा होती थी। पर जब सारे मिस्र पर थीब्सवालों का राज्य हो गया और थीब्स का एक बहुत बडा साम्राज्य बन गया, तब उस समस्त साम्राज्यों में एमोन के साथ रा का नाम भी संयुक्त कर के उसी की पूजा होने लगी। फिर बडे बडे युद्ध इसी देवता के नाम पर होते थे और उन युद्धों में लोग लूट-पाट कर जो कुछ लाते थे, उस का बहुत बडा अंश इसी रा-एमोन को चढाया जाता था। पर फिर भी यह कभी नहीं हुआ कि दूसरे देवता इस के सामने दब गये हों और उन की पूजा तथा उपासना बन्द हो गई हो। वे सब देवता भी

या तो ज्यों के त्यों अपने पुराने स्थान पर बने रह गये और या अगर बहुत हुआ तो वे अपने अपने प्रदेश में कुछ निम्न कोटि या अधीनस्थ देवताओं के रूप में पूजे जाते थे। उधर चीन में यह देखने में आता है कि तिएन (आकाश या स्वर्ग) नामक जिस बडे प्रकृति-देवता की सारे देश में पूजा होती थी, वह अपने स्थानिक अधिकार के कारण तो सर्वश्रेष्ठ सम्राट "शांग ती" बन गया था और साथ ही राजकीय धर्म में मानव सम्राट् स्वर्ग-पुत्र के साथ मिलाकर एक कर दिया था।

आरम्भ में संसार में जो राज्य स्थापित होते थे, उन में राजा अपने राष्ट्र या देश-वासियों का नागरिकता के क्षेत्र में तो नेता या प्रधान होता ही था, पर साथ ही वह अपने देश के धार्मिक जगत् का भी नेता या प्रधान होता ही था और बडे बडे उत्सवों आदि के समय वही स्वयं उपस्थित होकर पौरोहित्य सम्बन्धी समस्त कृत्य करता-कराता था। उन में से कुछ कृत्य तो ऐसे भी होते थे जो केवल उसी के लिए रक्षित होते थे और जो उसके सिवा दूसरा कोई कर ही नहीं सकता था। पर साथ ही कुछ ऐसे कृत्य भी होते थे जिनके सम्पादन का अधिकार वह साधारण पुजारियों और पुरोहितों को भी सौंप सकता था और प्राय: सौंप दिया करता था। इस प्रकार एक ओर तो लोग राजा को देव-तुल्य मानने लगते थे; और इसके विपरीत इसका एक दूसरा फल यह होता था कि राजा को देव-तुल्य मानने के कारण लोग स्वभावत: देवता को भी राजा के तुल्य अर्थात् एक दैवी राजा के रूप में मानने लगते थे।

ज्यों ज्यों सभ्यता बढती गई और लोगों के पास दौलत जमा होती गई, त्यों त्यों पूजा आदि की विधियां भी खूब विस्तृत रूप धारण करती गई और उनका ठाठ-बाट भी बढता गया। अब देवता लोग अपने भक्तों को बहुत बडे बडे पदार्थ प्रदान करने लगे और उनके बदले में

भक्त तथा उपासक भी देवताओं को अनेक प्रकार की बहुमूल्य वस्तुएं भेंट चढाने लगे। पहले तो पूजा सम्बन्धी कार्यों के लिए खुले मैदान में वेदियां बनाई जाती थीं जो चारों ओरसे मिट्टी की दीवारों या लठ्ठों आदि से घेर दी जाती थीं और या बहुत सी सीधी-सादी झोंपडियों या कोठरियों आदि में पूजा सम्बन्धी सब कृत्य होते थे। परन्तु अब उनकी जगह बडे बडे मन्दिर बनने लगे थे और देव-मूर्तियों के लिए महल तैयार होने लगे थे। अब दिनपर दिन वे मन्दिर लम्बे-चौडे भी बनने लगे और पहले की अपेक्षा बहुत अधिक विशाल और भव्य भी होने लगे। नगरों और राज्यों के खजानों में से बडी बडी रकमें मन्दिरों में लगने लगीं और उनकी बनावट और सजावट में कला-कौशल के समस्त साधनों का उपयोग होने लगा। पहले तो देवता के रूप में कोई अनगढ पत्थर या खम्भा ही खडा कर दिया जाता था और लोग उसी को देवता मानकर उसकी पूजा करते और उसके सामने सिर झुकाते थे; पर बाद में देवताओं की ऐसी मूर्तियां बनने लगी थीं जिनकी आकृति या तो मनुष्य की सी या पशु की सी और या इन दोनों के सम्मिलित रूप से मिलती-जुलती होती थी। और यहां तक कि अन्त में कुछ लोगों में एक ऐसी नई कला की ही सृष्टि हो गई थी जो देवत्व सम्बन्धी उच्चतम धारणाएं और भाव प्रकट करती थीं।

परन्तु यहां आकर भिन्न भिन्न धर्मों में अनेक ऐसी बातें देखने में आती हैं जिनमें परस्पर बहुत अधिक अन्तर और विभिन्नताएं थीं। ऊपर जो बातें कही गई हैं, वे मुख्यत: मिस्र, बेबिलोनिया और यूनान के सम्बन्ध में घटित होती हैं। परन्तु उधर चीन में कुछ और ही बात थी। वहां प्रकृति की बडी बडी शक्तियों या उनकी भूतात्माओं की उनके मुख्य और वास्तविक स्वरूप में ही खुले मैदानों में पूजा हुआ करती थी; और इसी लिए वहां के राजकीय धर्म ने एक ऐसी ठाठदार और भव्य पूजा-विधि का विकास किया था, जैसी शायद ही और कहीं दिखाई पडती हो;

और इस पूजा-विधि की सबसे बडी विशेषता यह थी कि पूजा बिना किसी प्रकार के मन्दिर या मूर्ति के हुआ करती थी। इधर भारत में वैदिक युग में देव-पूजन या यज्ञ आदि के लिए कभी कोई विशिष्ट स्थान नियत नहीं होता था। जब यज्ञ आदि करने की आवश्यकता होती थी, तब कोई स्थान चुनकर वहां यज्ञ की वेदी और मंडप बना लिया जाता था और वहीं यज्ञ सम्बंधी सब कृत्य सम्पादित होते थे। न तो मन्दिर बनाये जाते थे और न मूर्तियां गढी जाती थीं। जैनों और बौद्धों में आरम्भ में कोई देवता तो मानाही नहीं जाता था, इसलिए इन लोगों ने अपने धर्म के संस्थापकों की स्मृति में जो इमारतें बनानी शुरू की थीं, उन्हीं में उन लोगोंने एक विशिष्ट प्रकार की धार्मिक वास्तु कला और एक सुन्दर तक्षण कला का विकास कर लिया था; और इसके कुछ दिनों बाद वे भी ऐसे बडे बडे मन्दिर बनाने लग गये थे जिनमें बहुत सी मूर्तियां रहती थीं और उन मूर्तियों की राजसी ठाठ से पूजा होती थी। परन्तु साधारणत: उन पूजाओं के साथ कभी पशुओं आदि का बलिदान नहीं होता था। इसके उपरान्त जब भारत के आधुनिक धर्मों का समय आया, तब तो यहाँ असंख्य मन्दिर बन गये और उनमें विलक्षण आकार-प्रकार की बहुत सी मूर्तियाँ स्थापित होने लगीं।

पूजा में बराबर दोही बातें मुख्य रहीं—एक तो देवताओं के आगे भेंट आदि चढाना और दूसरे उनकी स्तुति तथा उनसे प्रार्थना करना। परन्तु इन दोनों बातों में निरन्तर वृद्धि और विकास होता गया। भेंट चढाई जानेवाली चीजों के प्रकार भी बढते गये और उन का मान भी बढता गया। और भिन्न भिन्न अवसरों तथा परिस्थितियों के लिए प्रार्थना तथा स्तुति की पद्धतियाँ तथा निर्दिष्ट नियम आदि भी बढते गये। साधारणतः सब जगह यही माना जाता है कि कर्मकांड के अन्तर्गत जो कृत्य आदि किए जाते हैं, उनका ठीक ठीक फल तभी हो सकता है, जब उन

में की प्रत्येक क्रिया बिलकुल ठीक तरह से की जाय और प्रत्येक शब्द का ठीक ठीक उच्चारण किया जाय। यदि उन क्रियाओं के सम्पादन या मन्त्रों आदि के उच्चारण में कुछ भी भूल या व्यतिक्रम हो जाय तो सारी क्रिया ही निष्फल हो जाती है। अतः कर्म-कांड सम्बन्धी कृत्यों का ठीक और विहित रूप से सम्पादन करने के लिए इस विषय के पूरे पूरे ज्ञान की आवश्यकता होती है और ऐसे कृत्य वही करा सकता है जिस के यहां बराबर अनेक पीढियों से यही काम होता चला आता हो। इसी लिए पुरोहितों के वर्ग बे-हिसाब चढ जाते हैं। अपने अपने विशिष्ट कार्यों के अनुसार उनके विभाग बन जाते हैं; और इसी लिए उन लोगों का एक याजक-तन्त्र सा स्थापित हो जाता है। मिस्र आदि कुछ देशों में तो इन पुरोहितों ने प्रभूत लौकिक सम्पत्ति प्राप्त कर ली थी और इनके हाथ में ऐसी शक्ति आ गई थी, जिस के कारण एक नहीं बल्कि अनेक बार राज्य पर बडे बडे संकट आए थे और उस के विनाश तक की नौबत आ गई थी। इधर भारतवर्ष के ब्राम्हणों ने बिना किसी प्रकार के संघटन के और बिना किसी प्रकार के भौतिक साधनों के ही इस से भी कहीं अधिक शक्ति प्राप्त कर ली थी।

उधर चीन की अवस्था इसके बिलकुल विपरीत थी। वहां सार्वजनिक पूजा का सारा काम स्वयं राज्यने ही अपने हाथ में ले लिया था और समस्त चीनी साम्राज्य के कल्याण के लिए पूजा सम्बन्धी सब कृत्य वहां का सम्राट करता था; और उसके अधीन जो राजा, राज-प्रतिनिधि, प्रान्तीय शासक तथा दूसरे बडे बडे अधिकारी होते थे, वे अपने अपने अधीनस्थ प्रदेशों या प्रान्तों के लिए और उनकी ओर से सब पूजाएँ करते थे; और इस प्रकार की पूजाएँ भी उनके शासन सम्बन्धी कर्तव्यों के अन्तर्गत मानी जाती थीं। पूजा सम्बन्धी कृत्यों के लिए जिस विशिष्ट ज्ञान की आवश्यकता होती है, उस ज्ञान से सम्पन्न पूजा करानेवाले कुछ

लोग हुआ करते थे। परन्तु वहां पुरोहितों का कोई ऐसा वर्ग नहीं होता था जिस का पेशा ही पुरोहिताई हो।

एक दूसरे प्रकार का उदाहरण देकर हम यह दिखलाना चाहते हैं कि इस प्रकार की बातों में भिन्न भिन्न देशों में परस्पर कितना अधिक अन्तर था। यूनान में ऐतिहासिक काल में भिन्न भिन्न मन्दिरों के लिए नागरिकों में से कुछ लोग पौरोहित्य करने के लिए जाते थे। कभी तो यों ही कुछ लोग एक साथ ले लिये जाते थे और कभी उनका नियमपूर्वक निर्वाचन होत था। फिर उन लोगों का पौरोहित्य काल भी सदा एक सा नहीं रहता था और कभी कुछ वर्षों के लिए ही उनका चुनाव होता था। जितने दिनों तक वे पौरोहित्य कर्म की नौकरी पर रहते थे, उतने दिनों तक उन्हें कुछ विशिष्ट बन्धनों और नियमों आदि का पालन करना पडता था; परन्तु यह नहीं माना जाता था कि वे स्वाभाविक रूपसे पवित्र तथा पूज्य हैं और न वहां पुरोहितों का कोई वर्ग ही होता था।

भारत में सब प्रकार के धार्मिक विचार तथा दार्शनिक विमर्श आदि पूर्ण रूप से पारलौकिक होते थे; परन्तु इसके विपरीत यूनान के धार्मिक विचारों तथा दार्शनिक विमर्शों का इतिहास जो पूर्ण रूपसे ऐहिक है, उसका कारण यही है कि वहां के पुरोहित न तो पूज्य ही माने जाते थे और न उनका कोई स्वतन्त्र वर्ग ही होता था। यदि वास्तविक दृष्टि से विचार किया जाय तो पता चलता है कि आगे चलकर धर्मों का जो विकास हुआ था और उनमें जो परस्पर इतने अधिक पार्थक्य या वैसा दृश्य उत्पन्न हो गये थे, उनका आरम्भ यहीं से हुआ था और इसलिए हुआ था कि प्रत्येक धर्म के पौरोहित्य का स्वरूप तथा प्रभाव एक दूसरे से बिलकुल अलग और निराला था। यद्यपि उपनिषदों से हमें पता चलता है कि उन दिनों दार्शनिक विवेचनों आदि में जन-साधारण भी सम्मिलित हुआ करते थे,

परन्तु फिर भी वास्तव में दार्शनिक विचारों का आरम्भ ब्राम्हणों से ही हुआ था। फिर आगे चलकर ब्राह्मण-विरोधी आंदोलन आरम्भ हुआ जिसका सबसे मुख्य और स्पष्ट स्वरूप हमें बौद्ध धर्म में दिखाई पडता है। बौद्ध धर्म न तो वेदों को ही मानता था और न ब्राह्मणों की बातों को ही ग्राह्य करता था। वह मुक्ति या निर्वाण के कुछ और ही मार्ग ढूंढता था। और फिर अन्त में भारत के आधुनिक धर्मों की सृष्टि हुई थी। यद्यपि इन आधुनिक धर्मों का मूल अब्राह्मणीय है, परन्तु फिर भी आगे चलकर ये सब धर्म अच्छी तरह से ब्राह्मणीय सांचे में ढल गये थे। इसके विपरीत यूनान में आरम्भ से ही सब-प्रकार के विचार और विमर्श, कवि और दार्शनिक लोग ही करते आये थे और इसी लिए ईश्वरत्व या देवत्व के सम्बन्ध में भी वहां ऊंचे दरजे के विचार प्रचलित हो गये थे; और देवताओं से मनुष्य जो कुछ चाहते उनके सम्बन्ध में भी वहां उच्च कोटि की धारणाएं लोगों में फैल गई थीं। उधर इसराईल में भी पहले तो पैगम्बरों ने और बाद में लेखकों ने ही उन्नति के मार्ग में ऐसे कदम रखे थे जिन्हें हम युग प्रवर्त्तक कह सकते हैं। वहां भी ये सब काम पुरोहित वर्ग ने नहीं किये थे।

कुछ देशों के धर्मों में, उदाहरणार्थ यूनान के धर्म में, यह देखने में आता है कि पूजा-विधियों में जो सुन्दर सुधार और वृद्धियां हुई थीं, उनकी व्याप्ति यद्यपि बहुत दूर तक पहुंच गई थीं, परन्तु फिर भी वे पूजा-विधियाँ अपने पुराने ढर्रे से दूर नहीं हटी थीं और वहां पूजा की पुरानी पद्धतियों में कोई बहुत बडा और उग्र परिवर्तन नहीं हुआ था। सभ्यता की कोमलतर प्रणालियों से जंगलीपन के बहुत से धार्मिक कृत्यों में भी बहुत कुछ कोमलता और सरलता आ जाती है। पहले जहां बलिदान या प्रायश्चित्त आदि से सम्बन्ध रखनेवाले कार्यों के लिए नरहत्या की जाती थी, वहां सभ्यता की उन्नति होने पर यह प्रथा चला दी जाती थी कि

पुरोहित की छुरी से बलि दिए जानेवाले मनुष्य की गर्दन पर एक जरासी खराश कर दी जाय अथवा कभी कभी तो यह खराश भी नहीं की जाती थी, बल्कि खराश करने का अभिनय सा करके ही यह समझ लेते थे कि बलि-कर्म सम्पादित हो गया और उस आदमी को यों ही छोड़ देते थे। प्रारम्भिक अवस्था में जो बिलकुल पुराने ढंग के जलूस निकलते थे, नाच होते थे और स्वाँग तथा अभिनय हुआ करते थे, उनके स्थान पर अब राजसी ठाठ के क्रिया-कलाप और उत्तमोत्तम नाटक आदि होने लगे थे। पहले प्रकृति से अथवा उसमें निवास करनेवाली भूतात्माओं से अपने अनुकूल काम कराने के लिए अनेक प्रकार के तान्त्रिक प्रयोग और उपाय किये जाते थे, परन्तु अब उनके स्थान पर ऐसे दर्शनीय कार्य होने लगे जो देवताओं को प्रसन्न और सन्तुष्ट करनेवाले होते थे। अब वे देवता लोग संस्कारी यूनानियों के आदर्श हो चुके थे और इसलिए वे अब उन्हीं बातों से सन्तुष्ट होते थे, जिन बातों से उनके उपासक और पूजक लोग प्रसन्न हुआ करते थे। प्राचीन काल में लोगों का यह विश्वास था कि बलि का जो अंश देवताओं को चढाया जाता है, वह उन देवताओं का भोजन ही होता है। जिन देवताओं का निवास भूगर्भ में माना जाता था उनके लिए बलि का अंश जमीन में गाड दिया जाता था अथवा जमीन में एक छोटासा खड्ढा खोदकर उस में बलि-पशु का रक्त भर दिया जाता था। और जो अंश नदियों या समुद्रों के देवताओं के लिए होता था, वह किसी जलाशय में डाल दिया जाता था। उधर जिन देवताओं का निवास आकाश या स्वर्ग में माना जाता था, उन का अंश वेदी पर रखकर जला दिया जाता था—उस का हवन कर दिया जाता था—और उस का जो सुगन्धित धुआं उठकर आकाश की ओर जाता था, उस के सम्बन्ध में यह माना जाता था कि उसी का आघ्राण लेकर आकाशस्थ देवता सन्तुष्ट होते हैं। जब देवता और भी बडे हो गये और उन के सम्बन्ध में यह समझा जाने लगा कि वे मनुष्यों को सभी प्रकार की उत्तम वस्तुएँ प्रदान

करते हैं, तब लोगों के मन में यह भी विचार उत्पन्न होने लगा कि उनके पास तो स्वयं ही सब प्रकार के पदार्थ वर्तमान हैं और इस लिए उन्हें उन तुच्छ भेटों आदि की आवश्यकता नहीं है जो लोग देवताओं का अंश समझकर अलग निकाल दिया करते हैं। और साथ ही लोग यह भी समझते थे कि ये पदार्थ तो स्वयं देवताओं ने ही हमें प्रदान किये हैं; फिर इन्हीं में से कुछ अंश उन्हें लेने की क्या आवश्यकता हो सकती है? और इसी लिए इस प्रकार के विचार रखनेवाले लोग यह मानने लगे कि देवताओं के आगे जो बलि और भेंट चढाई जाती है, वह केवल उनके प्रति सम्मान प्रदर्शित करने के लिए ही होती है।

मनुष्यों के समाज में यह प्रथा है कि लोग अपनी अपनी सामर्थ्य के अनुसार कुछ उपहार या नजर लेकर राजा के सामने जाते हैं और यद्यपि राजा को उन चीजों की कोई जरूरत नहीं होती, परन्तु फिर भी राजा यह समझकर वे सब चीजें ले लेता है कि ये लोग अपनी राज भक्ति और सद्-भाव प्रकट करने के लिए सब चीजें लाये हैं। ठीक यही बात देवताओं के सम्बन्ध में भी होती है। वास्तव में भेट या उपहार का महत्व उसके मान या मूल्य के विचार से नहीं होता, बल्कि उस मानसिक भाव के विचार से होता है जिस भाव से भेंट या उपहार के पदार्थ लाकर सामने रखे जाते हैं। जब लोगों का यह विश्वास हो जाता है कि देवता लोग न्यायशील होते हैं और वे यही चाहते हैं कि सब लोग अपना आचरण शुद्ध रखें और अपने साथियों के साथ उत्तम तथा मानवोचित व्यवहार करें, तब साथ ही लोग यह परिणाम भी निकाल लेते हैं कि देवताओं के आगे उपहार मात्र रख देने से ही हमारे अनुचित कृत्यों का प्रतिकार नहीं हो जाता और अपराध या पाप करनेवाला मनुष्य देवताओं को उपहार देकर ही अपने दुष्कर्मों के फल से बच नहीं सकता। क्योंकि लोग यह समझते हैं कि यदि पापी मनुष्य भी केवल उपहारों आदि की सहायता से

ही देवताओं को प्रसन्न और अपने अनुकूल कर सके और अपने अनुचित कर्मों के फल-भोग से बच सके तो फिर देवता लोग भी रिश्वत खानेवाले हाकिमों की ही तरह के हो जायंगे। परन्तु यह माना जाता है कि देवता न्यायशील होते हैं और इसी लिए वे रिश्वत खाकर किसी को छोड नहीं सकते। इस प्रकार बलिदान आदि का फल नैतिक दृष्टि से सीमा बद्ध हो जाता है और उसमें एक नैतिक बन्धन या शर्त सी लग जाती है।

एक ओर तो पूजा-विधिको इस प्रकार नीति-संगत बनाने का प्रयत्न होता है और इसके विपरीत दूसरी ओर पूजक तथा उपासक यह चाहते हैं कि हम अपने देवता को प्रसन्न करने के जो उपाय करते हैं, वे निश्चित रूप से फल-प्रद हों और उसका परिणाम अवश्य ही हमारे मनोनुकूल हो उधर पुजारियों का स्वाभाविक रूप से यह विश्वास होता है कि देवताओं को प्रसन्न करने के लिए जो बलिदान तथा प्रायश्चित्त आदि होते हैं, वे निश्चित और निर्विवाद रूपसे फल-दायक होते हैं; और वे अपने यजमानों के मन में भी यही विश्वास उत्पन्न कराना चाहते हैं। बडे बडे अनुचित कृत्यों और पापों के लिए विशेष प्रकार के तथा असाधारण प्राय-श्चित्तों की आवश्यकता होती है। परन्तु फिर भी प्रायश्चित्त का भंडार इतना पूर्ण होता है कि भीषण से भीषण दुष्कर्मों और पापों के लिए भी उनमें प्रायश्चित्त का विधान निकल ही आता है। इसके सिवा एक और बात है। धर्म की दृष्टि से सबसे बडे पाप वे नहीं है जिन्हें हम नैतिक अपराध कहते हैं, बल्कि धार्मिक क्षेत्र में सबसे बडे पाप वही माने जाते हैं जिनका देवताओं से प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है अथवा जिनमें प्रत्यक्ष रूपसे देवताओं की किसी प्रकार की उपेक्षा की जाती है। और यदि कोई मनुष्य दूसरे लोगों के साथ अनुचित व्यवहार करे अथवा उन का कोई अपराध करे तो उस अनुचित व्यवहार या अपराध का देवताओं के साथ केवल अप्रत्यक्ष और दूर का ही सम्बन्ध होता है। यही बात एक

उदाहरण देकर इस प्रकार समझाई जा सकती है कि यदि कोई मनुष्य अपने कुल में होनेवाली किसी देवता की वार्षिक पूजा किसी वर्ष किसी कारण से न कर सके तो धर्म की दृष्टि में उसका यह एक बहुत बडा अपराध होता है। पर यदि वही व्यक्ति वार्षिक पूजा तो बराबर करता है, पर साथ ही चोरी चमारी, बेईमानी, दगाबाजी और जाल-साजी भी बराबर करता है तो उसके ये सब नैतिक अपराध धर्म की दृष्टि में उतना अधिक महत्व नहीं रखते। धर्म के क्षेत्र में स्वभावत; इसी प्रकार के तर्क और युक्ति से काम लिया जाता है और इसी लिए इबरानी पैगम्बर इसके विपरीत जो सिद्धान्त बतलाया करते थे, उसे उनके सम-कालीन लोग वाहियात, बेढंगा और नास्तिकतापूर्ण कहा करते थे। प्लेटो भी प्राय: लोगों को यही उपदेश दिया करता था कि मनुष्य को सबसे अधिक ध्यान अपने नैतिक आचरण पर रखना चाहिए। पर इसमें सन्देह ही है कि प्लेटो के इस प्रकार के उपदेशों का कभी धर्म पर कोई विषेश प्रभाव पडा हो।

भारतवर्ष में यह बात सब से ज्यादा जोर देकर कही जाती है कि कर्म-कांड सम्बन्धी कृत्य अवश्य ही और निश्चित रूप से फल-प्रद होते हैं। यहाँ के ब्राम्हण पुरोहित कहते हैं कि हम अपने धार्मिक कृत्यों की सहायता से अपने यजमानों की सभी प्रकार की मनोकामनाएँ पूरी कर सकते हैं; और इसी लिए यहाँ के ब्राम्हण ' भूदेव " या " भूसुर " कहलाते हैं जिसका अर्थ है " इस पृथ्वी पर के देवता; " और इस प्रकार यह स्पष्ट ही है कि वे स्वयं देवताओं से भी बढकर शक्तिशाली तथा समर्थ माने जाते हैं, क्योंकि वे देवताओं से अपने इच्छानुसार सब काम करा सकते हैं। बात यह है कि पुरोहित और यजमान दोनों ही यह चाहते हैं कि धार्मिक कृत्यों का फल निश्चित रूप से प्राप्त हो और उनकी इस प्रकार की इच्छा का चरम परिणाम केवल यही हो सकता है।

पूजा विधि और कर्म-कांड आदि का जो इतना अधिक महत्व समझा

जाता है, उसके कारण धर्म की बुद्धि-संगत और नैतिक उन्नति में जो बाधा होती है, वह तो होती ही है इसके अतिरिक्त एक और बात है जो धर्म की इस प्रकार की उन्नति नहीं होने देती। प्रायश्चित्त और पश्चात्ताप के बहुत से प्राचीन रूप भी धर्म में बराबर ज्यों के त्यों बने रहते हैं और उनमें किसी प्रकार का परिवर्तन न हो सकने के कारण भी धर्म की नैतिक और बुद्धि-संगत उन्नति रुक जाती है। आरम्भ में तो कुछ ऐसे शारीरिक या भौतिक उपाय ही होते हैं जिनके द्वारा मनुष्य आपसे आप होनेवाले उन भीषण परिणामों से भी बच सकता है जो अनजान में किसी पवित्र स्थान में प्रवेश करने या किसी भूतात्मा आदि की पवित्रता भंग करने के कारण होते हैं; और इसके उपरान्त धर्म जब जीवदेह-पार्थक्यवाली अवस्था में आकर पहुंचता है तब कुछ ऐसे कृत्य करके मनुष्य इस प्रकार के दुष्परिणामों से बचता है जो भूत-प्रेतों की बाधा दूर करनेवाले होते हैं और इसी लिए लोगों का यह दृढ विश्वास हो जाता है कि इस प्रकार के कृत्यों के द्वारा हम रुष्ट होनेवाले देवताओं को प्रसन्न तथा सन्तुष्ट कर सकते हैं। अब इस प्रकार के कृत्यों को लोग भले ही चाहे जिस प्रकार की पूजा-विधियों में सम्मिलित कर लें, परन्तु फिर भी उन कृत्यों का वह आदिम-कालीन तान्त्रिक स्वरूप किसी प्रकार नष्ट नहीं होता वह बराबर ज्यों का त्यों बना रहता है।

हम ऊपर बतला चुके हैं कि धर्म के विकास में एक यह अवस्था भी आती है जब कि लोग यह समझने लगते हैं कि हमारे प्रत्येक अनुचित कृत्य या पाप से अच्छे और न्यायशील देवता अप्रसन्न होते हैं। जब धर्म इस अवस्था में पहुंच जाता है और इस प्रकार नैतिक सदाचार का एक नया अर्थ होने लगता है, तब उच्च कोटि के धार्मिक भावों के साथ इस धारणा का विरोध या संघर्ष होता है कि शारीरिक या भौतिक उपायों से नैतिक दोषों का परिहार हो जाता है। जहां यह माना जाता हो कि नैतिक

कदाचार से देवता अप्रसन्न होते हैं, वहां यह सिद्धान्त नहीं चल सकता कि शरीर द्वारा कुछ प्रायश्चित्त कर के हम उस कदाचार का प्रतिकार कर के कोप से बच सकते हैं। हेराक्लिटस ‡ सरीखे कुछ ऐसे दर्शनयि और विचारशील भी हो गये हैं जो अपने विचार अधिक स्वतन्त्रता तथा निर्भयतापूर्वक प्रकट करते हैं; और ऐसे लोग उन सिद्धान्तों को बहुत ही तुच्छ समझते और उपेक्षापूर्वक देखते हैं जिनके अनुसार लोग धार्मिक कृत्यों को ही सब कुछ समझते हैं और नैतिक सदाचार की अवज्ञा करते हैं। परन्तु जो लोग अधिक संकीर्ण विचारोंवाले होते हैं जो यह समझते हैं कि इस प्रकार के कृत्यों का कुछ और ही सांकेतिक आशय होता है और लोग इस प्रकार के कृत्यों के द्वारा प्रकारान्तर से अपना अपराध स्वीकृत कर लेते हैं और इस लिए उसके दुष्परिणामों से बच जाते हैं। पर वास्तव में इस बात का कुछ भी महत्व नहीं है। यह तो सभी युगों में होता है कि धर्म के क्षेत्र में पुराने जमाने की जो असंगत और अनीतिपूर्ण बातें बच रहती हैं, उन्हें एक बहुत बडी सीमा तक निस्सार समझते हुए भी लोग इस प्रकार की युक्तियों से उनकी संगति बैठाने का प्रयत्न करते हैं

‡ हेरोक्लिटस एक बहुत बडा प्राचीन यूनानी दार्शनिक हो गया है जिसने अध्यात्म शास्त्र पर एक बिलकुल नवीन दृष्टि से विचार किया था। उस का मत था कि मनुष्य के लिए सब से अधिक आवश्यक यह है कि वह उन नियमों के अधीन रहकर आचरण करे, जिन नियमों से सारा विश्व शासित और संचालित होता है और तभी उसे सच्ची स्वतन्त्रता प्राप्त हो सकती है। पर अधिकांश लोग यही समझ कर जविन निर्वाह करते हैं कि विश्वजनीन बुद्धि कोई चीज नहीं है और केवल हमारी अपनी बुद्धि ही सब कुछ है। वह ईश्वर और देवी-देवता आदि के बदले अग्नि को ही सब जीवों और पदार्थों का उत्पादक मानता था और सब से ज्यादा जोर मनुष्य के नैतिक सदाचार पर देता था। —अनुवादक

और उन्हें जैसे तैसे ठीक सिद्ध करना चाहते हैं। इस का परिणाम यही होता है कि लोग अपने दुष्कर्मों के परिणामों से बचने के लिए सब से अच्छा और सुगम उपाय छोटा मोटा प्रायश्चित्त या पश्चात्ताप कर डालना ही समझते हैं, परन्तु अपनी जीवन-चर्या में सुधार करनेकी इसलिए आव-श्यकता नहीं समझते कि वह सुधार बहुत ही कठिन होता है। इस बात की प्रतिज्ञा करना कुछ सहज नहीं है कि हम अपना जीवन सदा नीतियुक्त और सदाचारपूर्ण रखेंगे, परन्तु उपवास या प्रायश्चित्त आदि कर लेना बहुत सहज होता है और इसी लिए सदाचारी बननेकी अपेक्षा प्रायश्चित्तों तथा पश्चात्तापोंकी शरण लेना ही अधिक उत्तम समझते हैं।

आरंभिक कालमें पुराणों आदि से देवताओंको पूर्ण रूप से मानवी बनाने में बहुत सहायता मिली थी और इस प्रकार उन्हें बहुत कुछ नीति-मान् बनाने का प्रयत्न किया गया था। परन्तु इन पुराणों से भी धर्म को पूर्ण रूपसे नीति-संगत तथा नीति-सम्मत बनाने के मार्ग में एक और बडी बाधा उपस्थित होती है। विशेषतः जिन देशों में धर्म सम्बन्धी सब बातें परम्परा से पुरोहितों के हाथों में चली आती हैं और जिनमें पुराणों पर पुरोहितों का विशेष रूप से अधिकार रहता है, उन देशों में पुराणों के कारण धर्म के नीति-संगत बनने में और भी बाधा होती है। इसके सिवाय यूनान सरीखे कुछ ऐसे देश भी हैं जिनमें पुराणों पर पुरो-हितों का अधिकार तो नहीं था क्योंकि वहाँ पुरोहितों का कोई अलग वर्ग ही नहीं था, परन्तु फिर भी वहाँ के कवियोंकी कृपा से पौराणिक कथाओं को वही मान्यता और अधिकार प्राप्त हो गया है जो उन्हें पुरोहितों के हाथों में रहने की दशा में प्राप्त होता है। ऐसे देशों में भी धर्म कभी नीति-संगत नहीं हो सकता। यह एक प्राकृतिक बात है कि आकाश की सहायता से पृथ्वी उपजाऊ होती है। परन्तु इसी

प्राकृतिक घटना से सम्बन्ध रखनेवाली अनेक ऐसी पौराणिक कथाएँ हैं जिनमें यह कहा जाता है कि आकाश ने पृथ्वी के साथ सम्भोग करके उसे उर्वरा बनाया था। इसी प्रकार के और भी अनेक प्राकृतिक कार्य हैं जिनके सम्बन्ध में लोगों ने यह कल्पना कर ली थी कि मनुष्य-तुल्य देवताओंने ये सब कार्य किये थे। और इसी प्रकार की पौराणिक कथाओं के आधारपर प्राय: चर्चा होने लगती है, और कवियोंकी अनुकरणात्मक वृत्ति के कारण इस प्रकार की कथाओं की संख्या भी बराबर बढती जाती है। देवताओं और वीरों आदि की उत्पत्ति तथा इसी प्रकार के और सम्बन्धों की कथाओं में ऐसी ऐसी बातें मिलती हैं, जैसी शायद नीति के निम्नतम तलपर रहनेवाले जंगलियों आदि में भी व्यवहार-रूप पाई जाती हों, हेसियड * के ग्रन्थों में भी और उसके अनुकरण पर बने हुए बाद के ग्रन्थों में भी सृष्टि तथा देवताओं की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो कथाएँ दी गई हैं, वे बर्बरतापूर्ण अपराधों और निन्दनीय आचरणों से भरी हुई हैं। प्रसिद्ध यूनानी कवि होमर ने अपने काव्यों में देवताओं से ऐसे कृत्य कराये हैं, जिन्हें सारे संसार के लोग निन्दनीय समझते हैं। केवल यही नहीं, वे देवता स्वयं भी इसी प्रकार के निन्दनीय तथा गर्हित कर्म करते हुए दिखलाये गये हैं। हमारा भारत भी इस दोष से मुक्त नहीं है, क्योंकि हमारे यहाँ के कुछ पुराणों में इसी प्रकार की अनेक कथाएँ पाई जाती हैं। यहाँ तक कि जिन श्रीकृष्णको लोग भगवान् तथा योगिराज आदि कहते हैं उनके सम्बन्ध में भी कुछ कवि बडी बडी भ्रष्टाचारपूर्ण बातें कहने में नहीं चूके हैं।

---

* हेसियड प्राचीन यूनान का एक कवि था जिसका समय लगभग ७०० ई० पू० माना जाता है। इसने एक बडा काव्य लिखकर मनमाने ढंग से यह बतलाने का प्रयत्न किया था कि सृष्टि और देवताओं आदि की उत्पत्ति किस प्रकार हुई थी। —अनुवादक।

जब मनुष्यों के मन यह विचार उत्पन्न होने लगा कि देवता लोग मानवी सद्गुणों के आदर्श होने चाहिएँ, तब उन्होंने देखा कि पुराणों में देवताओं के सम्बन्ध की जो कथाएँ दी हुई हैं, उनसे तो वे देवता केवल मानुषिक दुर्गुणों के ही नहीं, बल्कि उन दुर्गुणों के भी आदर्श हैं जो मनुष्यों में तो हो ही नहीं सकते, पर हाँ मनुष्यों से श्रेष्ठ अथवा लोकोत्तर जीवों में भले ही हो सकते हों। और जैसा कि प्लेटो ने जोर देकर कहा है, इस सम्बन्ध में सबसे बड़ी बुराई यह थी कि नवयुवकों को इसी प्रकार के कवियों के ग्रंथों की शिक्षा दी जाती थी और जिस अवस्था में मनुष्य सबसे अधिक बातें सीख और ग्रहण कर सकता है, उस अवस्था में उसके सामने शिक्षा ग्रहण कराने के नाम पर इसी प्रकार के आदर्श रखे जाते थे। तिस पर एक और विशेषता यह होती थी कि इस प्रकार के काव्य प्राय: बहुत ही सुन्दर और काव्योचित गुणों से युक्त होते हैं जिससे नव-युवकों पर उनका और भी ज्यादा बुरा प्रभाव पड़ता है। फिर यह भी समझा जाता है कि ये काव्य और इनकी कथाएँ आदि प्राचीन हैं और इस लिए सब प्रकार से मान्य तथा आदरणीय हैं। इसके सिवा लोगों का यह भी विश्वास होता है कि कवि लोग जो कुछ लिखते हैं, वह प्राय: दैवी प्रेरणा से लिखते हैं। इसी लिए इन बातोंका नवयुवकों के हृदयपर जो सम्मिलित प्रभाव पड़ता है, वह बहुत ही बुरा होता है। ऐसी अवस्था में यूनानी धर्म पर इस ओर से, धर्म और नीति के नाम पर भी और विवेक तथा युक्ति के नामपर भी जो आक्रमण हुए थे, उनके लिए किसीको आश्चर्य नहीं होना चाहिये। जिन लोगों के विचार इतने अधिक उन्नत और उदार नहीं होते थे, पर फिर भी लोग यह समझते थे कि पौराणिक कथाओं की देवत्ववाली भावना के साथ किसी प्रकार सामंजस्य स्थापित हो ही नहीं सकता, अर्थात् जो लोग यह समझते थे कि पौराणिक कथाओं में जिनके चरित्र वर्णित हैं, वे देवता हो ही नहीं सकते; और जो देवता हैं, उनके

ऐसे चरित्र हो ही नहीं सकते, जैसे पौराणिक कथाओं में बतलाये जाते हैं, उन्होंने इस उभय--संकट से बचने का एक मार्ग निकाल लिया था। वे यह कहने लगे कि पौराणिक कथाओं में देवताओं के जो चरित्र मिलते हैं, वे उनके वास्तविक चरित्र नहीं हैं, बल्कि वे तो रूपक मात्र हैं और उनका असल मतलब कुछ और ही है। कठिनाइयों से बचने का यह उपाय उसी प्रकारका था, जिस प्रकार का वह उपाय था जिसमें लोग पूजा-विधियों को संकेत सूत्र कहकर किसी तरह अपना पीछा छुडाते हैं। यदि वास्तविक दृष्टि से विचार किया जाय तो पौराणिक कथाओं और देवताओं के सम्बन्ध में परिस्थिति तो यह उत्पन्न होती है कि या तो हम यह मान लें कि पौराणिक कथाएँ झूठी हैं और देवताओं का वास्तविक चरित्र अंकित नहीं है, अथवा यह मानें कि जिनके चरित्र पौराणिक कथाओं में मिलते हैं, वे देवता ही नहीं हैं। पर इन दोनों ही बातों से बचने के लिए उन लोगों ने एक रास्ता निकाल लिया था। वे कहने लगे थे कि इन पौराणिक कथाओं का एक ऐसा गूढ अर्थ है जिससे कभी कोई हानि तो हो नहीं सकती, उलटे जिससे हमारा ज्ञान और मान दोनों ही बढ सकते हैं। ईसाइयों की प्राचीन धर्म-पुस्तक (Old Testament) में इसी प्रकार की बहुत सी पौराणिक कथाएँ मिलती हैं जो नैतिक दृष्टि से कभी अच्छी नहीं समझी जा सकतीं और इसी लिए जिन पर अनेक प्रकार के आक्षेप हुआ करते थे। परन्तु ईसाई सम्प्रदायों के आचार्यों ने यही कहकर उनका समर्थन किया कि लोग इन कथाओं का वास्तविक अर्थ नहीं समझते; और वह वास्तविक अर्थ बहुत ही गूढ, ज्ञान--वर्धक और उत्तम नैतिक आदर्शों से युक्त है। आज -कल हिन्दुओं के पुराणों आदि के सम्बन्ध में भी कुछ लोग इसी प्रकार की बातें कहा करते हैं। ऐसी बातें कहनेवालों को अपने यहाँ की कथा--कहानियाँ चाहे कितनी ही अधिक उत्तम और संतो- पकारक क्यों न जान पडती हों, परन्तु फिर भी उनके ऐसे कथनों से उस

हानि का परिहार नहीं हो सकता जो प्रस्थापित कर्म--कांडों और गृहीत तथा मान्य पुराणों के कारण जन--साधारण के भावों और विचारों को पहुँची है ।

हम पहले एक प्रसंग में यह बतला चुके हैं कि शमन लोग, अथवा वे आत्माएँ जिन्हें वे अपने ऊपर बुलाते हैं, किस प्रकार सब तरह की चीजों और बातों के सम्बन्धमें किये जानेवाले ऐसे प्रश्नों के उत्तर देते हैं जिन्हें जानने का कोई स्वाभाविक उपाय नहीं होता। प्राकृत शकुन-शास्त्र तथा भविष्य कथन का यह कदाचित् सबसे अधिक पुराना प्रकार है, और बडे बडे महात्माओं और पैगम्बरों आदि को जो ईश्वरादेश या इलहाम आदि होते हैं, उनका आरम्भ भी कदाचित् यहीं से होता है। अधिक उन्नत धर्मों में लोग शमनों और ओझाओं आदि से बातें पूछने के बदले स्वयं देवी--देवताओं से ही बातें पूछते हैं। कभी लोगों को उनके प्रश्नों के उत्तर आकाश--वाणी आदि के रूप में मिलते हैं और कभी कुछ ऐसे संकेतों आदि के रूप में मिलते हैं, जिनका अभिप्राय पुजारी आदि और लोगोंको समझा देते हैं। हमारे यहाँ भारतवर्ष में तो इस प्रथा का यहाँ तक विकास हुआ है कि लोग कोई कठिन प्रसंग आ पडने पर देवताओं का मत जानने के लिए अलग अलग कागज पर "हाँ" और "नहीं" अथवा इसी प्रकार की कुछ और बातें लिखकर और उनकी गोलियाँ बनाकर किसी देवी या देवता की मूर्ति के सामने रख देते हैं; और तब उनमें से कोई एक गोली उठाकर उसी में लिखी हुई बात को देवता का मत या आदेश समझ लेते हैं और उसी के अनुसार काम करते हैं। इसके सिवा बहुत से लोग कलकत्ते के पास ताडकेश्वर नामक शिवमन्दिर में जाकर धरना भी देते हैं और दो चार दिन तक वहीं भूखे प्यासे पडे रहते हैं। इसी बीच में उन्हें स्वप्न होता है और उसी स्वप्न में देवता की ओर से

प्रश्न का उत्तर मिल जाता है अथवा उनकी समस्याओं का निराकरण हो जाता है। ऊपर हमने देवताओं के सामने चिट्ठी डालकर किसी प्रश्न का निर्णय करनेकी जो प्रथा बतलाई है, वह बहुत ही प्राचीन है और संसार के प्रायः सभी देशों में किसी न किसी रूप में पाई जाती है और कहीं कहीं तो इसमें बहुत सी लम्बी चौडी क्रियाएँ भी करनी पडती हैं। कभी कभी ऐसा भी होता है कि देवता लोग स्वयं ही बिना किसी के पूछे कुछ विशिष्ट लक्षणों, संकेतों या शकुनों आदि के द्वारा किसी आने-वाले संकट की सूचना दे देते हैं या किसी विकट अवसरपर लोगों का कर्तव्य बतला देते हैं। परन्तु वे लक्षण, संकेत या शकुन आदि ऐसे नहीं होते जिन्हें सब लोग सहज में समझ सकें और इसी लिए या तो ईश्वर तक पहुँचे हुए बडे बडे महात्मा और या यही पेशा करनेवाले बडे वडे दक्ष या गुणी लोगों को उनका वास्तविक अर्थ या आशय समझाते हैं।

शकुन–विचार और भविष्य कथन का एक और प्रकार है जो संसार के बहुत से और एक दूसरे से बहुत दूरी पर बसे हुए देशों में भी पाया जाता है। लोग देवताओं के आगे जिन पशुओं को बलि चढाते हैं, उनके कुछ भीतरी अंगों और विशेषत: जिगर को अच्छी तरह देखकर उनके असाधारण और विशिष्ट रूपों आदि के आधारपर भावी शुभाशुभ फलों का निश्चय करते हैं। बोरनियो और फिलिपाइन्स के कुछ जंगली फिरके आज तक इसी प्रकार बलि–पशुओं के भीतरी अंगोंको देखकर शुभाशुभ शकुनों का विचार करते हैं। प्राचनिकाल में बैबिलोनिया के पुरोहितों ने इस विद्याका बहुत कुछ विकास किया था और इसके लिए बहुतसी जटिल प्रणालियाँ भी निश्चित की थीं। फिर उन्हीं लोगों की कृपा से इस का यूनान और इटली तक में प्रचार हुआ था। इसी तरह की एक दूसरी कला वह थी जिसमें आकाशस्थ ग्रहों और पिंडों आदि की स्थितियों

तथा गतियों और इसी प्रकार की दूसरी आकाशस्थ घटनाओं के आधार पर शकुन-विचार और भविष्य-कथन किया जाता था; और इस कला का विकास भी मुख्य रूप से बैबिलोनियावालों ने ही किया था। ईसवीसन् से पहले की कुछ शताब्दियों में शकुन-विचार और भविष्य-कथन के जितने प्रकार प्रचलित थे, उन सबमें यह ज्योतिष विद्या ही सबसे बढ़ी-चढ़ी थी और इसी के द्वारा यह सिद्धान्त स्थिर हुआ था कि मनुष्यों का भाग्य केवल उनके नक्षत्रों और तारों आदि में ही नहीं लिखा रहता है, बल्कि उस भाग्य का उन्हीं नक्षत्रों और तारों के द्वारा ऐसा नियंत्रण भी होता है जिसमें कभी किसी उपाय से कोई परिवर्तन हो ही नहीं सकता। पहले तो लोगों का यही विश्वास हुआ करता था कि या तो जो कुछ होता है, वह केवल दैव की ओर से होता है और या अपनी सब बातों के लिए स्वयं मनुष्य ही उत्तरदायी होता है। परन्तु ज्योतिष के आधारपर जो यह नया अदृष्ट वाद या नियतिवाद चल पड़ा था, उसने उक्त प्रकार के सब विश्वासों का अन्त कर दिया था। साथ ही धर्म के ह्रास या पतन में भी इसने कुछ कम काम नहीं किया था।

इस प्रकार कभी कभी लोगों को जो देवताओं की ओर से छोटी-मोटी बातें मालूम हो जाया करती थीं, केवल उन्हीं तक ईश्वरादेश या इलहामवाला विचार परिमित नहीं था। भारत के प्राचीन ऋषियोंने यज्ञों आदि के लिए देवताओं की स्तुतियों के जो मंत्र रचे थे, उनके सम्बन्ध में भी यही माना जाता था कि वे ईश्वरादेश से ही बनाये गये हैं अथवा ईश्वर कृत हैं। लोग समझते थे कि ईश्वर की ओर से ऋषियों को आदेश होता है और इसी लिए वे मंत्रों की रचना करते हैं। यही सब मंत्र रक्षित रखे जाते थे और अन्त में यज्ञ सम्बन्धी कार्यों के लिए इन्हीं का ऋग्वेद के रूप में संग्रह हुआ था। फिर न तो यह ईश्वरादेश केवल देवताओं

की स्तुतियों और प्रार्थनाओं तक ही परिमित था और न इसका अन्त ही वैदिक युग के अन्त के साथ हुआ था। और और विषयों में भी यह ईश्वरादेश माना जाता था और वैदिक युग के बहुत दिन बाद तक भी इसकी मान्यता चली चलती थी। ब्राह्मण ग्रंथों में जिन कृत्यों के वर्णन हैं, उपनिषदों में ब्रह्म विद्या सम्बन्धी जो विचार हैं तथा गृहस्थों आदि के पालन करने के लिए जो नियम और विधान गृह्य सूत्र हैं, तात्पर्य यह कि जितना धार्मिक साहित्य है और मानव जीवनकी व्यवस्था तथा नियन्त्रण करनेवाले जितने नियम और विधान आदि हैं, उन सबके सम्बन्ध में यही माना जाता था कि वे ईश्वर के आदेश या प्रेरणा से ही निश्चित हुए हैं। पहले तो ये सब बातें भिन्न भिन्न संघों और शाखाओं के द्वारा रक्षित रखी गई थीं और इस बात का यथेष्ट ध्यान रखा गया था कि इनमें कहीं कोई परिवर्तन न होने पावे; और तब अन्त में ये सब बातें लिपिबद्ध कर ली गई थीं। परन्तु लिपिबद्ध हो जाने की अवस्था में भी यही माना जाता था कि यह लिखित रूप केवल स्मृति की सहायता के लिए है अथवा उस ईश्वरीय आदेश का अपूर्ण प्रतिनिधि मात्र है।

इसराईल में ईश्वरादेश का सब से अधिक प्रचलित रूप यह था कि पैगम्बरों को खुदा की तरफ से इलहाम हुआ करता था; और अन्त में यहाँ तक नौबत आ पहुँची थी कि वहाँ जितने वे प्रकार के धार्मिक कृत्य और आचरण आदि होते थे, नागरिकों से सम्बन्ध रखनेवाले जितने नियम आदि थे और राष्ट्र के जितने नैतिक मान तथा आदर्श आदि थे, उन सबके सम्बन्ध में लोगों का यही विश्वास हो गया था कि राष्ट्र के अस्तित्व के आरम्भ में ही सब पैगम्बरों में बडे और हमारे पैगम्बर मूसा को खुदा की तरफ से उन सबका इलहाम हुआ था। फिर इसके बाद एक वह समय भी आया जब कि इस तरह पैगम्बरोंको इलहाम होना बन्द हो गया। परन्तु फिर भी आज तक यहूदियों का यही विश्वास है कि हमारी

धर्म-पुस्तक और उससे सम्बन्ध रखनेवाली जितनी परम्परागत बातें हैं, वे सब पूर्ण और अन्तिम रूप में यहूदियों के लिए खुदाई इलहाम हैं और उन्हीं के द्वारा ईश्वर ने संसार पर अपना स्वरूप तथा उद्देश्य प्रकट किया है और उसी में उसने यह बतलाया है कि मनुष्य मात्र का जिवन कैसा होना चाहिए ।

जिन धर्मों में पवित्र धर्म-ग्रंथों का बहुत बडा भंडार है, उनमें से अधिकांश उसी वर्ग के हैं, जिन्हें हम मोक्ष-दायक कह सकते हैं, अर्थात् जिनमें लोगों को यह विश्वास दिलाया गया है कि हम अमुक उपाय अथवा मार्ग से तुम्हारे पाप ईश्वर से क्षमा करा देंगे और इस प्रकार परलोक में मिलनेवाले दंडों से तुम्हारा मोक्ष या छुटकारा करा देंगे । इस प्रकार के धर्मों का विवेचन हम आगे चलकर करेंगे ।

यद्यपि प्राकृतिक देववाद का सामान्य रूप बहुदेववाद ही है, परन्तु फिर भी हम देखते हैं कि बहुत पहले ही लोगों में सब देवताओं को मिलाकर एक करने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो गई थी और उच्चतर धर्मों में हमें अनेक रूपों में इस प्रवृत्ति का विकास दिखाई पडता है । जो जातियाँ इस समय भी संस्कृति के बहुत ही निम्न तलपर हैं, और जो अभी तक विशेष सभ्य नहीं हुई हैं, उनमें भी प्रायः हमें एक ऐसा देवता मिलता है जो बाकी सब देवताओं से कुछ भिन्न प्रकार का होता है और कभी कभी उसीको लोग सब बातों और पदार्थोंका कर्त्ता मानते हैं। साधारणतः उसके सम्बन्ध में यही माना जाता है कि वह ऊपर आकाश में रहता है और वहीं से वह इस संसार में होनेवाली सब बातें देखता रहता है । प्रायः लोगों का यह भी विश्वास होता है कि वह भी मनुष्यों की ही तरह अनुचित कृत्यों से-अर्थात् फिरकों में प्रचलित नियमों और प्रथाओं के विरुद्ध आचरण से-असन्तुष्ट होता है और उचित तथा उत्तम कर्मों से

जो उन नियमों और प्रथाओं के अनुकूल होते हैं–सन्तुष्ट तथा प्रसन्न होता है। धर्म की उत्पत्ति तथा आरम्भ के सम्बन्ध में इधर हाल में कुछ लेखकों ने जो ग्रन्थ लिखे हैं, उनमें उन्होंने यह सिद्धान्त स्थिर किया है कि इस प्रकार के छोटी जातियों के बडे देवता उस समय से भी बहुत पहले वर्तमान थे, जिस समय वे लोग अच्छी और बुरी सभी तरह की अनेक प्रकार की और बहुत सी भूतात्माएँ मानते थे और जिनसे जीव–देह पार्थक्यवाला सिद्धान्त माननेवाले जंगली लोग अपना संसार भरा हुआ समझते थे। उन लोगों का यह भी मत है कि भूतात्माओं को मानने से पहले भी और उनके बाद अनेक प्रकार के देवताओं को मानने से पहले भी वे लोग एक ऐसा देवता मानते थे जो उनकी दृष्टि में सबसे बडा होता था। साधारणतः यही माना जाता है कि बहुदेववाद से ही बढते बढते लोग एकेश्वरवाद तक पहुँचे थे। परन्तु उक्त लेखकों का मत इससे बिलकुल उलटा है और वे कहते हैं कि पहले ऐसा ही और अधिक शुद्ध प्रकारवाला धर्म प्रचलित था जिसमें एक सबसे बडा और प्रमुख देवता माना जाता था और उसी से अपकर्ष या अधोगतिवाली क्रिया से बहुदेववादकी उत्पत्ति या विकास हुआ है। यह ठीक है कि धर्म के इतिहास में कभी तो उन्नति भी देखने में आती है और कभी अवनति या ह्रास भी; परन्तु कम से कम इस सम्बन्ध में यह नहीं जान पडता कि इन श्रेष्ठ या बडे देवताओं के सम्बन्ध में कभी किसी का यह भी विश्वास रहा हो कि ये लौकिक बातों में भी हस्तक्षेप करते हैं। यह तो जरूर कहा जाता है कि ये देवता अनुचित कृत्यों से असन्तुष्ट होते थे, परन्तु वे कोई ऐसा काम नहीं करते थे जिससे लोगों को इस बात का अनुभव होता कि ये श्रेष्ठ देवता हमारे कामों से असन्तुष्ट हैं; और इसी लिए लोग भी इन देवताओं का असन्तोष या कोप दूर करने अथवा इनका अनुग्रह प्राप्त करने लिए कोई काम नहीं करते थे। और इसका तात्पर्य यही होता है कि ये देवता

धर्म-क्षेत्र के अन्तर्गत बिलकुल नहीं माने जाते थे और न इसी बात का कोई प्रमाण मिलता है कि वे इस समय जो कुछ हैं, उससे कभी कुछ बढकर भी माने जाते थे। बिना यह माने हुए भी कि आदिम काल के निवासी प्राकृतिक एकेश्वरवाद मानते थे, यह बतलाना कुछ कठिन नहीं है कि उन लोगों में इस प्रकार की धारणाओं या विचारों का आरम्भ कहाँ से और कैसे हुआ था। परन्तु यह एक ऐसा प्रश्न है जिसके साथ यहाँ हमारा कोई विशेष सम्बन्ध नहीं हैं।

इस सिद्धान्त को हम एकदेववाद कह सकते हैं, और कुछ लोगों का कहना है कि इसी एकदेववादने आगे चलकर लोगों को एकेश्वरवाद का रास्ता दिखलाया था अथवा इसी एकदेववाद से आगे चलकर एकेश्वरवाद की सृष्टि हुई थी। परन्तु यह बात भी ठीक नहीं जान पडती, क्योंकि वैदिक मन्त्रों में हम देखते हैं कि प्राय: जब किसी देवता की स्तुति की जाती है, तब दूसरे सभी देवताओं की शक्तियों और गुणोंका उस देवतामें आरोप कर दिया जाता है। यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो यह पूजा और स्तुति में की एक साधारण सी बात है। जिस देवता से लोग कुछ प्राप्त करना चाहते हैं या कोई काम कराना चाहते हैं, उसकी शक्ति और उदारता की यथेष्ट प्रशंसा करके उसे प्रसन्न करनेका प्रयत्न करते हैं और कहते हैं कि और समस्त देवता जो कुछ कर सकते हैं, वह आप भी करने में समर्थ हैं। किसी दूसरे अवसर पर ठीक वही सब बातें किसी दूसरे देवता के सम्बन्ध में भी कही जा सकती हैं। बहुत सम्भव है कि लोगों के इसी प्रकार के अभ्यास के कारण ही आगे चलकर उस सर्वेश्वरवाद की सृष्टि हुई हो जिसमें सब देवता मिलाकर एक कर दिये जाते हैं अथवा किसी एक विशिष्ट देवता में सम्मिलित कर दिये जाते हैं और एक ऐसी क्रिया है जिससे बहुदेववाद का विलय हो जाता है, न कि एकेश्वरवाद का उदय होता है। ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर हमें पता चलता है कि एकदेव-

वाद की प्रवृत्ति कभी एकेश्वरवाद की ओर नहीं हुई थी और न उस प्रकार के सर्वेश्वरवाद की ओर ही हुई थी, जिसका उल्लेख हम अभी ऊपर कर आये हैं।

होमर ने अपने महाकाव्यों में ज़ुस (Zeus) को देवताओं और मनुष्यों का राजा कहा है। परन्तु फिर भी यह कभी सर्वसत्ता धारी नहीं माना जाता था; और यूनानी नगरों के धर्मों में तो हम देखते हैं कि इसका महत्व नाम मात्र के देवताओं से शायद ही कुछ अधिक माना जाता था। कुछ दूसरे कवियों ने यह कल्पना की थी कि सारे संसार की नैतिक व्यवस्था एक ही है; और इसी कल्पना के कारण ज़ुस को एक विशेष प्रकार की श्रेष्ठता या महत्व प्राप्त हो गया था, परन्तु वह श्रेष्ठता या महत्व केवल प्रकार में ही था, मान या मात्रा में नहीं था। लोग केवल यही कहते थे कि ज़ुस ईश्वर है, अर्थात् वे उसमें देवत्व की केवल पूर्णता ही मानते थे। इस प्रकार उसके सम्बन्ध के देवत्ववाला भाव बना ही रहता था और ईश्वरतावाला भाव नहीं आता था। ये सब धर्म-परायण कवि न तो कभी बहुत से देवताओंवाले धर्म का विरोध और खंडन ही करना चाहते थे और न उसमें सुधार ही करना चाहते थे; और वास्तव में इन लोगों की कृतियों का धर्म पर कोई प्रभाव भी नहीं पडा था। यह ठीक है कि पर-वर्त्ती काल के यहूदी और ईसाई इन कवियों के पद्य उसी प्रकार उध्दृत करते थे, जिस प्रकार वे अपने एकेश्वरवाद के पैगम्बरों के कथन आदि उध्दृत करते थे; परन्तु वास्तव में उक्त कवियों की इस प्रकार की उक्तियों का न तो यह अर्थ ही था और न प्रभाव या परिणाम ही।

चीन में तिएन या स्वर्ग को ही सर्वश्रेष्ठ शासक मानते हैं और इसी लिए उसे नैतिक सदाचार की एकता का मूर्तिमान् रूप भी मानते हैं और यह समझते हैं कि उसी की अधीनता में रहकर भूतात्माओं के रूप में समस्त

प्राकृतिक शक्तियाँ अपने अपने काम करती हैं। परन्तु वहाँ भी उस दिशा मे इससे आगे और कोई उन्नति नहीं हुई थी जिसे हम ठीक ठीक अर्थ में एकेश्वरवाद कह सकते हों।

हाँ दर्शन शास्त्र में प्रकृति की एकतापर भली भाँति विचार करके भौतिक एकता का विचार लोगों के मन में उत्पन्न हुआ था अथवा सत्ता की अनिवार्य एकता के विचार के आधार पर तत्व-ज्ञान सम्बन्धी या प्रत्यय स्वरूप एकता का विचार सिद्ध किया गया था। परन्तु इन दोनों ही अवस्थाओं में हम एक को ईश्वर कह सकते हैं। परन्तु यद्यपि विचारशीलों ने एक ऐसे दर्शन की सृष्टि कर ली थी जो उनके लिए धर्म ही था अथवा जो धर्म के स्थान पर काम दे सकता था, परन्तु उनके अनुमान के आधार पर स्थिर किये हुए विचारों या सिद्धान्तों का जन-साधारण में प्रचलित और उनके मान्य धर्मोंपर इसके सिवा और कुछ भी प्रभाव नहीं पडा था कि थोडे से समझदार लोग उन धर्मों से अलग होकर दर्शन की ओर आकृष्ट हो गये थे। परन्तु यह एक ऐसा विषय है जिसे इस समय हम छोड देना चाहते हैं और आगे चलकर एक दूसरे अवसर पर इसका विशेष रूप से विवेचन करेंगे। मुख्य रूप से यहूदी, ईसाई और इस्लाम केवल यही तीन धर्म एकेश्वर वादी माने जा सकते हैं; और ऐतिहासिक दृष्टि से इन तीनों धर्मोंका मूल उन प्रवृत्तियों से बिलकुल ही भिन्न था, जिनके कारण लोग बहुदेववाद में एकता स्थापित करना चाहते थे।

ज्यों ज्यों सभ्यता की वृद्धि होती जाती है, त्यों त्यों धर्म का भी संस्कार होता जाता है-धर्म भी सभ्य और परिमार्जित होता जाता है। पूजा-प्रणाली में बहुत सी नई नई बातें पैदा हो जाती हैं और उसका इस प्रकार सुधार तथा संस्कार होता है कि उसमें बहुत कुछ सुन्दरता आ जाती है। पहले के अमानुषिक धार्मिक कृत्य अब या तो निरीह हो जाते हैं और या

केवल संकेत-सूत्रवाला रूप धारण कर लेते हैं* । जिन पौराणिक कथाओं में अनीति और अनाचार रहता है, उनकी या तो लोग उपेक्षा करने लगते हैं और या उनके स्थान पर उनके ऐसे पाठ प्रस्तुत कर देते हैं जो साधारणतः लोगों को बुरे न मालुम हों और या उन्हें अनेक प्रकार के रूपकों आदि से युक्त कर देते हैं । देवताओं के सम्बन्ध में लोगों के विचार अधिक उच्च तथा शुद्ध होने लगते हैं और मनुष्यों के साथ उनके जो सम्बन्ध माने जाते हैं, वे भी पहले की अपेक्षा कृत अधिक उच्च तथा पवित्र हो जाते हैं । प्राचीन जगत में तो सभ्यता केवल थोड़े से ऊँचे दरजे के लोगों के ही काम की चीज होती थी; पर अब उससे जन-साधारण के भी बहुत अधिक अथवा बहुत जल्दी जल्दी अनेक प्रकार के सुधार और उन्नतियां होने लगती हैं । हाँ कभी कभी ऐसा होता है कि जनता एक स्थान से हटकर दूसरे स्थान पर जा बसती है । उस समय फिर से कुछ ऐसे छोटे देवताओं की उपासना आरम्भ हो जाती है जिनके सामने उपस्थित होकर छोटे आदमी कुछ अधिक सुख और शान्ति का अनुभव करते हैं; और फिर उन्हीं पुराने और भोंडे धार्मिक कृत्यों का प्रचार हो जाता है जिनके वे लोग पहले से अभ्यस्त होते हैं अथवा वे दूसरे देशों से इसी प्रकार के कुछ और देवता तथा कृत्य आदि लेकर अपना लेते हैं ।

---

* इसका एक छोटा सा उदाहरण हमें अपने यहां की बलिदानवाली प्रणाली में दिखाई पडता है । पहले जहाँ देवी-देवताओं के सामने बकरों का बलिदान चढाया जाता था, वहाँ अब प्रायः उनके कान का जरा सा टुकडा काटकर ही लोग उन्हें छोड देते हैं और यह मान लेते हैं कि कान काटने भर से ही बलिदान का कार्य सम्पन्न हो गया । अथवा अनेक स्थानों पर बकरे के बदले में सफेद कुम्हडे को ही काटकर लोग बलिदान की रसम अदा कर लेते हैं । —अनुवादक ।

ज्यों ज्यों संसार के सम्बन्ध में भी और स्वयं अपने सम्बन्ध में भी मनुष्य का ज्ञान बढता जाता है, त्यों त्यों सभ्यता की भी वृद्धि और विकास होता जाता है। इस प्रकार मनुष्य के बढते हुए ज्ञान और सभ्यता की वृद्धि का परस्पर बहुत घनिष्ट सम्बन्ध रहता है। लोगों को अपने अनुभव से और जाँच पडताल करने पर मालुम हो जाता है कि बहुत सी चीजों के सम्बन्ध में हमारे बाप-दादा का जो विश्वास था, वह ठीक नहीं था और वे चीजें वास्तव में वैसी नहीं थीं, जैसी वे लोग मानते थे। उनकी समझ में यह बात भी आ जाती है कि हमारे बडे-बूढे इन सब चीजों के सम्बन्ध में जो कैफियत दिया करते थे, वह बिलकुल लडकपन की होती थी। जब लोग जीव-देह-पार्थक्यवाला सिद्धान्त मानते थे, तब उनका धर्म यही कहता था कि इस दुनिया में जो कुछ है और जो कुछ होता है, वह सब ऐसी शक्तियों के द्वारा होता है जो आप से आप सब काम करती हैं। जब वे परिस्थिति के अनुसार जैसी आवश्यकता समझते थे, तब उन शक्तियों का वैसा ही रूप मान लेते थे अथवा अपनी पुराण-प्रिय कवित्व शक्ति के अनुसार उन के मनमाने आदि रूप आदि स्थिर कर लेते थे। पहले जब कोई घटना होती थी, तब उनके सामने एक यही सीधासादा प्रश्न उपस्थित होता था कि यह किस का काम है? परन्तु जब आगे चल कर वे लोग कुछ जाँच-पड-ताल करने लगे और यह समझने लगे कि वास्तव में बात क्या है और इस का कारण क्या है, तब वे पौराणिक उत्तरों को अलग छोडने और उनका परित्याग करने लगे; और धर्म में जहां तक पुराणों आदि को मान्यता प्राप्त होती थी, वहां तक हम यह भी कह सकते हैं कि पुराणों आदि के अस्वीकार या त्याग का यह भी अर्थ होता है कि उस सीमा तक लोगों का धर्म पर भी विश्वास नहीं होता था। यह प्रकरण हमारे सामने सब से अधिक स्पष्ट रूप में यूनानी विचार के इतिहास में उपस्थित होता है; परन्तु इसके परिणाम से बिलकुल

मिलते-जुलते और समान परिणाम हमें भारत और चीन में दिखाई पडते हैं।

आज कल हम लोग जिसे हम विज्ञान कहते हैं, पहले वहुत दिनों तक उस का विवेचन दर्शन शास्त्र के अन्तर्गत ही होता था। उस समय दर्शन शास्त्र ने निर्भयतापूर्वक विश्व के मूल और संघटनवाली समस्या पर विचार करना आरम्भ कर दिया था और बिना देवताओं की सहायता के ही वह उस का निराकरण करने लग गया था। वह यह नहीं मानता था कि कुछ देवताओं न इस विश्व की रचना या संघटन कर दिया है; और इसी लिए वह इस के वास्तविक कारण और स्वरूप का पता लगाना चाहता था। हां देवता भी सृष्टिरचना वाले क्रम का एक अंग हो रहे थे; और दर्शन शास्त्र सभी बातों का पता लगाना चाहता था, इस लिए उसे इस बात का भी विचार करना पडता था कि ये देवता लोग कहां से और कैसे आये। यूनान के आयोनिया प्रान्त के पदार्थ विज्ञानवेत्ताओं और उनके उत्तराधिकारियों ने एक प्राथमिक तत्त्व अथवा संसार का एक ऐसा उपादान या द्रव्य ढूंड निकाला था, जिसे वे सब का मूल मानते थे। उस के सम्बन्ध में उन लोगों का यह विचार था कि उस में एक निजी आभ्यन्तरिक प्रबल शक्ति होती है, जिस से उस में कुछ विशेष प्रकार के विकार होते हैं। हमें अपने आस-पास और चारों ओर प्रकृति में जो अनेक प्रकार के परिवर्तन होते हुए दिखाई देते हैं, उन परिवर्त्तनोंकी क्रियाओंके अनुरूप ही उस प्राथमिक तत्वमें भी परिवर्तन या विकार होते हैं और उसी द्रव्य में विकार होने के कारण यह सारा संसार और इस में के समस्त पदार्थ उत्पन्न होते हैं। यह ठीक है कि उन लोगों ने विश्व रचना सम्बन्धी समस्याओं के जो विनाकारण किये थे, वे वहुत कुछ अधूरे थे, परन्तु केवल इसी लिए हमें इस तथ्य

पर परदा नहीं पडने देना चाहिए कि इन विचारशीलों के बाद थेलेस ‡ तथा और दूसरे अनेक दार्शनिक हुए थे, जिन्होंने विश्व सम्बन्धी समस्या पर शुद्ध और पूर्ण वैज्ञानिक रूप से विचार किया था।

आरम्भ में जितने दार्शनिक हुए थे, उन में से अधिकांश धर्म की ओर से पूर्ण रूप से उदासीन रहकर अपना काम करते थे और इस बात की कुछ भी परवाह नहीं करते थे कि धर्म के सम्बन्ध में हम जो सिद्धान्त स्थिर करते हैं, उनके क्या फल या परिणाम होते होंगे। यूनानी दार्शनिक और लेखक ग्जेनोफेन्स ने होमर तथा हेसियड के देवताओं के अनाचार की खूब दिल्लगी उडाई थी, और साथ ही देवताओं की साकारता और सगुणता आदि के सम्बन्ध में लोगों में जो विचार तथा धारणाएँ प्रचलित थीं, उन सब को भी बहुत ही उपहासास्पद ठहराया था। यूनानी प्रजा में जो अनेक प्रकार के धर्म प्रचलित थे, उनमें बहुत से धार्मिक कृत्य बिलकुल मूर्खतापूर्ण और ऐसे होते थे जिनका कुछ भी अर्थ नहीं होता था और साथ ही जो समाज के लिए कलंक के रूप में थे। हेराक्लिटस ने इस प्रकार के धार्मिक कृत्यों की जी भरकर निन्दा की और उन्हें बुरा ठहराया था। ल्यूकिप्पस (Leucippus) और डिमाक्रिटस (Democritus) ने परमाणुवादवाला सिद्धान्त प्रतिपादित किया था और उसने एक ऐसा यान्त्रिक देहात्मवाद निकाला था जो भारतीय चार्वाक मत से बहुत कुछ मिलता-जुलता था। इस सिद्धान्त के अनुसार तार्किक दृष्टि से जिस प्रकार

‡ थेलेस (Thales) एक बहुत बडा यूनानी दार्शनिक माना जाता है जिसका समय ६४०–५५० ई० पू० है। इसकी गणना यूनानके सात बहुत बडे बडे बुद्धिमानों में होती है। जहाँ तक पता चलता है, सबसे पहले इसी ने विश्व-रचना सम्बन्धी समस्याओं पर पौराणिक कथाओं का परित्याग करके शुद्ध वैज्ञानिक रूप से विचार किया था। —अनुवादक।

देवताओं के लिए कोई स्थान नहीं रह गया था, उसी प्रकार आत्मा के लिए भी कोई गुंजाइश बाकी नहीं रह गई थी। और दोनों ही अवस्थाओं में बहुत कुछ तत्परता और निर्भयता के साथ यह निष्कर्ष निकाला गया था कि इन्द्रियों का सुख-भोग ही सबसे अच्छा काम है। एथेन्सवाले सूर्य और चन्द्रमा को देवता मानते थे, पर एनेक्सागोरस (Anaxagorus) ने यह कहकर उन लोगों को स्तम्भित कर दिया कि सूर्य एक बहुत बड़ी और सफेद गरम चट्टान है जो आकार में पेलोपोनेसस (Peloponnesus)* से भी बहुत बड़ा है; और चन्द्रमा इससे छोटे आकार की एक ठंडी चट्टान है। जिन आकाशस्थ पिंडों को लोग देवता मानते थे, उनके सम्बन्ध में इस प्रकार की बातें कहना पूर्ण नास्तिकता या निरीश्वर-वाद के सिवा और क्या समझा जा सकता था? इसी अपराध में एनैक्सगोरस को देश-निकाला दे दिया गया और उसकी लिखी हुई सब किताबें जला डाली गईं। उन दिनों सोफिस्ट † लोग हेतुवाद का बहुत अधिक प्रचार करते थे और उनके विचारों का नवयुवकों पर यथेष्ट प्रभाव पड़ता था; और इसी लिए नई पीढ़ी के लोग यह कहने लग गये थे कि "न तो धर्म को ही और न नीति को ही इस बात का कोई अधिकार है कि वह

---

* प्राचीन यूनान का दक्षिणी भाग जो आजकल मोरिया कहलाता है। —अनुवादक।

† ई० पू० पाँचवीं शताब्दी में यूनान में बहुत से सार्वजनिक उपदेशक चारों और घूम घूमकर लोगों को अलंकार शास्त्र, दर्शन और आचार आदि के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के मनमाने उपदेश दिया करते थे। ये लोग बड़े जबरदस्त तार्किक होते थे और प्रायः कुतर्कों तथा हेत्वाभासों से अपने मत का समर्थन करते थे। यही लोग सोफिस्ट (Sophists) कहलाते थे। — अनुवादक।

लोगों के आचरण और व्यवहार आदि के सम्बन्ध में किसी प्रकार का आदेश या विधान कर सके"। उनका यह मत हो गया था कि हर एक आदमी अपनी समझ के मुताबिक अपने विचार स्थिर करे और जिस प्रकार का आचरण युक्ति-संगत समझे, उस प्रकार का आचरण करे। उधर अज्ञेयवादी लोग यह कहा करते थे कि कोई यह नहीं जान सकता कि देवता हैं या नहीं हैं; फिर यह जानना तो बहुत दूर की बात है कि वे क्या और कैसे हैं। और कुछ ऐसे लोग भी थे जो यह कहा करते थे कि आखिर मनुष्यों को देवताओं की कल्पना ही कहाँ से हुई और उन्होंने उनका आविष्कार ही कैसे किया? आचार शास्त्र के क्षेत्र में वे लोग कहते थे कि हमारे अशिक्षित पूर्वजों में जो प्रथाएँ प्रचलित थीं और औचित्य तथा अनौचित्य के सम्बन्ध में उनकी जो धारणाएँ या विचार थे, उनका पालन आज-कल के शिक्षित लोग क्यों करें और उन्हींके अनुसार क्यों आचरण करें? और शासन आदि कार्यों में जिन लोगों का किसी प्रकार बहु-मत हो गया हो, उन लोगों को इस बात का क्या अधिकार है कि वे कानून बनाकर अथवा सार्वजनिक मत के आधार पर किसी व्यक्ति पर बलपूर्वक ऐसा शासन करें जो उसकी समझ से युक्ति-संगत न हो और उसे अपने स्वार्थ अथवा हित के विपरीत जान पडता हो।

कुछ दिनों तक यूनान में लोग इसी तरह के अल्हडपण के स्वतंत्र विचार प्रकट करते रहे, पर उनका यह जवानी का जोश बहुत दूर तक न जा सका और जल्दी ही ठंडा पड गया। परन्तु फिर भी उन लोगों ने अपने इस जोश में बहुत सी बातों के सम्बन्ध में अपना जो संशय प्रकट किया था और बहुत सी पुरानी तथा प्रचलित बातों का जो अस्वीकार किया था; उसके कारण बहुत से नये प्रश्न उठ खडे हुए थे। इसके सिवा बढते हुए विज्ञान और नित्य होनेवाली नई नई विवेचनाओं तथा कल्पनाओं के कारण भी बहुत से नये प्रश्न लोगों के सामने आ उपस्थित हुए थे और

इस प्रकार अधिक गूढ दर्शन के सामने बहुत सी नई समस्याएँ उत्पन्न हो गई थीं। जो देवता मनुष्यों के ही अनुरूप बनाये गये थे, यद्यपि उनका गौरव तथा महत्व बहुत अधिक बढा दिया गया था, परन्तु फिर भी न तो वे भौतिक विश्व के वैज्ञानिक सिद्धान्त के ही सामने ठहर सकते थे और न सत्ता तथा अस्तित्व के आध्यात्मिक सिद्धान्तों के सामने ही ठहर सकते थे; और जिन बातों का केवल धर्म में विधान किया गया था, वे बातें नीति शास्त्र के निश्चित नियमों के रूप में ग्रहण नहीं की जा सकती थीं।

एक ओर तो प्लेटो तथा अरिस्टोटल सरीखे दार्शनिकों ने और दूसरी ओर जेनो (Zeno) नामक दार्शनिक के शिष्यों ने, स्टोइक (Stoics) कहलाते थे, धर्म को युक्ति–संगत और आचारशास्त्र को वैज्ञानिक बनाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया था। ईश्वर–विद्या के सम्बन्ध में दार्शनिक लोग तो यह समझते थे कि वह ज्ञानातीत ईश्वर से सम्बन्ध रखनेवाला सिद्धान्त या मत है; और स्टोइक लोग यह कहते थे कि वह मनुष्य के अन्दर रहनेवाले दैवी विवेक या बुद्धि का विषय है; और आगे से समझदार लोगों के धार्मिक विचार तथा जीवन किसी न किसी रूप में इसी प्रकार के विचारों और सिद्धान्तों के अनुसार स्थिर होने लगे; बल्कि यही बात हम और भी ठीक तरह से इस प्रकार कह सकते हैं कि यदि समझदार लोग कोई धर्म मानते थे, तो वे वास्तव में वही धर्म मानते थे जो इस प्रकार के विचारों और सिद्धान्तों के अनुसार निश्चित होता था। हाँ यह बात दूसरी थी कि वे अपने पूर्वजों के धर्मों पर भी थोडी बहुत दया दिखला दिया करते थे और किसी किसी अवसर पर उनका भी थोडा बहुत पालन कर दिया करते थे। परन्तु इस प्रकार के नवीन विचारों और उनके आन्दोलनों का जन–साधारण पर कोई प्रभाव नहीं पडता था और वे लोग पहले की ही तरह ज्यों के त्यों अविचलित भाव से चले चलते थे। उन लोगों के लिए उनके पूर्वजों का धर्म ही यथेष्ट उत्तम था। उसका

परवर्त्ती इतिहास मुख्यतः बाह्य है—उसमें बहुत से विदेशी देवताओं, पूजा-विधियों और बर्बरतापूर्ण रहस्यवादों आदि का प्रचार हो गया था, और अन्त में उनमें सर्वांगीकार तक की अवस्था आ पहुँची थी-धर्म के नाम से उन लोगों के सामने जो कुछ आता था, उन सब का वे लोग अंगीकार करते चलते थे और उसे अपने धर्म में मिलाते चलते थे। तात्पर्य यह कि वह इतिहास यूनान के धर्मों के ह्रास या पतन का ही इतिहास है, उसकी उन्नति का इतिहास नहीं है।

भारतवर्ष में भी पहले तो वहुत दिनों तक पुराने देवताओं और उनकी पूजा का ही प्रचार रहा, पर बाद में यहाँ भी बहुत से एसे नये विचार उत्पन्न हो गये थे जो इन देवताओं और उनकी पूजाओंवाले विचारों से बहुत आगे बढ गये थे। परन्तु यहाँ जो कुछ विचार हुआ था, वह मुख्यतः ब्राह्मण जाति में ही हुआ था और वह सारा विचार आरम्भ से ही भौतिक नहीं बल्कि आध्यात्मिक था, इसलिए यूनानियों में होनेवाले परिणाम से भारत के इन नये विचारों का परिणाम बहुत कुछ भिन्न था। यहाँ एकता के विचार का आरम्भ वास्तव में सृष्टि की उत्पत्ति से सम्बन्ध रखनेवाले विचारों के कारण हुआ था। यहाँ अधिकांश में यही माना जाता था कि एक देवता ने स्वयं अपने में से ही यह विश्व उत्पन्न करके इसका विकास किया है। परन्तु इसके उपरान्त यहाँ एक तात्विक विचार प्रचलित हो गया था, जिसका तर्क संगत परिणाम यह हुआ कि यहाँ प्रत्ययात्मक या मायावादी अद्वैत वाद का प्रचार हो गया। सब देवताओं को वास्तव में एक मानने का सिद्धान्त उपनिषदों के द्वारा और भी अधिक प्रचलित हो गया। लोग यह मानने लगे कि मनुष्य में जो वास्तविक आत्मा निवास करती है, उसे भूल से लोग व्यक्तिगत और दूसरी आत्माओं से अलग समझ लेते हैं; परन्तु वास्तव में समस्त आत्माएँ उसी एक सर्वात्मा का अंश हैं और सब एक हैं; और मनुष्य के जन्म धारण करने का अन्तिम उद्देश्य यही

है कि वह इस बात का ज्ञान प्राप्त कर ले कि समस्त आत्माएँ उसी एक विश्वात्मा का अंश और रूप हैं। यह अलौकिक या लोकोत्तर अन्त या चरम उद्देश्य शेष समस्त प्राकृतिक तथा लौकिक अन्तों और चरम उद्देश्यों को पीछे छोडकर उनसे बहुत आगे बढ जाता है; और इसके साथ ही उन देवताओं का भी अन्त हो जाता है जो मनुष्यों की प्राकृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति की व्यवस्था करते हैं। परन्तु इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में ध्यान रखने योग्य एक बात यह थी कि इसका प्राकृतिक धर्म के ऊपर आरोप या आच्छादन कर दिया गया था और इसके द्वारा प्राकृतिक धर्म का विरोध या खंडन नहीं किया गया था। मनुष्यों की जीवन-चर्या के लिए चार आश्रम निर्धारित कर दिये गये थे और इनमें पहले दो आश्रमों अर्थात् ब्रह्मचर्य और गृहस्थ आश्रमों में रहनेवाले लोग वेदों का अध्ययन और अपने प्राचीन धर्म के कर्तव्यों का पालन और कृत्यों आदि का अनुष्ठान करते थे। इसके उपरान्त जो तीसरा वानप्रस्थ आश्रम आता था, उसमें पहुँच कर इस प्रकार के कर्तव्यों के पालन और कर्मों के अनुष्ठान की आवश्यकता नहीं रह जाती थी और लोग केवल धार्मिक कृत्यों के गूढ तथा रहस्यपूर्ण अर्थ का विचार और मनन करते थे। और इसके उपरान्त चौथे या संन्यास आश्रम में पहुँचकर ध्यानस्थ होकर केवल इस बात का विचार और मनन करते थे कि इस आत्मा का समस्त विश्व के साथ क्या सम्बन्ध है और अन्तिम उद्देश्य के साधन में लगे रहते थे—अर्थात् मोक्ष प्राप्त करने के उपाय करते थे।

भारत में यही सनातन प्रथा थी। इस के विरुद्ध अनीश्वरवादी या नास्तिक चार्वाकों का परमाणुवाद तो था ही, पर साथ ही बौद्ध आदि मतों के समान बहुत से ऐसे नवीन मत या सम्प्रदाय भी उत्पन्न हो गये थे जो वेदों अथवा ब्राह्मण पुरोहितों का कोई अधिकार या प्रभुत्व नहीं मानते थे। यदि वे लोग लोक-प्रचलित देवताओं का अस्वीकार नहीं करते

थे, तो कम से कम वे उन की पूजा और उपासना भी नहीं करते थे और न यही मानते थे कि उन सब का कोई प्रधान या ईश्वर भी है। इस प्रकार के मतों और सम्प्रदायों के आन्दोलन का धर्म पर जो प्रभाव पड़ा था, वह उन मतों और सम्प्रदायों का अन्त हो जाने के बाद भी बराबर बना रहा। परन्तु स्वयं उन आन्दोलनों के सम्बन्ध में हम यहाँ और कुछ नहीं कहना चाहते। यहाँ केवल यही बतला देना यथेष्ट होगा कि जब यह लहर रुक गई और इस तरह के आन्दोलन ठंढे पड़ने लगे, तब भी प्राचीन ब्राह्मण धर्म अपना वह पुराना महत्व और सर्वश्रेष्ठता न प्राप्त कर सका। अब उन बहुत से धर्मों का जमाना आने को था जिन सब के लिए हम एक ही नाम "हिंदु धर्म" का प्रयोग करते हैं। धीरे धीरे इसी हिन्दू धर्म पर सब लोगों की श्रद्धा होती गई और सब जगह उसी का अधिकार माना जाने लगा। उस में कई ऐसे धर्म सम्मिलित हो गये थे जो मूलतः कुछ अधिक भद्दे और अ-परिष्कृत थे और उन्हों ने ऐसा मार्ग निकालना चाहा जिस से इहलौकिक उद्देश्यों की भी सिद्धि हो और पारलौकिक उद्देश भी सिद्ध हो। अब विष्णु तथा शिव सरीखे ऐसे देवताओं की उपासना होने लगी जो इस जीवन में भी शुभफल देनेवाले माने जाते थे और परलोक में भी कल्याण करनेवाले माने जाते थे। आज कल इसी तरह का हिन्दू धर्म प्रचलित है। पर साथ ही साथ ब्राह्मण धर्म का भी मुख्यतः ब्राह्मणों में प्रचार है जो केवल वैदिक कर्म-कांडों को ही सब से अधिक महत्व देते हैं। और वे ब्राह्मण लोग भी अपना ब्राह्मण धर्म किसी हिन्दू धर्म की जगह पर नहीं, बल्कि उस के साथ ही साथ मानते और उस हिन्दू धर्म का पालन करते हैं। इस प्रकार भारतवर्ष में भी विचारों की जो उन्नति हुई थी, वह प्राचीन धर्म के क्षेत्र से बहुत कुछ आगे बढ़ गई थी और ये नये विचार उस प्राचीन धर्म को अपने साथ आगे बढ़ाने में सफल नहीं हुए थे।

नीति क्षेत्र में इस का प्रभाव कुछ कम ही देखने में आता है। भारतवर्ष के जितने धर्म और सम्प्रदाय हैं, उन सब के मूल उपदेश बहुत कुछ समान ही हैं, फिर उन के सिद्धान्तों और उद्देश्यों या प्रयोजनों में भले ही अन्तर हो। समस्त धर्मों और सम्प्रदायों का स्वरूप सदा उपदेशात्मक ही रहता है। भारतीय साहित्य है तो बहुत बडा, पर उस में आचार शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों का नितान्त अभाव है। आचार आदि से सम्बन्ध रखनेवाली जितनी बातें हैं, वे सब यहाँ के धार्मिक ग्रन्थों और नियमों में ही मिलती हैं।

इन सब उदाहरणों के द्वारा हमें कई प्रकार से इस बात का पता चलता है कि धर्म और संस्कृति में परस्पर अन्योन्याश्रय अथवा आदान-प्रदान के सम्बन्ध हैं। इन उदाहरणों से यह भी पता चलता है कि ज्ञान और विचार प्रायः धर्म से बहुत आगे बढ जाते हैं। जिस से धर्म कुछ संकट में पड जाता है, और तब वह आत्म--रक्षावाली सहज बुद्धि के कारण ज्ञान और विचार की वृद्धि में कुछ बाधक होने लगता है, और कभी कभी तो वह इन दोनों को दबाने का भी प्रयत्न करता है। समाज में जो लोग अधिक बुद्धिमान् और अधिक नीतिमान् होते हैं, वे कभी कभी इतनी तेजीसे और इतना ज्यादा आगे बढ जाते हैं कि जन-साधारण के साथ उन का सम्पर्क छूट जाता है। ऐसे लोगों के लिए उचित तो यह है कि वे जन-साधारण की उन्नति करके उन्हें भी अपने साथ साथ आगे बढाने का प्रयत्न करें; परन्तु ऐसा न करके वे लोग जनता को जहाँ का तहाँ छोड देते हैं और जनता ऐसे उत्कट मिथ्या विश्वासों में ही पडी रह जाती है जो जल्दी दूर नहीं किए जा सकते। फिर इस के सिवा एक बात यह भी है कि सभ्यता का जो विकास होता है, उस की गति सदा केवल आगे की ओर ही नहीं होती, और सभ्यता के इतिहास में हम देखते हैं कि जहाँ अनेक वार वह आगे की ओर बढती है, वहाँ अनेकवार

वह पीछे की ओर भी हटती है, और इसी लिए हम यह भी देखते हैं कि संसार में अब तक जितनी सभ्यताएँ चली हैं, वे सब कभी न कभी ह्रास या पतन की ओर भी बढी हैं, और यहाँ तक की अन्त में उन का अस्तित्व ही मिट गया है और उन सभ्यताओं के साथ ही साथ उन धर्मों का भी लोप हो गया है, क्योंकि धर्म उस ह्रास और पतन को रोकने में असमर्थ थे।

धर्म की उत्पत्ति और विकास में जो सबसे अधिक महत्वपूर्ण अंग या बातें हमें दिखाई पडी हैं, अब तक हमने उन्हीं सबका दिग्दर्शन कराने का प्रयत्न किया है। परन्तु यह समझना बहुत बडी भूल है कि धर्म की उत्पत्ति और विकास के केवल इतने ही अंग अथवा इतनी ही बातें हैं। हमने यही बतलाया है कि आकाशचारी पिंडों की राजसी और शानदार चाल देखकर आरम्भिक काल के लोगों के मन में भय उत्पन्न होता था और उनकी गतियों की भव्य व्यवस्था देखकर वे लोग दंग रह जाते थे; अथवा प्रकृति को किसी रूप में देखने पर उनके मन में उसके सौन्दर्य का बहुत कुछ प्रभाव पडता था; और इन्हीं सब बातों के कारण धर्म की उत्पत्ति या आरम्भ हुआ था। अब हमारे इस कथन में चाहे कितना ही अधिक भ्रम या भूल क्यों न हो, पर फिर भी हमारे लिए यह समझने का कोई कारण नहीं है कि प्राचीन काल के हमारे पूर्वजों को उस प्रकार के प्रभावों या प्रतीतियों की कुछ भी अनुभूति या ज्ञान नहीं होता था, जिस प्रकार के प्रभावों या प्रतीतियों का फल आज-कल के बालकों पर तुरन्त ही पडता हुआ दिखलाई देता है। तात्पर्य यह कि आरम्भिक काल में मनुष्यों की मानसिक अवस्था बहुत कुछ आज-कल के बच्चों की मानसिक अवस्था के समान ही थी; और जिस प्रकार आज-कल कुछ बातों का बालकों पर तुरन्त प्रभाव पडता है और किसी घटना के होने पर वे तत्काल भयभीत, चंचल, क्रुद्ध अथवा प्रसन्न हो जाते हैं, उसी प्रकार आदिम काल

के मनुष्यों पर भी उस प्रकार की बातों का तुरन्त ही वैसा प्रभाव पडता था और वे भी भयभीत, चंचल, क्रुद्ध अथवा प्रसन्न हो जाते थे। ऋग्वेद से हमें पता चलता है कि हमारे पूर्वज आर्य लोग सूर्य, चन्द्रमा, बादल, आँधी और मूसलधार होनेवाली वर्षा को देव-रूप में मानते थे और इनसे सम्बन्ध रखनेवाली शक्तियों को उन्होंने अपने यहाँ के बडे बडे देवताओं में स्थान दिया था। परन्तु इसका कारण केवल यही नहीं है कि वे लोग बादल को गरजते हुए सुनकर अथवा बिजली को चमकते हुए देखकर भयभीत हो जाते थे अथवा सूर्य, चन्द्रमा और वर्षा आदि से उनके बहुत से काम निकलते थे और इसी लिए उन लोगों ने इन सब को बहुत बडे बडे देवताओं के रूप में मान लिया था। यदि हम यह भी मान लें--और ऐसा मानना एक बहुत बडी सीमा तक ठीक भी है- कि लोग आत्म-रक्षा के विचार से ही इन शक्तियों को शान्त तथा सन्तुष्ट करना चाहते थे, तो भी इस बात में कोई सन्देह नहीं है कि इस आत्म-रक्षावाले विचार के साथ ही साथ इनके उपासकों के मन में जो और भाव उत्पन्न होते थे, उनका किसी हद तक एक कारण यह भी था कि प्राकृतिक क्षेत्र में ये शक्तियाँ जो काम करती थीं, उन्हें देखकर उन लोगों के मन में बहुत कुछ भय और आतंक भी उत्पन्न होता था। यही बात हम दूसरे शब्दों में इस प्रकार भी कह सकते हैं कि इन सब प्राकृतिक शक्तियों और उनके कार्यों को देखने पर मनुष्यों के मन पर इनके सौन्दर्य आदि की जो छाप पडती है और उसके मन में जो भाव उत्पन्न होते हैं, स्वयं वह छाप और वे भाव ही धार्मिक नहीं हैं, बल्कि वे इसलिये धार्मिक स्वरूप प्राप्त कर लेते हैं कि उनका सम्बन्ध उन देवताओं के साथ स्थापित कर दिया जाता है जो प्रकृति के क्षेत्र में अपनी शक्ति प्रदर्शित करते हैं। यही बात उन प्रभावों के सम्बन्ध में भी है जो प्रकृति के कोमल अंगों को देखने से उत्पन्न होते हैं या जो उसके सुन्दर ढाँचे का मनोहर रूप देखने पर उत्पन्न होते

हैं। यह बात नहीं है कि सब प्रकार के लोगों को अनुभूति और विचारों पर प्रकृति के वैभव और सौन्दर्य का समान रूप से प्रभाव पडता हो। बल्कि अलग अलग जातियों पर उनकी आस--पास की बातों और स्थितियों तथा उनके जाति--गत स्वभाव और गुण के अनुसार प्राकृतिक वैभव तथा सौन्दर्य का अलग अलग प्रकार का प्रभाव पडता है; और किसी जाति पर यह प्रभाव कम पडता है और किसी जाति पर अधिक पडता है।

बहुत आरम्भिक अवस्थाओं से ही कला भी धर्म के साथ ही रहती आई है। प्राचीन काल में पशुओं आदि के जो रूप या आकृतियाँ बनाई जाती थीं, बहुत सम्भव है कि वे इस उद्देश्य से बनाई जाती हों कि उनका कुछ उपयोग हो, और उनमें वह गुण भी माना जाता था जिसे हम तान्त्रिक प्रभाव कह सकते हैं। परन्तु जब आगे चलकर धर्म और भी उच्च अवस्थाओं में पहुँचता है, तब लोग कला से भी बहुत काम लेने लगते हैं। जहाँ तक पता चलता है, सभी देशों में वास्तु कला का सब से पहले जो बडा विकास हुआ था, वह मन्दिरों, देवताओं के निवास-स्थानों और उन समाधियों के निर्माण में ही हुआ था जो इस लोक में बडे लोगों के स्थायी रूप से निवास करने के लिए बनाई जाती थीं। मिस्र में बडे बडे राजाओं के राज–प्रासादों का तो कहीं कोई बचा हुआ चिह्न नहीं मिलता, परन्तु हम देखते हैं कि जिन स्थानों पर पहले से मन्दिर बने हुए थे, उन स्थानों पर भी बराबर प्रत्येक युग में एक के बाद एक बहुत बडे बडे और भव्य मन्दिर बनते चले जाते थे। यूनानियों ने अपनी प्रतिभा के बल से जो अनेक बहुत बडे बडे कार्य किये थे, उन्हीं में वहाँ के बडे बडे मन्दिर भी हैं; और बहुत हाल के जमाने तक भी यही देखने में आता है कि मन्दिरों, गिरजों और मसजिदों में ही वास्तु कला अपनी उन्नति की चरम

सीमा तक पहुँची है। पेस्टम* नामक स्थान में बिलकुल उजाड और सुनसान जगह में अब भी ऐसे बहुत से मंदिर हैं, जिन्हें बहुत दिनों से लोगों ने यों ही छोड रखा है। पर आज भी जब वहां कोई ऐसा अजनबी पहुंच जाता है जो उन मन्दिरों के निर्माताओं के धर्म से नितान्त अपरिचित होता है, तो वह दंग रह जाता है और उसे इस बात का अनुभव होता है कि ये मन्दिर बहुत ही उच्च कोटि का भाव प्रकट कर रहे हैं, और स्वयं इन मन्दिरों के दर्शन से ही लोगों के मन में बहुत बडे और ऊँचे भाव उत्पन्न हुआ करते होंगे। साथ ही वह अजनबी किसी हद तक यह भी अनुमान कर सकता है कि यहाँ जो श्रद्धालु और भक्त उपासक आया करते होंगे और जो इन्हें केवल कला या इतिहास की दृष्टि से ही नहीं बल्कि धर्म की दृष्टि से भी देखते होंगे, उन पर इनका कितना अधिक और कैसा अच्छा प्रभाव पडता होगा।

आरम्भ में जो अनगढ और भद्दी मूर्तियाँ बना करती थीं, उनके बाद धार्मिक भाव या धारणा के अनुसार देवताओं की प्रतिमाएँ बनने लगी थीं। यूनानी देवता रूप और आकृति में मानव जाति की पूर्णता का आदर्श दिखलानेवाली होती हैं। यूनानी मूर्तिकारों की बनाई हुई मूर्तियों के सामने हिन्दू देवताओं की मूर्तियाँ, भारतीय धर्म में जिनकी रचना अपेक्षाकृत बहुत बाद में हुई थी और जिन में अनेक मुख, बाँहें और पैर होते हैं, हमें देखने में बहुत बेहंगम जान पडती हैं। पर वास्तव में यह बेहंगम-पन उस सांकेतिक कला के कारण है जिस में देवता को मनुष्य से कुछ

* पेस्टम (Pæstum) इटलीका एक बहुत प्राचीन नगर था जिसकी स्थापना ई० पू० ६०० के लगभग यूनानियों ने की थी। यहाँ यूनानियों के तीन बहुत ही भव्य और विशाल मन्दिर हैं और रोमनों के बनवाये एक अखाडे और एक मन्दिर का भी भग्नावशेष है। —अनुवादक।

बढकर दिखलाने का प्रयत्न किया जाता है और जिसमें देवता के सम्बन्ध में यह माना जाता है कि वह अपनी शक्ति से सभी वस्तुएँ और बातें देखते रहते हैं और सभी जगह पहुँचते रहते हैं। धर्म तो कला को केवल अपनी धारणाएँ या भाव और आदर्श ही देता है, पर कला अपना ऋण सूद–व्याज समेत चुका देती है। एक अवसर पर ओलम्पिया (Olympia) में यूनानियों के बहुत बडे राष्ट्रीय देवता जुस (Zeus) के सम्बन्ध में, किसी रोमन के द्वारा, यह कहा गया था कि हमें यूनानियों से जो धर्म प्राप्त हुआ है, उसमें इस जुस देवता के कारण ही कुछ और वृद्धि हो गई है। कहनेवाले का तात्पर्य यह था कि धर्म जो कुछ है, वह तो है ही; पर इस देवता की मूर्ति के कारण ही उसमें कुछ और वृद्धि हो गई है; और इस कथन में उस देवता के भव्य तथा प्रभावशाली रूप की ओर संकेत था। और हम कह सकते हैं कि उसकी यह बात केवल कहने भर को ही नहीं थी, बल्कि इसमें बहुत कुछ तथ्य भी था।

एक दूसरी कला संगीत भी है जिसका आदि से अन्त तक धर्म के साथ बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है और संगीत शास्त्र में जो अनेक बहुत बडी बडी रचनाएँ हुई हैं, उनमें से कुछ धर्म की ही प्रेरणा से हुई हैं। हमारे यहाँ भी इसके अनेक उदाहरण हैं जिनमें सामवेद से लेकर गीत–गोविंद और सूर–सागर तक बहुत प्रसिद्ध हैं। फिर इसके सिवा एक और बात भी है। भक्तों और उपासकों में धार्मिक भावों की जितनी अधिक जागृति संगीत कला के कारण होती है, उतनी कदाचित् और किसी कला के कारण नहीं होती। धार्मिक कला के आरम्भ में सम्भवतः सभी जगह पौराणिक कथाओं के अनुकरण पर नाटक या अभिनय भी हुआ करते थे; और यूनान में तो सर्वश्रेष्ठ धार्मिक विचारों की अभिव्यक्ति वहाँ के कुछ नाटककारों के दुःखान्त नाटकों में ही दिखाई पडती है।

छठा प्रकरण

पर-लोक

हम एक पहले प्रकरण में यह बतला चुके हैं कि किस प्रकार लोगों के मन में यह विश्वास उत्पन्न हुआ था कि आत्मा, जो मनुष्य का जीवन और आत्म है, उस समय भी सूक्ष्म शरीर के रूप में वर्तमान रहती है, जिस समय मृत्यु होने पर शरीर के बाहर निकल जाती है और शरीर नष्ट हो जाता है। इस सम्बन्ध में लोगों की कदाचित् सबसे अधिक पुरानी धारणा यही थी कि मरने के उपरान्त भी मनुष्य की आत्मा अपने खाली और मृत शरीर तथा उन स्थानों के आस-पास चक्कर लगाती रहती है जो उसके पूर्व जीवन के क्रीडा--स्थल होते हैं। कभी कभी यह भी समझा जाता था कि शरीर के नष्ट हो जाने पर उसे कष्ट हो सकता है अथवा उसे फिर उस शरीर की आवश्यकता हो सकती है। ऐसी अवस्था में यह भी माना जाता था कि यद्यपि अब वह उस शरीर को अनुप्राणित नहीं करती परन्तु फिर भी वह उसमें उसी प्रकार निवास करती है, जिस प्रकार अनेक समुद्री जीव अपने कोशों या घोंघों आदि में निवास करते हैं। इसी लिए लोग अनेक प्रकार के प्राकृत अथवा कृत्रिम उपायों से मृत शरीर को रक्षित रखने का प्रयत्न करते थे। मिस्र में भी यह तो माना ही जाता था कि मरने के उपरान्त भी आत्मा को अपने निवास के लिए शरीर की आवश्यकता होती है और इसी लिए वहाँ मृत शरीर बहुत रक्षापूर्वक रखे जाते थे। पर साथ ही लोगों को यह भी शंका होती थी कि यदि वह मृत शरीर किसी प्रकार नष्ट हो गया तो उस समय आत्मा को बहुत कष्ट होगा; और इसी लिए मृत पुरुषों की समाधियों में उनकी अनुकृतियाँ या मूर्तियाँ

भी बनाकर रखी जाती थीं। परन्तु मृतकों और आत्माओं के सम्बन्ध का यह विश्वास संसार के सब देशों में समान रूप से प्रचलित नहीं था और इसी लिए भिन्न भिन्न प्रदेशों तथा भिन्न भिन्न समयों में मृत शरीर की अन्तिम व्यवस्था भिन्न भिन्न प्रकार से हुआ करती थी। कहीं तो मृत शरीर किसी ऐसे ऊँचे चबूतरे पर रख दिया जाता था, जिस पर जंगली जानवरों की पहुँच नहीं हो सकती थी, कहीं वह जमीन के नीचे गाड दिया जाता था और उसकी रक्षा के लिए ऊपर से पत्थरों का एक ढेर लगा दिया जाता था, कभी वह किसी प्राकृतिक गुफा में रख दिया जाता था, कभी किसी चट्टान में कोई गुफा सी खोदकर उसमें रख दिया जाता था और कभी आग में जला दिया था। अलग अलग देशों में और भिन्न भिन्न समयों में मृत शरीर की अन्तिम व्यवस्था के यही सब प्रकार प्रचलित थे। इन सब प्रकारों का सम्बन्ध प्रायः उन भिन्न भिन्न धारणाओं के साथ हुआ करता था जो अलग अलग देशों और जातियों में मृतकों के निवास-स्थानों के सम्बन्ध में लोगों में होती थीं, परन्तु ऐसा जान पडता है कि कदाचित् मृतकों के निवास-स्थानों से सम्बन्ध रखनेवाली धारणाओं का विचार अधिकांश अवस्थाओं में गौण ही हुआ करता था।

शरीर का परित्याग करके उसमें से निकली हुई आत्मा के अस्तित्व की कल्पना केवल इसी रूप में की जा सकती है कि आत्मा भूत-प्रेत के रूप में रहकर अपने पार्थिव य लौकिक जीवन का क्रम बराबर चलाये चलती है-उसी प्रकार का जीवन निर्वाह करती है, जिस प्रकार का जीवन जीवित अवस्था में उस का शरीर निर्वाह करता था-और इसी लिए लोग मृत पुरुष के व्यवहार के लिए भी हथियारों, बरतनों, जेवरों और खाने-पीने की सब तरह की चीजों की व्यवस्था करते थे। यह प्रथा बहुत अधिक प्राचीन काल से चली आई है और इसी लिए हम यह भी समझ सकते हैं कि जिन विश्वासों के कारण यह प्रथा प्रचलित हुई थी, वे विश्वास भी अत्यन्त प्राचीन काल में प्रचलित

थे। युरोप में यह प्रथा कम से कम उस प्रस्तर युग में भी प्रचलित थी जब कि वहाँ क्रोमैगनन (Cromagnon) नामक जाति का निवास था; और जिस युग में हमें धार्मिक अथवा तान्त्रिक कृत्यों अथवा धारणाओं के अस्तित्व का कुछ भी निश्चित प्रमाण मिलता है, उस युग से बहुत पहले यह प्रथा संसार में प्रचलित थी। किसी स्थान पर जमकर बस जानेवाली जातियों या समाजों में, और यहाँ तक कि उन खाना-बदोश: फिरकों में भी जो एक निश्चित क्षेत्र या सीमा के अन्दर ही इधर-उधर घूमा करते थे और हर साल फिर अपने पुराने निवास-स्थान पर आ पहुँचते थे, साधारणत: समय समय मृत आत्माओं के लिए खाने-पीने की चीजों की व्यवस्था कर दी जाती थी; औस इस प्रकार की व्यवस्था के लिए प्रायः कुछ निश्चित समय भी हुआ करते थे। ज्यों ज्यों सभ्यता बढती गई, त्यों त्यों इस लोक के बडे आदमियों के लिए बडी बडी समाधियाँ भी बनने लग गई जो जीवित मृतकों के "शाश्वत निवास-स्थान" के रूप में मानी जाती थीं। इस प्रकार की समाधियाँ मिस्र और चीन में और ईजियन संस्कृति के क्षेत्र में प्रायः बना करती थीं और उनमें तरह तरह के आरायशी सामान, सोने और चांदी के गहने और बरतन आदि, अनेक प्रकार के बहुमूल्य रत्न, बढिया और कीमती कपडे और नित्य काममें आनेवाली चीजों के सिवा शौक की सब चीजें भी, जो मृतक के पद और मर्यादा के अनुरूप हुआ करती थीं, रखी जाती थीं।

इन सब चीजों के सिवा समाधियों में बडे आदमियों की स्त्रियाँ और नौकर-चाकर भी इस लिए गाड या बन्द कर दिये जाते थे, जिसमें वे परवर्त्ती जीवन में अपने स्वामी की सब प्रकार से सेवा आदि कर सकें। उत्तरी आफ्रिका के न्यूबिया नामक प्रदेश में अभी हाल में जो कई समाधियाँ खोली गई हैं, उनके दालानों में दीवारों में चुनी हुई सैंकडों आदमियों

की लाशें मिली हैं। ये सब समाधियाँ बडे बडे राजाओं आदि की थीं और उनके मरने पर उनके सभी बडे बडे कर्मचारी और उनके परिवार के सब लोग, जिनकी संख्या सैंकडों तक पहुँचती है, समाधि की दीवारों में चुन दिये गये थे, जहाँ वे सब लोग दम घुटने के कारण मर गये थे। राजा का सारा दरबार उसके साथ पर-लोक में जाया करता था और यह माना जाता था कि जिस प्रकार ये सब दरबारी और राजकर्मचारी आदि इस लोक में रहकर राजा के सब काम करते थे, उसी प्रकार ये पर लोक में भी उसके साथ अपने अपने पद पर रहकर उसके सब काम करेंगे। मानों राजा के साथ उसके दरबारियों और कर्मचारियों की भी इसी संसार के किसी दूसरे प्रान्त या देश में बदली हो रही हो। पश्चिमी आफ्रिका में दहोमी नाम का जो फ्रान्सीसी प्रदेश है, उसमें भी अभी पिछली शताब्दी तक इसी से कुछ कुछ मिलती जुलती प्रथा प्रचलित थी, जिसका अन्त युरोपियन शासन से हुआ था। किसी राजा के मरने पर सैंकडों स्त्रियाँ और पुरुष, जिनमें मुख्यतः लडाई के कैदी हुआ करते थे, उसकी कब्र पर इस लिए मार डाले जाते थे कि जिसमें वे लोग आत्मिक जगत या पर-लोक में जाकर उसके लिए स्त्रियों और सेवकों का काम दें; और फिर इसके बाद हर साल राजा की कब्र पर इसी उद्देश्य से सैंकडों स्त्रियों और पुरुषों का बलिदान हुआ करता था। और भी अनेक देशों में यह प्रथा कुछ अल्प मान में प्रचलित थी। जो देश आगे चलकर सबसे अधिक सभ्य हो गये थे, उनमें इस तरह की खूनी रस्में तो बन्द हो गई थीं और उनकी जगह एक दूसरी रस्म चल पडी थी। वहाँ किसी राजा या बडे सरदार आदि के मरने पर उसकी स्त्रियों और दासों की मिट्टी और पत्थर आदि की मूर्तियाँ बनाकर उसकी कब्र या समाधि में रख दी जाती थीं। इस प्रकार की हत्याओं को "नर-बलि" कहना भूल है, क्यों कि यह नहीं जान पडता कि ये हत्याएँ किसी धार्मिक उद्देश्य से की जाती थीं अथवा

इनका धर्म के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध था। और न मनुष्यों तथा पशुओं की हत्या इस लिए की जाती थी कि वे दूसरे लोक में कुछ सन्देश आदि ले जाकर पहुँचावें। कुछ देशों में यह प्रथा भी प्रचलित थी कि किसी बड़े सरदार या बहादुर के मरने पर उसके जनाजे के सामने उसके शत्रुओं की हत्या की जाती थी। पैट्रोक्लस (Patroclus) की समाधि पर इसी प्रकार उसके शत्रुओं की हत्या की गई थी। पर ऐसी हत्याएँ कुछ और ही प्रकार की होती हैं और इनके द्वारा शत्रुओं से बदला चुकाकर मृत वीर पुरुष की आत्मा को प्रसन्न और सन्तुष्ट करने का प्रयत्न किया जाता था।

अनेक देशों में यह भी प्रथा प्रचलित थी कि समय समय पर मृत पुरुष की समाधि के पास अथवा किसी और स्थान पर खाने-पीने की सामग्री रखी जाती थी; परन्तु मूलतः इसका उद्देश्य केवल यही था कि लोग मृत पुरुष की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए श्रद्धा-भक्तिपूर्वक कुछ व्यवस्था कर दिया करते थे। हिन्दुओं में जो "श्राद्ध" की प्रथा प्रचलित है, वह भी, जैसा कि स्वयं "श्राद्ध" शब्द से प्रकट होता है, इसी प्रकार की श्रद्धा की सूचक है। जिस भाव से प्रेरित होकर लोग अपने जीवित सम्बन्धियों और वंश या गोत्रवालों के लिए खाने-पीने आदि की व्यवस्था करते हैं, उसी प्रकार और उसी भाव से प्रेरित होकर वे मृतकों की आवश्यकताओं की पूर्ति की भी व्यवस्था करते थे। इस प्रथा का जो बाद का इतिहास देखने में आता है, उसमें भी मुख्यतः इसी प्रकार की पितृ-भक्ति कुछ लोगों में दिखाई पड़ती है। और इस बात में कुछ भी सन्देह नहीं कि इस पितृ-भक्ति वाले भाव के साथ ही साथ लोगों के मन में यह आशंका या भय भी बना रहता है कि यदि मृत आत्माओं की उपेक्षा की जायगी और उनकी आवश्यकताएँ पूरी करने की व्यवस्था न की जायगी तो उन लोगों को हानि पहुँचेगी, जो इस प्रकार अपने बड़ों की उपेक्षा

करेंगे और अपने कर्त्तव्यों का पालन न करेंगे। और कभी कभी तो ऐसा जान पड़ता है कि लोग इसी भय से मृत आत्माओं के खाने-पीने आदि की व्यवस्था करते हैं। परन्तु केवल इसी बात के कारण यह सिद्धान्त बना लेने का कोई कारण नहीं है कि सब जगह केवल भूत-प्रेतों के भय से ही लोग अपने परिवार के मृतकों के लिए खाने-पीने की व्यवस्था करने लगे थे; क्यों कि साधारणतः अधिकांश स्थानों में लोग अपने परिवार के मृत पुरुषों को अपना मित्र, सहायक और रक्षक ही समझते हैं; और इसी लिए उनके मन में सहसा इस बात की आशंका या भय नहीं हो सकता कि उन लोगों की ओर से हमें कोई कष्ट पहुँचेगा अथवा हमारा किसी प्रकार का अपकार होगा। यदि किसी मनुष्य का कोई ऐसा उत्तराधिकारी या वंशज नहीं होता जो मरने पर उसकी इस प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके, तो उस पुरुष का यह बहुत बड़ा दुर्भाग्य समझा जाता है; और इसी लिए प्रायः समाज के सब लोग मिलकर समय पर समस्त ऐसे मृत पुरुषों के उद्देश्य से खाने-पीने आदि की कुछ व्यवस्था किया करते हैं जिनके परिवार या वंश में इस प्रकार की व्यवस्था करनेवाला कोई बच नहीं रहता। ऐसी अवस्थाओं के लिए हम निस्सन्देह यह कह सकते हैं कि इसमें अज्ञात मृतकों के प्रति भक्ति या प्रेम आदि का कोई भाव नहीं होता और ऐसी व्यवस्था मुख्यतः इसी डर से की जाती है कि कहीं उन आत्माओं की ओर से सारे समाज को ही हानि न पहुँच जाय। ऐसे अवसरों पर जो कृत्य होता है, उसका स्वरूप इसी बात का सूचक होता है कि लोग उन आत्माओं को किसी प्रकार प्रसन्न और सन्तुष्ट करके उनसे अपना पीछा छुड़ाना चाहते हैं। मृत पुरुषों की आत्माओं के लिए खाने पीने की चीजों की जो व्यवस्था की जाती है, उसके सिवा उनकी कब्रों या समाधियों आदि पर उन्हें प्रसन्न या सन्तुष्ट करने के लिए कुछ और प्रकार के कृत्य भी किये जाते हैं। उदाहरण के लिए कुछ स्थानों पर मृतकों की

समाधियों के सामने अनेक प्रकार के खेल तमाशे या क्रीडाएँ आदि भी की जाती हैं और इनका उद्देश्य मृत आत्माओं को केवल प्रसन्न करना होता है।

इस प्रकार के सब कृत्य प्रायः एक ही शीर्षक के अन्तर्गत रखे जाते हैं और इनके सम्बन्ध में कहा जाता है कि यह मृतकों को चढाई जानेवाली भेंट है। कुछ लोग इसे पितृ–पूजा और कुछ लोग मृतक–धर्म भी कहते हैं; और कुछ लोगों का विश्वास है कि सारे धर्म का मूल यही है। परन्तु इस प्रकार की पितृ–पूजा में वस्तुतः दो अलग अलग बातें या भाव होते हैं और पहले उनका अन्तर समझ लेना बहुत आवश्यक है। पितृ–भक्ति सम्बन्धी कुछ कृत्य तो केवल पितरों के उद्देश्य से ही किये जाते हैं–फिर चाहे उनके साथ इस बात का भय भी क्यों न सम्मिलित हो कि यदि उनकी उपेक्षा की जायगी तो वे हमारी हानि या अपकार करेंगे। और इस सम्बन्ध के कुछ दूसरे कृत्य ऐसे होते हैं जो केवल जीवित पुरुषों के हित के विचार से किये जाते हैं। इस अन्तर का सबसे अच्छा उदाहरण हमें मिस्र और चीन के इस प्रकार के कृत्यों में दिखाई देता है। इनमें से पहले प्रकार की प्रथा तो प्राचीन मिस्र में प्रचलित थी, जिसे आज–कल लोग मृतक--धर्म या मृतकों का धर्म कहते हैं; और दूसरे प्रकार की प्रथा चीन में प्रचलित थी जो पितृ--पूजा या पूर्वज–पूजा के नाम से प्रसिद्ध है।

पूर्वजों को भेंट चढानेकी प्रथा का जितना अधिक विकास मिस्र और चीन में हुआ है, उतना संसार के और किसी देश में नहीं हुआ, और अगर सिर्फ ऊपरी तौर पर देखा जाय तो दोनों ही देशों की ये क्रियाएँ बिलकुल एक सी जान पडती हैं। परन्तु मिस्र में पितरों को जो भेंट चढाई जाती है, उनके साथ किसी प्रकार की प्रार्थना या स्तुति आदि नहीं होती और न श्रद्धा या भक्तिका कोई प्रदर्शन ही होता है। वहाँ समाधियों में कुछ चौकियाँ रखी रहती हैं और उन्हीं चौकियों पर खाने-पीने की

सब चीजें और साथ ही भेंट चढाई जानेवाली दूसरी चीजें रख दी जाती हैं। उन्हीं चौकियों पर कुछ मन्त्र आदि अंकित होते हैं और यह माना जाता है कि उन्हीं मन्त्रों की तान्त्रिक शक्ति के प्रभाव से वे सब चीजें पर--लोक में मृतकों के पास पहुँच जाती हैं। जहाँ तक पता चलता है, मिस्रवाले कभी अपने मृत पूर्वजों से यह आशा भी नहीं रखते थे कि इन सब चीजों के बदले में वे जीवित लोगों के प्रति किसी प्रकार का उपकार करेंगे अथवा उसका कोई अच्छा फल देंगे। इसके विपरीत चीन के निवासी अपने पूर्वजों के प्रति बहुत अधिक श्रद्धा और भक्ति रखते हैं, उन्हें अपनी योजनाएँ तथा कामनाएँ बतलाते हैं, उनसे अनुग्रह की प्रार्थना करते हैं और यह चाहते हैं कि वे भी हमारे इन सब कामों में दिलचस्पी लें और हमारी सहायता करें। चीनवालों की दृष्टि में वे ऐसी शक्तियाँ हैं जिनके लिए लोग तो कुछ करते ही हैं, पर साथ ही जिनसे लोग कुछ बातों की आशा भी करते हैं। यही बात हम दूसरे शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि चीन की पितृ--पूजा में हमें कुछ ऐसी बातें दिखलाई पडती हैं जिन्हें हम साधारण अर्थ में धर्म के लक्षण कह सकते हैं, परन्तु मिस्र की पितृ पूजा में वह बात नहीं है।

मृत पुरुषों की आत्मा को खाने--पीने की जो चीजें अर्पित की जाती हैं, उनके अतिरिक्त नितान्त आरम्भिक काल से और संसार के समस्त देशों में भूत--प्रेतों से लेकर बडे बडे देवताओं तक को भी खाने-पीने की वस्तुएँ अर्पित करने की प्रथा प्रचलित है। परन्तु इस सम्बन्ध में भी यह निष्कर्ष निकालना ठीक नहीं है कि मृत पूर्वजों को खाद्य पदार्थ आर्पित करने की जो प्रथा थी, उसी से भूत--प्रेतों और देवताओं को भी ये पदार्थ अर्पित करने की प्रथा निकली है। इन बातों का स्पष्टीकरण एक विशेष तथ्य पर ध्यान देने से ही हो सकता है। साधारणतः मनुष्य अनिवार्य रूप से यही अनुमान करते हैं कि जितनी भूतात्माएँ हैं, वे सब हमारी

ही तरह की हैं, उनमें भी हमारी ही तरह इच्छाएँ और कामनाएँ होती हैं, और जिन चीजों से हम प्रसन्न होते हैं, उन्हीं चीजों से वे भूतात्माएँ भी प्रसन्न होती हैं। ये भूतात्माएँ वस्तुतः दो प्रकार की होती हैं। एक तो मृत पुरुषों की आत्माएँ और दूसरी वे भूतात्माएँ जिनका निवास कुछ प्राकृतिक अथवा इसी प्रकार के दूसरे कार्यों--जैसे आँधी, पानी और मरी आदि में माना जाता है। परन्तु जंगली लोग इन दोनों प्रकार की भूतात्माओं में कोई अन्तर नहीं मानते और इसी लिए वे इन दोनों ही प्रकार की भूतात्माओं को खाद्य आदि अर्पित करने के समय प्रायः एक से कृत्य करते हैं; और इसी लिए इन दोनों से सम्बन्ध रखनेवाली धारणाएँ और भी एक दूसरी के साथ मिल जाती हैं। जंगली लोग यह तो मानते ही हैं कि संसार में सब जगह बहुत से दुष्ट और उपद्रवी भूत-प्रेत भरे हुए हैं; पर साथ ही उनका यह भी विश्वास होता है कि मृत पुरुषों की आत्माएँ उनमें सम्मिलित होकर उनकी संख्या में और भी अधिक वृद्धि करती हैं। प्रायः समाज में कुछ ऐसे लोग होते हैं जो अपनी दुष्टता और उत्पात से अथवा अपने जादू-टोने से बराबर सब लोगों को दुःखी रखते हैं। और जब ऐसे लोग मर जाते हैं, तब उनकी आत्मा अदृश्य और उपद्रवी तथा दुष्ट भूत बन जाती है और इसी लिए उनसे लोगों को और भी अधिक भय लगता है और वे समझते हैं कि अब उसका भूत हमें और भी अधिक हानि तथा कष्ट पहुँचावेगा। ऐसे दुष्ट भूत के कहीं आस-पास मौजूद रहने का पता लोगों को तब चलता है, जब कोई भारी उपद्रव या उत्पात होता है। ऐसे भूत-प्रेतों के सम्बन्ध में लोगों का यह भी विश्वास होता है कि निवारक् तान्त्रिक प्रयोगों से इन्हें हटाना या दूर करना अथवा भेंट आदि की सहायता से उसे शान्त तथा सन्तुष्ट करना किसी जीवित मनुष्य को हटाने या दूर करने अथवा शान्त तथा सन्तुष्ट करने की अपेक्षा कहीं अधिक कठिन है। इसके विपरीत बहादुर सरदारों,

प्रसिद्ध शमनों या ओझाओं और उपकारक या लाभदायक तान्त्रिक प्रयोग करनेवालों की आत्माओं के सम्बन्ध में प्रायः यही माना जाता है कि ये बराबर सब प्रकार से हमारी सहायता और रक्षा करती हैं और हमें दूसरी दुष्ट आत्माओं के आक्रमणों से बचाती हैं।

प्रायः गोत्रों या फिरकों के अलग अलग देवता हुआ करते हैं और धर्म की कुछ विशिष्ट अवस्थाओं में उनका एक महत्वपूर्ण स्थान हुआ करता है। ऐसे देवता वास्तव में उस गोत्र या फिरके के पुराने या हाल के अच्छे वीर और योद्धा होते हैं अथवा कम से कम इस रूप में माने जाते हैं। उनके सम्बन्ध में यही कल्पना कर ली जाती है कि वे जिस प्रकार के कार्य और आचरण जीवित अवस्था में करते थे, उसी प्रकार के कृत्य और आचरण अब मरकर देवता हो जाने की अवस्था में भी करते हैं और भूत-प्रेतोंवाले लोक में नहीं, बल्कि इसी लोक में अपने फिरके या गोत्र के लोगों का युद्धों और आक्रमणों आदि में नेतृत्व करते हैं और स्वयं आगे रहकर उन्हें दूसरों के साथ लडाते हैं। ऐसे मृत वीरों या देवताओं के सम्बन्ध में प्रायः यह भी माना जाता है कि वे कभी कभी अपने मित्रों या शत्रुओं को अपने दल के आगे खडे हुए दिखलाई भी पडते हैं अथवा आकाश-वाणी आदि के द्वारा अपने अनुयायियों को अच्छे अच्छे परामर्श भी देते हैं। यहाँ तक कि जो धर्म कुछ अधिक उन्नत होते हैं, उनमें भी बडे बडे युद्ध-देवता प्राचीन काल के प्रमुख सेनापति हो सकते हैं अथवा सभ्यता की कलाओं के ऐसे आविष्कारक हो सकते हैं जिनमें आगे चलकर देवत्व का आरोप कर दिया जाता है। अथवा कभी कभी ऐसा भी होता है कि इस प्रकार की कलाओं के देवताओं के सम्बन्ध में लोग यह मानने लगते हैं कि ये वही लोग हैं जो अनुश्रुतियों के अनुसार इन कलाओं के आविष्कारक थे; और इसके कई उदाहरण हमें चीन में दिखाई पडते हैं। इस प्रकार मनुष्यों की आत्माएँ तो देवताओं का रूप

धारण कर ही लेती हैं, परन्तु इसके विपरीत एक और बात भी होती है। कुछ ऐसे देवताओं में, जिनका मूल वास्तव में कुछ और ही होता है, लोगों का यह विश्वास हो जाता है कि ये भी किसी समय मनुष्य ही थे। कुछ यूनानी वीरों के सम्बन्ध में साधारणत: इसी प्रकार की बात मानी जाती है।

प्राय: यह भी माना जाता है कि मृत पुरुषों की सब आत्माएँ किसी एक विशिष्ट स्थान पर जाकर और एक साथ मिलकर रहती हैं। कुछ लोग यह भी समझते हैं कि कम से कम हमारी जाति की आत्माओं के रहने के लिए इस प्रकार का एक विशिष्ट स्थान नियत है। कुछ लोग तो यह समझते हैं कि आत्माओं के रहने का यह स्थान इसी लोक में, पर किसी दूरस्थ और ऐसे देश में है, जहाँ साधारणतः जीवित मनुष्यों की पहुँच नहीं हो सकती। ऐसे लोग प्रायः यह भी मानते हैं कि आत्माओं के रहने का यह देश समुद्र के उस पार है अथवा किसी ऐसी नदी के उस पार है जिसे जीवित आदमी पार नहीं कर सकते। कुछ लोग यह मानते हैं कि मृत आत्माएँ आकाश-गंगावाले मार्ग से होती हुई ऊपर आकाश में चली जाती हैं; और कुछ लोग यह समझते हैं कि आत्माएँ सूर्य देवता के जहाज पर चढकर आकाश में जाती हैं। कुछ ऐसे लोग भी हैं जो मृत आत्माओं का निवास इस पृथ्वी के नीचे अथवा भूगर्भ में मानते हैं और यह समझते हैं कि पृथ्वी के मध्य भाग में एक बहुत गहरी और अँधेरी गुफा है जिसमें सब आत्माएँ जाकर निवास करती हैं। बैबिलोनवालों का अरलु (Aralu) इबरानियों का शियोल (Sheol) तथा यूनानियों का हेडेज (Hades) नामक परलोक इसी प्रकार का है। इस सम्बन्ध में मिस्रवालों का विश्वास पहले प्रकार का था और वे समझते थे कि हमारे यहाँ की आत्माएँ इसी पृथ्वी पर मृतकों के देवता ओसाइरिस के राज्य में रहती हैं; पर वहाँ कोई जीवित मनुष्य नहीं पहुँच सकता। कभी कभी ऐसा भी होता है कि एक ही देश अथवा जाति में पर-लोक के सम्बन्ध में एक साथ ही कई

कई धारणाएँ प्रचलित हो जाती हैं, जैसा कि प्राचीन मिस्र में हुआ था। उस अवस्था में लोग सहज में ही उन सब धारणाओं की संगति बैठा लिया करते हैं। ऐसी अवस्थाओं में प्रायः जंगलियों के इस विश्वास से संगति बैठने में बहुत सहायता मिलती है कि एक मनुष्य की कई कई आत्माएँ होती हैं। वे समझते हैं कि एक तो उसकी भूत रूपी अथवा सूक्ष्म शरीरधारी वह आत्मा होती है जो समाधि अथवा पाताल लोक में या पृथ्वी के नीचेवाले लोक में निवास करती है; और दूसरी आत्मा वह होती है जो उडकर आत्मिक जगत् में चली जाती है; और इसी लिए उसके सम्बन्ध में लोग प्रायः यह भी कल्पना कर लेते हैं कि उसमें पर लग जाते हैं। मिस्र की कला में प्रायः ऐसा पक्षी देखने में आता है जिस का सिर मनुष्य के सिर के समान होता है; और यूनानी कला में यही भाव प्रदर्शित करनेवाली तितली होती है जिसे साइक (Psyche) कहते हैं।

जिस प्रकार इस लोक में लोग सामाजिक दृष्टि से छोटे और बडे माने जाते हैं, उसी प्रकार मृत आत्माएँ भी छोटी और बडी मानी जाती हैं; और जिस प्रकार इस लोक में लोग नैतिक दृष्टि से अच्छे और बुरे माने जाते हैं, उसी प्रकार आत्माएँ भी अच्छी और बुरी मानी जाती हैं। परन्तु आत्माओं के सम्बन्ध में इस प्रकार का सामाजिक विभेद पहले स्थापित किया जाता है और तब कुछ दिनों बाद उनमें नैतिक विभेद स्थापित होता है। जब कोई बडा आदमी मरता है, तब वह एक अलग समाधि-क्षेत्र में गाडा जाता है और मामूली आदमी एक साथ किसी दूसरी मामूली जगह में गाडे जाते हैं। इसी प्रकार यह भी माना जाता है कि मरने के उपरान्त मामूली आदमियों की तो आत्माएँ किसी मामूली जगह में रहती हैं और बडे आदमियों की आत्माएँ किसी दूसरी और अच्छी जगह में रहती हैं। होमरने अपने काव्यों में कहा है कि बडे आदमियों या वीरों की आत्माएँ एलीशियन मैदान (Elysian Plain) में रहती हैं, जो इस

पृथ्वी के अन्तिम सिरे पर है। इसी प्रकार मिस्रवालों का यह विश्वास था कि हमारे यहाँ के बड़े आदमी "ईश्वर का अनुग्रह प्राप्त करनेवालों के टापुओं" में (Island of the Blessed) में अथवा इयारू के क्षेत्र (Fields of Earu) में रहते हैं। वहाँ उन्हें सदा के लिए आकाश मिल जाता है और वे आनन्द से चौसर (या इसी प्रकार का और कोई गोटियों का खेल) खेलते हैं। उन लोगों का यह भी विश्वास था कि बड़े आदमियों के मृत शरीर के साथ उनकी समाधि में चीनी मिट्टी आदि की जो दासों और सेवकों की मूर्तियाँ बनाकर रखी जाती हैं, वे तान्त्रिक शक्ति से सच-मुच के दासों और सेवकों का रूप धारण कर लेती हैं; और उस रूप में वे दास और सेवक अपने मालिकों की तरफ से उस पर-लोक में बड़ी बड़ी नहरों और गेहूँ के खूब बड़े बड़े पौधों के खेत में काम करते हैं। इस प्रकार की अवस्थाओं में यह भी माना जाता है कि ईश्वर का विशेष रूप से अनुग्रह प्राप्त करनेवाली आत्माएँ जिस देश में रहती हैं, उसी देश में प्रायः देवताओं का भी निवास होता है, और बड़े बड़े राजाओं तथा वीर पुरुषों की आत्माएँ उन्हीं देवताओं के साथ कम से कम अर्द्ध देवता या उप-देवता के रूप में रहने लगती हैं।

मिस्र में पहले यही माना जाता था कि केवल राजा को ही जो "रा" अथवा सूर्य देवता का पुत्र होता है, मरने के उपरान्त सूर्य की नाव पर सवार होने का अधिकार रहता है। पर हमें बहुत ही साफ तौर पर यह भी पता चलता है कि आगे चलकर राजा के सिवा और लोगों को भी सूर्य की नाव पर बैठने का अधिकार मिल गया था; और यह माना जाने लगा था कि जो लोग "रा" या सूर्य देवता के वंश में नहीं हैं, लेकिन फिर भी और दृष्टियों से जो बहुत बड़े और मान्य हैं, वे भी सूर्य की नाव पर सवार होते हैं। इसी प्रकार पहले तो वहाँ यह माना जाता था कि ओसाइरिसवाले धर्म में केवल राजा ही पाताल के संकटों और कष्टों से मुक्त

रहता है और बाकी सब लोगों को वहाँ अनेक प्रकार के संकट और कष्ट भोगने पडते हैं। परन्तु आगे चलकर उन कष्टों से छुटकारा पाने का यह अधिकार सभी वर्गों के लोगों को प्राप्त हो गया था। बाद में वहाँ हेडेज (Hades=पर-लोक) के सम्बन्ध के अनेक मार्गदर्शक ग्रन्थ तथा कुछ विशिष्ट तान्त्रिक मन्त्र और शब्द आदि बन गये थे और कुछ रक्षक तावीजें या यन्त्र भी बन गये थे। और ये सब चीजें मामूली आदमियों की लाशों के साथ भी समाधि में रख दी जाती थीं और यह माना जाता था कि इनकी सहायता से लोग पर-लोक के सब प्रकार के कष्टों और संकटों से बच जायँगे। चाहे आरम्भ में मिस्रवालों की यह अभिलाषा न रही हो कि पर-लोक में सब लोगों के साथ समान रूप से व्यवहार हुआ करे, पर बाद में वह अधिकार जन-साधारण ने भी छीन लिया था, जो पहले कुछ विशिष्ट और ऊँचे वर्गों को ही प्राप्त था।

जिसे हम स्वर्ग कह सकते हैं-परन्तु उस स्वर्ग के लिए सदा अथवा कम से कम साधारणतः यह आवश्यक नहीं है कि वह ऊपर आकाश में ही माना जाता हो-उसका आरम्भ हमें यहाँ स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। इसके विपरीत नरक की कल्पना हमें पहले-पहल उस समय दिखाई देती है, जिस समय लोग यह कहने लगे थे कि जो लोग बहुत बडे बडे अपराधों के अपराधी या महा पातकी हों, वे अलग और संकटमय स्थानों में रखे जायँ; और इस प्रकार मरे हुए लोगों के लिए भी एक "काले पानी" का विधान किया गया था। ऋग्वेद में कुछ मन्त्रकार ऋषि इन्द्र और सोम से प्रार्थना करते हैं कि ऐसे अपराधियों और पापियों को "कारागार में, ऐसे घोर अन्धकार में डाल दो जिसमें से कभी कोई निकल ही न सके"। एक स्थान पर यह भी कहा गया है कि उन लोगों ने—" अपने आपको उस गहन और गम्भीर स्थान के लिए उपयुक्त या योग्य बना लिया है"। यूनानी भाषा में ओडिस्सी नामक जो महाकाव्य चौबीस खंडों में है और

जो होमर कृत माना जाता है, उस के ग्यारहवें खंड में समस्त आत्माओं के भीषण निवास स्थान हेडेज का चित्र अंकित है; और जान पडता है कि बाद में किसी और कवि ने उस में वह क्षेपक भी मिला दिया है जिस में अनेक प्रकार की उन यन्त्रणाओं का वर्णन है जो कुछ खास खास दुष्टों को देवताओं के बडे बडे अपराध के कारण दी गई थी। ऐसे लोगों में टिटियोस (Tityos) टेन्टेलोस (Tantalos) और सिसिफोस (Sisyphos) के नाम आये हैं। पर यहाँ इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि इन में से एक आदमी भी ऐसा नहीं है जो यूनानियों के अनुसार केवल मनुष्य ही हो; और इन सब के अपराध भी स्वयं देवताओं के प्रति और व्यक्तिगत रूप से किए हुए अपराध हैं, और इन में से केवल एक के अपराध उक्त प्रकार के अपराधों के साथ साथ नैतिक अपराध भी हैं।

पहले जो स्थान केवल देवताओं और इस लोक के बडे आदमियों के रहने के लिए माना जाता है, आगे चलकर उसके सम्बन्ध में लोगों की यह भी धारणा हो जाती है कि जो लोग समाज में कुछ छोटे दरजे के होने पर भी विशिष्ट रूप से सज्जन और सत्कर्म करनेवाले होते हैं, उन्हें भी पुरस्कार–स्वरूप उस स्थान में रहने का अधिकार मिल जाता है। परन्तु इस सम्बन्ध में भी मुख्यत: यही माना जाता है कि जो लोग धार्मिक दृष्टि से श्रेष्ठ होते हैं, वही उस देव–लोक में स्थान पाते हैं; और साधारणत: यह अधिकार प्राय: उन लोगों के लिए नहीं माना जाता जो केवल नैतिक क्षेत्र में ही योग्य तथा श्रेष्ठ हों। प्राय: वही मनुष्य अच्छा और श्रेष्ठ नाना जाता है जो धार्मिक विधि-विधानों का सब से अधिक और पूरा पूरा पालन करता हो, खूब अधिक बलिदान आदि करता हो, देवताओं का बहुत अधिक आदर और आराधन करता हो और उन के पुजारियों को सबसे अधिक धन दान देता हो। हमारे यहाँ के ब्राह्मण या वैदिक

धर्म में यह माना जाता है कि ऐसे लोगों के पुण्य कर्म पहले से ही देवताओं के स्वर्ग या देव-लोक में जा पहुँचते हैं और तब स्वयं वे लोग भी मरने पर उस लोक में पहुँचकर अपनी दया और दानशीलता आदि के पुरस्कार स्वरूप स्वर्गीय सुखों का भोग करते हैं। बिलकुल आरम्भिक काल में तो यही माना जाता था कि जो लोग बहुत अधिक दुष्ट और उपद्रवी होते हैं, मरने पर उन की गति इस के विपरीत होती है; पर बाद में यह भी माना जाने लगता है कि उन के साथ साथ ऐसे लोगों की भी दुर्गति होती है जो धर्म की उपेक्षा करते हैं; और ऊपर बतलाए हुए कर्मों के द्वारा धर्म या पुण्य का संचय नहीं करते। इस प्रकार आगे चलकर अच्छे और बुरे आदमियों या सज्जनों और दुर्जनों के विभाग या वर्गीकिरण का काम पुजारियों और पुरोहितों के हाथ में आ जाता है।

यह विचार लोगों में बाद में उत्पन्न हुआ था कि परवर्ती जीवन अथवा पर-लोक में उत्तम गति उस अवस्था में प्राप्त होती है, जब कि मनुष्य इस लोक में नैतिक दृष्टि से सदाचारपूर्ण जीवन व्यतीत करता है। और नहीं तो, जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, पहले यही समझा जाता था कि पूर्ण रूप से धार्मिक जीवन व्यतीत करने से ही मरने के उपरान्त श्रेष्ठ लोक मिलता है। इस प्रकार के नैतिक सदाचार का एक अच्छा उल्लेख मिस्र के 'मृतकों का ग्रन्थ' (Book of the dead) के उस अध्याय में है जो आज-कल की गणना के अनुसार १२५ वाँ माना जाता है। इस अध्याय में ओसाइरिस के न्याय का वर्णन है। उस अध्याय में यह बतलाया गया है कि पहले मृत व्यक्ति उस स्थान पर पहुँचाया जाता है, जहाँ उस का न्याय होता है; और वहाँ वह शुद्ध हृदय से यह बतलाता है कि मैं निरपराध हूँ। वहाँ ऐसे अनुचित कृत्यों की एक बहुत बडी सूची भी दी हुई है जो साधारणतः लोगों के हाथों देवताओं के विरुद्ध भी और मनुष्यों के विरुद्ध भी होते हैं; पर उन में मुख्यतः वह

अनुचित कृत्य या अपराध दिए गए हैं जो मनुष्य से मनुष्यों के प्रति होते हैं। उन सब अपराधों के नाम ले लेकर वह शपथपूर्वक और शुद्ध हृदय से कहता है कि मैंने ये सब अपराध नहीं किये हैं। उस में नैतिक सदाचार का जो मान है, वह एक उच्च और उन्नत सभ्यता का है और उस के कुछ अंश विशेष रूप से बहुत उच्च कोटि के हैं। उस के इस प्रकार के कथन की सत्यता की परीक्षा वहाँ इस प्रकार की जाती है कि एक कांटे पर एक ओर उस मनुष्य का हृदय और दूसरी ओर शुतुर मुर्ग का एक पर रखा जाता है, जो उस देश में सत्यता की देवी का चिह्न समझा जाता है। वहीं न्याय सभा का थाथ नामक लेखक भी बैठा रहता है जो न्याय देवता की आज्ञा लिखता जाता है। जो मनुष्य इस परीक्षा में ठीक उतरता है, वह अन्दर उस गर्भ-गृह में पहुँचा दिया जाता है, जिस में ओसाइरिस अपने सिंहासन पर बैठा रहता है। वहीं दीवार के एक ऊपरी भाग में न्याय सभा के वे दूसरे बहुत से देवता बैठे रहते हैं जो न्याय कार्य में ओसाइरिस को सहायता देते हैं और जिन्हें हम आज-कल के असेसरों के रूप में समझ सकते हैं। वे सब देवता वहीं बैठे बैठे नीचे का सारा दृश्य देखा करते हैं।

वास्तव में मिस्र के "मृतकों का ग्रन्थ" में अनेक प्रकार की और परस्पर विरोधी बातों का एक बहुत बडा संग्रह है, और उसके अन्यान्य अध्यायों में नैतिक आचरण के अनुसार मनुष्य की होनेवाली गति के कुछ और प्रकार के चित्र भी अंकित किये गये हैं। परन्तु ऊपर इस ग्रन्थ के १२५ वें अध्याय की जिन बातों का उल्लेख किया गया है, उन बातों के कारण वे बातें दब नहीं जातीं जो अन्यान्य अध्यायों में कहीं गईहैं। और और अध्यायों में कहा गया है कि अच्छे और बुरे सभी प्रकार के लोगों को पाताल लोक के संकटों और यातनाओं का समान रूप से सामना करना पड़ता है और उन संकटों तथा यन्त्रणाओं से तभी उसकी रक्षा हो सकती

है, जब वह कुछ विशिष्ट मन्त्रों का उच्चारण करता है। उन संकटों और यन्त्रणाओं के प्रत्येक अवसर के लिए अलग अलग मन्त्र का विधान है; और इसी लिए वे सब मन्त्र लिखित रूप में इसलिए मृत शरीर के साथ समाधि में रख दिये जाते हैं, जिस में वह उन संकटों और यंत्रणाओं से सुगमता से बच सके। मिस्रवालों में जो यह विश्वास प्रचलित था कि केवल तान्त्रिक मन्त्रों और यन्त्रों की सहायता से ही मनुष्य पर-लोक में होनेवाली यन्त्रणाओं से बच सकता है, वह बहुत गहरा और दूर तक पहुंचा हुआ था। वे समझते थे कि इन्हीं मन्त्रों और यन्त्रों की सहायता से हम ओसाइरिस की न्याय सभा तक में सत्यनिष्ठ और सदाचारी सिद्ध हो सकते हैं; और यहाँ तक कि उनमें से एक मन्त्र में मनुष्य स्वयं अपने हृदय से कहता है कि जब मैं ओसाइरिस की न्याय सभा में यह कहूँ कि मैं सब प्रकार से निर्दोष हूँ, तब हे हृदय, तुम मेरा खंडन मत करना और मेरे विपरीत साक्षी मत देना।

यह बात विशेष रूप से ज्ञान-प्रद है और इससे हमें एक खास बात का पता चलता है। धर्मों के समस्त इतिहास से हमें यही पता चलता है कि यदि नैतिक सदाचार का एक ऊंचा मान स्थिर कर दिया जाय और यह निश्चित कर दिया जाय कि यदि मनुष्य नैतिक दृष्टि से अपराधी होगा तो पर-लोक में उसकी बहुत दुर्गति होगी और यदि वह निर्दोष होगा अर्थात् सदाचारी होगा तो मरने पर उसे अच्छी गति प्राप्त होगी, तब आत्म-ज्ञान उसे दो बातों में से कोई एक बात करने के लिए विवश करेगा। पर-लोक में होनेवाली दुर्गति से बचने के लिए या तो वह कोई धार्मिक उपाय ढूंढेगा; और यदि उसे धर्म में कोई ऐसा उपाय न मिल सकेगा, तो वह किसी तान्त्रिक प्रयोग का आश्रय लेगा, अथवा जैसा कि प्रायः होता है, वह धर्म और तन्त्र दोनों की सहायता लेगा और दोनों तरफ से वह यह निश्चय कराना चाहेगा

कि मैं पर-लोक में होनेवाली दुर्गति से बच जाऊँगा। हमें इस बात का तो पता नहीं चलता कि ओसाइरिसवाले इस न्याय का मिस्र के धर्म के परवर्त्ती इतिहास पर क्या प्रभाव पड़ा था, परन्तु इतना अवश्य निश्चय है कि इससे उस धर्म के स्वरूप में कुछ भी परिवर्तन नहीं हुआ था।

जब धर्म ने यह मान लिया कि मरने के बाद आत्माओं के दो विभाग होते हैं और एक विभाग में वे लोग रहते हैं, जो बहुत अच्छे होते हैं और दूसरे विभाग में बहुत बुरे लोग होते हैं, तब उसने दोनों विभागों को पूर्ण रूप से व्यापक बना दिया। एक विभाग तो समस्त अच्छे लोगों का हो गया और दूसरा विभाग समस्त बुरे लोगों का हुआ; और यह कह दिया गया कि अच्छे लोगों को तो सब प्रकार के सुख प्राप्त होंगे और बुरे लोगों को सब प्रकार के कष्ट सहने पड़ेंगे। जो लोग अच्छे होंगे, वे देवताओं के लोक में जायँगे-फिर चाहे वह लोक जहाँ हो--और वहाँ देवताओं, वीरों, सत्पुरुषों और महात्माओं के साथ रह कर अमर जीवन व्यतीत करेंगे; और जो लोग बुरे होंगे, वे केवल इन अच्छे लोगों से अलग ही नहीं रखे जायँगे, बल्कि मनुष्य जितने बुरे कष्टों और यन्त्रणाओं की कल्पना कर सकता है, वे सब उन्हें भोगनी पड़ेंगी। इन्हीं को हम साधारणतः स्वर्ग और नरक कहा करते हैं। कुछ धर्मों में तो यह माना जाता है कि दोनों विभागों के लोग आप से आप अपने स्थान पर चले जाते हैं-जो अच्छा होता है, वह आप से आप सीधा स्वर्ग चला जाता है और जो बुरा होता है, वह आप ही आप नरक में जा पहुंचता है। और कुछ धर्मों में यह भी माना जाता है कि इन दोनों को छाँटकर अलग अलग करने की कोई ऐसी युक्ति होती है जो आप से आप सदा अपना काम करती रहती है। उदाहरण के लिए अमेरिका के आदिम निवासी इंडियन लोगों में से कुछ लोग यह मानते हैं कि मरने के उपरान्त जीव जिस मार्ग से जाते हैं, उस मार्ग में एक बहुत

बडा गड्ढा होता है जिसके मुंह पर इस पार से उस पार तक एक बडा लठ्ठा रखा रहता है। अच्छे लोग तो उस लट्ठे पर से आप से आप पार निकल जाते हैं और बुरे लोग नीचेवाले गड्ढे में जा पडते हैं। जरतुश्त के अनुयायी या पारसी लोग यह मानते हैं कि एक नदी पर सिनवात (Cinvat) नाम का एक पुल है जो इसी तरह का काम देता है। हमारे यहां हिन्दुओं में इसी तरह की वैतरणी नदी मानी जाती है। इस्लाम में यह माना जाता है कि दोजख या नरक में सरात नाम का एक पुल है जो बाल से भी अधिक पतला है और जिस की धार तलवार की धार से भी ज्यादा तेज है। कुछ ऐसे धर्म भी हैं जिनमें यह माना जाता है कि कुछ परम निष्पक्ष न्यायकर्त्ता इस बात का निर्णय या विचार करते हैं कि कौन स्वर्ग में भेजा जाय और कौन नरक में; और आत्माएँ सबसे पहले उन्हीं देवता न्यायकर्त्ताओं के सामने ले जाकर उपास्थित की जाती हैं। हमारे यहां हिन्दुओं में भी यही सिद्धान्त माना जाता है और प्रकार का न्याय करनेवाले धर्मराज माने जाते हैं।

प्रतिशोध सम्बन्धी सब से प्राचीन विचार यह है कि जिसने जो अपराध किया हो, उसको वही दंड भी मिलना चाहिए। अगर कोई किसी की आँख निकाल ले तो उसकी भी आँख निकाल ली जानी चाहिए और अगर कोई किसी का दांत तोड दें तो उसका भी दाँत तोड दिया जाना चाहिए। इसी लिए जब लोग इस प्रकार के प्रतिशोध की कल्पना करने लगे, तब उन्होंने अपराध के अनुकूल ही यन्त्रणाओं की भी योजना आरम्भ की। जैसे हमारे यहाँ कहा गया है कि यदि कोई पर-स्त्री के साथ व्यभिचार करेगा तो तत्सम्बन्धी आलिंगन के फल-स्वरूप उसे लोहे के जलते हुए खम्भे के साथ आलिंगन कराया जायगा। और अन्त में यहाँ तक नौबत आ पहुँची कि लोगों ने नरक के बहुत से विभागों की कल्पना कर ली-जैसी कि हमारे यहाँ हिन्दुओं में की गई

है-और यह कह दिया कि जो अमुक प्रकार का अपराध करेगा, वह अमुक नरक में भेजा जायगा, जहाँ उसे अमुक प्रकार की यंत्रणाएँ भोगनी पड़ेंगी।

बहुत से जंगलियों का यह भी विश्वास है कि मृत पुरुषों की आत्माएँ फिर इस संसार में लौट आती हैं और दूसरे शरीरों में प्रवेश कर जाती हैं। वे या तो माता के गर्भ का भ्रूण जल्दी जल्दी बढ़ाने लगती हैं और या जन्म के समय किसी शिशु के शरीर में प्रवेश कर जाती हैं। यह विचार भी बहुत से लोगों में प्रचलित है कि मनुष्यों की आत्माएँ दूसरे पशुओं के शरीर में भी प्रवेश कर जाती हैं। इस प्रकार का शरीर-परिवर्त्तन या तो जादू-टोना करनेवाले लोग किसी अपराध का बदला चुकाने के लिए ऐसा कराते हैं। और कुछ लोगों का यह भी विश्वास होता है कि मनुष्य स्वयं भी तान्त्रिक प्रयोगों की सहायता से इस प्रकार का रूप-परिवर्त्तन या शरीर-परिवर्त्तन कर सकता है। फिर लोगों का यह विश्वास भी होता है, जैसा कि स्वयं हम हिन्दुओं का विश्वास है, कि हम अपने पूर्व जन्म में जैसे कर्म करते हैं, उन्हीं के अनुरूप हमें दूसरा जन्म या शरीर प्राप्त होता है; और इस दूसरे जन्म में हम अपने पूर्व जन्म के पापों के फल-स्वरूप कष्ट भोगते हैं और पुण्यों के फल-स्वरूप सुख भोगते हैं। और अधिक दुष्कर्म करने पर हम मनुष्य के अतिरिक्त किसी और योनि में भी जन्म ले सकते हैं। यदि कोई आदमी बहुत अधिक उद्दंड और हिंसक वृत्ति का हो और उसका स्वभाव तथा आचरण चीते का सा हो तो दूसरे जन्म में वह सचमुच चीता हो सकता है; और उस अवस्था में वह साधारण चीते से कहीं बढ़कर धूर्त्त और निर्दय होगा और अन्त में वह अपनी असाधारण भीषणता के अनुरूप ही असाधारण भीषणता से मारा भी जायगा।

भारतवर्ष में इस प्रकार के आदिम-कालीन विचार बहुत पहले और

कम से कम उपनिषदों के ही समय में ग्रहण कर लिये गये थे और उच्च कोटि के धार्मिक विचारों में सम्मिलित करके उन्हें एक सर्व-सामान्य और चलता हुआ रूप दे दिया गया था। उपनिषद् काल में ही भारत में यह माना जाने लगा था कि चरित्र से ही चरित्र का निर्माण होता है। कहा जाता था कि सत्कर्म करनेवाला सज्जन होता है और दुष्कर्म करनेवाला दुष्ट होता है। यह तो ऊपर का दार्शनिक तल था; पर इसके नीचे के तल में लोगों में यह सिद्धान्त प्रचलित था कि मनुष्य अपने पूर्व जन्म में जैसे कर्म करता है, उन्हीं के अनुरूप उसकी आत्मा दूसरे जन्म में मनुष्य अथवा पशु आदि के रूप अथवा अवस्था में जन्म लेती है और अपने पूर्व जन्म के भले और बुरे कर्मों का फल भोगती है। और फिर यह नहीं माना जाता था कि मनुष्य के सब कर्म एक में मिला लिये जाते हैं या उन सबका एक औसत निकाल लिया जाता है और तब उसके अनुसार उसे दूसरा जन्म प्राप्त कराया जाता है। बल्कि यह माना जाता था कि प्रत्येक कार्य का एक स्वतन्त्र परिणाम या फल होता है और मनुष्य का प्रत्येक कर्म एक एक ऐसे बीज के रूप में होता है, जो स्वयं अपने प्रकार के अनुसार ही समय आने पर फल लाता है। अथवा आज-कल की रीति के अनुसार हम कह सकते हैं कि प्रत्येक कर्म एक ऐसा कारण होता है जो प्रकृति के परम दृढ और कभी न बदलनेवाले नियम के अनुसार कार्य के रूप में अपना उपयुक्त फल या प्रभाव उत्पन्न करता है। यही वह कर्मवाला सिद्धान्त है जिसने आगे चलकर मनुष्य के भाग्य से सम्बन्ध रखनेवाले समस्त भारतीय विचारों को आच्छादित कर लिया था। एक और बात थी जिससे इस सिद्धान्त या मत की भीषणता और भी अधिक बढ गई थी। यह माना जाने लगा था कि जन्म और मृत्यु का चक्र अनादि और अनन्त है। कर्म सम्बन्धी यह नियम अनादि काल अनन्त काल तक बराबर एक सा काम करता रहता है, जिससे जीवों का जन्म और मरणवाला

अनन्त चक्र चलता रहता है और प्रत्येक जीवन एक अनन्त शृंखला में की कड़ी होता है ।

यह भी माना है कि कर्मवाला यह विधान देव-कृत नहीं है । देवताओं के लिए इस विधान की रचना या प्रयोग करना तो दूर रहा, वे स्वयं ही इस कर्म के विधान के अधीन होते हैं—यह कर्म--चक्र स्वयं देवताओं को भी बाँधे रहता है । देवता भी पुनर्जन्म के उसी चक्र में बँधे हुए हैं जो सदा चलता रहता है । और जिसका कभी अन्त नहीं होता । इस सिद्धान्त के अनुसार न तो कोई न्यायकर्त्ता है और न कोई फैसला है, न कोई दंड है और न कोई पश्चात्ताप या सुधार है, और न किसी दैवी कृपा से पापों की क्षमा है । यहाँ तक कि स्वयं शाश्वत विश्व भी ऐसे बन्धन में, जिसमें कभी कोई परिवर्त्तन नहीं हो सकता, बँधा है । भारतवासियों के मन में इस विश्वास ने ऐसी मजबूती से जड पकड रखी थी मूल बौद्ध धर्म में भी यह सिद्धान्त बिलकुल ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया गया था । हाँ उसमें अन्तर केवल यही था कि कोई ऐसी आत्मा नहीं मानी जाती थी जिसका पुनर्जन्म होता । बौद्ध लोग एक आत्मा को तो नहीं मानते थे, पर बाकी और बातों में यही समझते थे कि कर्म द्वारा ही एक जीवन दूसरे जीवन से बँधा हुआ है ।

भारतवर्ष में कर्म के इस सिद्धान्त का जो संगत विकास हुआ था, उससे बहुत पहले से लोगों में यह विश्वास चला आता था कि इस जन्म में हम जो कर्म करते हैं, उनका फल हमें मरने के उपरान्त देवताओं के स्वर्ग में अथवा किसी उपयुक्त नरक में भोगना पडता है; और दोनों की संगति इस प्रकार बैठाई जाती थी कि जब मनुष्य का एक जीवन समाप्त होता है, तब वह पहले कुछ दिनों तक स्वर्ग में और तब कुछ दिनों तक नरक में रहकर अपने शुभ तथा अशुभ कर्मों का फल भोगता है; और

जब उसका वह भोग समाप्त हो जाता है, तब वह फिर नया जन्म धारण करता है। इसी प्रकार प्रत्येक जन्म के अन्त में होता रहता है। इसके वहुत दिनों बाद ठीक यही सिद्धान्त और बिलकुल इसी रूप में यूनानी दार्शनिक प्लेटो (Plato=अफलातून) ने भी प्रतिपादित किया था।

मृत्यु के उपरान्त होनेवाली मनुष्य की क्षति के सम्बन्ध में ई. पू. छठी शताब्दी में यूनान में कई नये विचार बहुत अधिक प्रचलित हुए थे; और आगे चलकर उन विचारोंका वहां के धर्म और दर्शन दोनों पर वहुत अधिक प्रभाव पडा था। जिस मूल विश्वास से शाखाओं के रूप में ये नये विचार निकले थे, वह यह था कि प्राकृतिक रूप से केवल देवताओं को ही सुखपूर्ण अमर जीवन प्राप्त होता है और सर्व श्रेष्ठ कोटि का यह विशेष अधिकार वास्तव में उन्हीं को प्राप्त है। जान पडता है कि यूनानियों ने यह विचार कदाचित् थ्रेसवालों (Thracians) से वैक्किक आर्फिक (Bacchic Orphic) धर्मों के द्वारा ग्रहण किया था। यूनानवाले यह मानते थे कि मनुष्य की प्रकृति नश्वर है और अविनश्वर या अमर जीव अर्थात् देवता लोग एलीशियम (Elysium) में निवास करते हैं, जहाँ सदा ऐसा प्रकाश रहता है जिसका कभी अन्त नहीं होता, अनेक प्रकार के बहुत सुगन्धित पवन वहते रहते हैं और मधुर शब्द होते रहते हैं। इसके विपरीत अ—दैवी अर्थात् मानवी जीवों का अन्त में जिस स्थानपर जाकर निवास करना पडता है, वह इस एलीशियम के बिलकुल विपरीत एक बहुत ही गन्दा और कीचड से भरा हुआ गड्ढा है, जिसमें सदा घोर अन्धकार छाया रहता है। इससे पहले वे लोग यह मानते थे कि मृत पुरुषों की आत्माएँ हेडेज (Hades) में निवास करती हैं और वहाँ उन्हें अनेक प्रकार के कष्ट भोगने पडते हैं। और आगे चलकर बर्बरतापूर्ण कल्पनाओं की सहायता से वहाँ की भीषणता में और भी अनेक नई वृद्धियाँ कर ली गई थीं। परन्तु मृत पुरुषों

की आत्माएँ जो इस हेडेज में भेजी जाती थीं, उसका कारण यह नहीं था कि उन्हें उनके पापों या अपराधों का दंड दिया जाता था। बल्कि वास्तव में यह माना जाता था कि मनुष्य मात्र को इसलिए हेडेज में जाना पडता है कि वह मनुष्य होता है और देवता नहीं होता।

हम अभी ऊपर बतला चुके हैं कि आत्माओं के पुनर्जन्म का विचार संसार के बहुत से देशों में ऐसी जातियों में प्रचलित था जो संस्कृति के बहुत ही निम्न तलों पर थीं। जिस प्रकार मनुष्यों के मन में यह प्रश्न उत्पन्न होना बिलकुल स्वाभाविक है कि मरने के उपरान्त मनुष्य की आत्मा कहाँ जाती है, उसी प्रकार उसके मन में यह प्रश्न उत्पन्न होना भी बिलकुल स्वाभाविक है कि वह कहाँ से आती है। परन्तु जान पडता है कि सबसे पहले लोगों के मन में यही प्रश्न उत्पन्न हुआ था कि मनुष्य के मरने पर उसकी आत्मा कहाँ जाती है; और कदाचित् इस प्रश्न की ओर उनका ध्यान बहुत बाद में गया था कि वह मनुष्य के शरीर में कहाँ से आती है। कहा जाता है कि यूनानियों ने पुनर्जन्म सम्बन्धी विश्वास थ्रेस में रहनेवाली गेटी (Getae) नामक प्राचीन जंगली जाति से ग्रहण किया था। हम अभी ऊपर यह बतला चुके हैं कि यूनानियों ने थ्रेसवालों से बैक्किक आर्फिक धर्मों से यह विचार ग्रहण किया था कि सुखपूर्ण और अमर जीवन केवल देवताओं को ही प्राप्त होता है। इसी प्रकार यदि पुनर्जन्मवाला सिद्धान्त भी यूनानियों ने थ्रेसवालों से उक्त धर्मों के द्वारा ही ग्रहण किया हो तो यह कोई असम्भव बात नहीं है। साहित्य में हमें पहले-पहल सिसली और दक्षिणी इटली में इस सम्बन्ध के विचार मिलते हैं और यूनानी दर्शन में इन बातों को पिथागोरस और प्लेटो की कृपा से स्थान मिला था। उन प्रदेशों में एक यह जन-श्रुति भी प्रचलित है कि थ्रेस के जैलमोक्सिस (Zalmoxis) और पिथागोरस (Pythagores) में भेंट और वार्त्तालाप हुआ था; और जान पडता है कि इसी जनश्रुति

में यह बात भी अस्पष्ट रूप से गर्भित है कि यूनानवालों ने यह सिद्धान्त थ्रेसवालों से ग्रहण किया था। परन्तु स्वयं यूनानी लोग यह समझते थे कि यह सिद्धान्त मिस्र से हमारे यहाँ आया है। और इधर हाल के बहुत से विद्वानों का यह विश्वास है कि यह विचार भारत से चलकर वहाँ पहुँचा था।

इस सम्बन्ध का यूनानी सिद्धान्त उस भारतीय सिद्धान्त से बहुत कुछ भिन्न है, जिसका उल्लेख अभी ऊपर किया जा चुका है। यूनानियों का यह विश्वास था कि आत्मा जब देवत्व से पतित होती है, तब वह इस लोक में मनुष्य के शरीर में आकर निवास करती है और उसे अपने पाप के फल–स्वरूप भौतिक नश्वर शरीर में बद्ध होना पड़ता है। पिंडार (Pindar) ने बहुत ही अस्पष्ट और अनिश्चित अर्थ में "प्राचीन अपराध" का उल्लेख किया है और एम्पेडोक्लीज ने "रक्त–पात और मिथ्या शपथपूर्वक दी हुई साक्षी" का उल्लेख किया है; और इसका आशय यह जान पड़ता है कि यूनान की पौराणिक कथाओं के अनुसार इसी प्रकार के कुछ अपराधों के कारण कुछ देवता अपने पद से च्युत होकर इस लोक में मनुष्यों के रूप में उत्पन्न हुए थे और उन्हीं से यह मानव जाति चली थी। वहाँ एक यह पौराणिक कथा भी प्रचलित है कि जो देवता इस प्रकार के अपराध करता है, उसे सब देवताओं की आज्ञा से "तीन बार दस दस हजार ऋतुओं" (१०००० वर्षों) तक उन देवताओं से बहुत दूर अर्थात् इस लोक में रहना पड़ता है; और इस बीच में उसे सभी प्रकार की नश्वर योनियों में जन्म ग्रहण करना पड़ता है और वह सदा जीवन का एक भीषण और दुःखद मार्ग छोड़कर दूसरा मार्ग ग्रहण करता रहता है। इन पार्थिव जीवनों में आत्मा को शारीरिक और नैतिक अपवित्रता या अशुद्धता का भोग करना पड़ता है। वे यह भी समझते थे कि यह शरीर उस आत्मा की कब्र या समाधि है अथवा उसे बन्द रखने के लिए कैद-

खाना है अथवा उसका अनित्य और नश्वर निवास-स्थान है, अथवा उसका मांस का आच्छादन है अथवा उसका अपवित्र और गन्दा वस्त्र या पहनावा है। भारत की भी भाँति यूनान में पुनर्जन्मवाली धारणा के साथ आरम्भिक काल के ये विचार भी सम्मिलित या सम्बद्ध थे कि एक जन्म में किये हुए शुभ और अशुभ कर्मों का फल दूसरे जन्म में भोगना पडता है; और यूनानवाले यह मानते थे कि प्रत्येक बार मरने के उपरान्त मनुष्य को पहले एक हजार वर्षों तक हेडेज में निवास करना पडता है और तब उसके बाद उसे नवीन जन्म प्राप्त होता है। वे लोग मानते थे कि जो आत्माएँ अपने असली और पहले अपराध का प्रायश्चित कर लेती हैं और अपनी उच्चतर प्रकृति का ध्यान रखती हुई सब प्रकार के इन्द्रिय--जन्य प्रलोभनों से बच कर अपने आपको शुद्ध और पवित्र करती हैं और अपवित्र वस्तुओं के साथ मिलकर अपवित्र नहीं होतीं, उनका अन्त में छुटकारा हो जाता है और वे फिर अपनी मूल स्थिति अर्थात् देव-योनि में पहुँच जाती हैं।

प्रायः सभी प्राचीन धर्मों में साधारणतः यही माना जाता था कि किसी प्रकार का अपराध या दोष करने से मनुष्य अशुचि या अपवित्र हो जाता है; और पिथागोरसवाली योजना में इस प्रकार की अपवित्रता दूर करने का यह उपाय बतलाया गया है कि मनुष्य तपस्या के द्वारा अपनी शारीरिक शुद्धि करे और दार्शनिक जीवन व्यतीत करके अपनी मानसिक या बौद्धिक शुद्धि करे। बहुत कुछ यही विचार प्लेटो के ग्रन्थों में भी मिलते हैं; परन्तु प्लेटो की बातों में एक मुख्य और महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि उसने इस बुराई का मूल कोई पौराणिक अपराध नहीं माना है। प्लेटो का मत है कि आत्मा का जो पतन होता है, वह स्वयं उस आत्मा के ही कारण होता है और मनुष्य अपनी बुद्धि से काम न लेकर दुष्ट भावनाओं और वासनाओं के चंगुल में फँस जाता है। मनुष्य का पतन स्वयं उसके

बौद्धिक अथवा नैतिक दोषों और भूलों के कारण होता है और इसी लिए उसका सुधार भौतिक अथवा तान्त्रिक उपायों से नहीं हो सकता। इन दोषों का मार्जन तभी हो सकता है, जब मनुष्य दार्शनिक विचारों की सहायता से अपनी बुद्धि या मस्तिष्क शुद्ध करे और अपने उत्तम गुणों की सहायता से सब प्रकार के विचारों पर अपने मन या विवेक का प्रभुत्व स्थापित कर ले।

यह तो हम बतला ही चुके हैं कि मनुष्य के भावी अस्तित्व या परलोक-गत जीवन के सम्बन्ध में लोग अनेक प्रकार की धारणाएँ निश्चित कर चुके थे। कहीं लोग यह समझते थे कि इस जन्म में मनुष्य जो दुष्कर्म करता है, उनके फल-स्वरूप उसे नरकों में रहकर अनेक प्रकार के कष्ट और यातनाएँ भोगनी पडती हैं; कहीं वे यह समझते थे कि जन्म और मरण की एक अनन्त शृंखला है और मनुष्य का प्रत्येक जन्म उसके पूर्व जन्म के फल के रूप में होता है; कहीं वे यह समझते थे कि "अपने प्राचीन पाप" का प्रायश्चित्त करने के लिए वह देवत्व से च्युत होकर इस लोक में आया है, कहीं यह मानते थे कि अपनी निम्न कोटि की प्रवृत्तियों और मनोभावों आदि के कारण एक अच्छी और ऊँची अवस्था से उसका पतन हुआ है; और कहीं उनका यह विश्वास था कि लोग इसी लिए एक गहरे, अँधेरे और गन्दे गड्ढे में भेजे जाते हैं कि वे देवता नहीं होते, बल्कि मनुष्य होते हैं। जिस समय मनुष्यों के मन में इस प्रकार के निश्चित विचार उत्पन्न होने लगे थे, उससे बहुत पहले से वे बराबर यही सोचते आते थे कि मृत्यु के उपरान्त मनुष्य की आत्मा की क्या गति होती है; और वे प्रायः यही समझते थे कि हो न हो, आत्माओं को यह शरीर छोडने पर अनेक प्रकार के कष्ट ही सहने पडते होंगे; और उसी समय से धर्म ने एक नई अवस्था में प्रवेश किया था। इससे पहले-वाली अवस्था में लोग धर्म के द्वारा केवल उन्हीं प्राकृतिक उपद्रवों और

संकटों से रक्षित रहना चाहते थे, जिनका वे इस जीवन में अनुभव करते थे; और धर्म के द्वारा दूसरी बात वे यह चाहते थे कि प्रकृति हमारे सुख-भोग के लिए जो अच्छी अच्छी चीजें दे सकती है, वह सब हमें यथेष्ट मात्रा में दे। अब जहाँ तक उन लोगों का इस जीवन के बादवाले या परवर्ती जीवन से सम्बन्ध था, वहाँ तक वे यही चाहते थे कि जिस प्रकार सब तरह के सुख-भोग की सारी सामग्री हमें यहा और इस जीवन में भी मिलती रही है, वही हमें बराबर इसके बाद वाले जीवन में भी मिलती रहे। कल्पना शक्ति जब एक बार काम करना शुरू कर देती है, तब वह बराबर आगे की तरफ ही दौड लगाती चलती है। पहले तो लोग इसी लोक के संकटों से बचने के लिए और आत्म-रक्षा के उद्देश्य से ही धर्म की शरण में गये थे; पर अब उन लोगों ने परवर्त्ती जीवन के सम्बन्ध में भी अनेक प्रकार के संकटों आदि की कल्पना कर ली थी; और अब वे यह चाहते थे कि हमें भी देवताओं का सा परम सुखद और अमर जीवन प्राप्त हो; और इसी लिए अब वे धर्म से इसी प्रकार के जीवन प्राप्त करने की आशा करने लगे थे।

हम ऊपर कई बार यह बतला चुके हैं कि धर्म का स्वरूप मुख्यत: इस बात से निश्चित होता है कि लोग उसमें क्या ढूंडते हैं। मतलब यह कि हम धर्म से जो कुछ चाहते या आशा रखते हैं, उसी के अनुरूप हमारे धर्म का स्वरूप हो जाता है। अब लोग यह चाहने लगे थे कि इस नश्वर जीवन के उपरान्त हमारा मंगल हो और हमें ऐसी शुभ बातें प्राप्त हों, जो समस्त नश्वर शुभ बातों से कहीं बढकर हों; और इसी लिए अब लोगों में एक नये प्रकार के धर्म का प्रचार होने लगा था-अथवा हम कह सकते हैं कि यहीं से धर्म ने एक नया स्वरूप धारण करना आरम्भ कर दिया था-और इससे पहले शक्तियों के सम्बन्ध में मनुष्यों के जो विचार थे, उनमें भी मनुष्य की इन नई इच्छाओं के अनुसार ही परिवर्त्तन हो

गये थे। अब लोग उन्हीं शक्तियों की सहायता से मोक्ष प्राप्त करना चाहते थे; और यह सोचने लगे थे कि हमें ऐसे कौन से उपाय या काम करने चाहिए जिनसे मोक्ष प्राप्त हो।

जिन धर्मों के सम्बन्ध में हम पहले विचार कर चुके हैं, उन्हें हम प्राकृतिक धर्म कह सकते हैं; और यह इस विचार से कि उनके द्वारा लोग प्राकृतिक शुभ बातें प्राप्त करना चाहते थे–वे यह चाहते थे कि हमें इस जीवन में अच्छी अच्छी चीजें मिलती रहें। परन्तु अब हम जिस प्रकार के धर्मों का विचार करना चाहते हैं, उन्हें हम इसी प्रकार अति-प्राकृतिक या पारलौकिक धर्म कह सकते हैं, क्योंकि उनके द्वारा लोग परवर्त्ती जीवन में अच्छी अच्छी चीजें प्राप्त करना चाहते थे; और उस प्रकृति के दूसरे पारवाली अवस्था में सुख से रहना चाहते थे जिसे हम जानते हैं। कुछ विशिष्ट धर्मों के सम्बन्ध में अब तक अति प्राकृतिक या पारलौकिक (Super-natural) शब्द का जो प्रयोग होता रहा है, उसका आशय यही रहा है कि उन धर्मों की उत्पत्ति दैवी मूल से अथवा अपौरुषेय रूप से हुई है; और कभी इस अभिप्राय से उसका प्रयोग नहीं किया गया है कि लोग इन धर्मों के द्वारा अन्त में देव–योनि प्राप्त करना चाहते थे; और इसी लिए अब इस शब्द का प्रयोग किसी ऐसे नये अर्थ में करना ठीक नहीं है जो इससे बिलकुल भिन्न हो। इधर हाल में कुछ पाश्चात्य विद्वान् इन्हें परित्राणात्मक धर्म (Redemptive Religions) कहने लग गये हैं। अँगरेजी में साधारणतः (Redemptive) शब्द का अर्थ होता है–सब प्रकार के पापों और अपराधों से मुक्त करानेवाला; और इस दृष्टि से एक ईसाई धर्म ही ऐसा है, जिसके लिए इस विशेषण का ठीक अर्थ में प्रयोग किया जा सकता हो; क्योंकि उस धर्म में ईसा मसीह लोगों से कहते हैं कि तुम मेरी शरण में आओ; मैं ईश्वर से सिफारिश करके सब प्रकार के पापों और अपराधों से तुम्हें मुक्त करा दूँगा;

तुम लोगों को मोक्ष दिलवा दूँगा। परन्तु हम साधारणतः उन सभी धर्मों का विवेचन करना चाहते हैं, जिनमें मोक्ष प्राप्त करने के उपाय बतलाये गये हैं, और हम ऐसे ही धर्मों को मोक्षदायक धर्म कहेंगे। असल में समझ रखने की बात यह है कि ये सब बिलकुल एक नई तरह के धर्म थे और पुरानी तरह के धर्मों से बिलकुल अलग थे; और इसी लिए इनका एक स्वतन्त्र वर्ग बन जाता है। नाम या विशेषण से कुछ होता जाता नहीं, हम चाहे उसका जो नाम रख लें और जो चाहें सो विशेषण उसके साथ लगा लें; पर हाँ वह नाम और वह विशेषण असंगत नहीं होना चाहिए।

यह बात नहीं है कि इन नये मोक्षदायक धर्मों और उनसे पहले के प्राकृतिक धर्मों में आवश्यक और अनिवार्य रूप से कोई विरोध या संघर्ष हो। अन्तर केवल यही था कि पुराने जमाने के प्राकृतिक धर्मों का सम्बन्ध केवल इस लोक की निजी और व्यक्तिगत बातों तथा हितों से सम्बन्ध रखता था; और इन नये प्रकार के धर्मों का सम्बन्ध मनुष्य के उस जीवन से था जो उसे मरने के उपरान्त प्राप्त होता है। ये नये धर्म यह बतलाते थे कि मरने के बाद मनुष्य की क्या गति होती है और वह गति किस तरह सुधारी जा सकती है। पुराने प्राकृतिक धर्मों का सम्बन्ध मनुष्य के वास्तविक और स्थायी हितों के साथ था; और इसी लिए लोग उन धर्मों का बराबर सदा की तरह पालन करते रहे। उन पुराने धर्मों के सम्बन्ध में एक और बात यह थी कि वे धर्म ऐसे राजनैतिक समाजों या राज्यों के धर्म थे, जिनमें उन धर्मों के अनुयायियों का जन्म हुआ था; और इसी लिए वे लोग अपनी जाति अथवा अपने देश के देवताओं की उपासना अपने यहाँ की प्रचलित और प्रस्थापित प्रणालियों के अनुसार करने के लिए बाध्य होते थे। अब यह बात दूसरी थी कि अपनी आत्मा की रक्षा के लिए या अपना परलोक सुधारने के लिए वे जो चाहें,

वह करें। कभी कभी ऐसा होता था कि कानून बनाकर नये देवताओं अथवा नवीन धार्मिक कृत्यों का ग्रहण करने की मनाही कर दी जाती थी। लेकिन मनुष्य अपनी तरफ से चाहे कितने कानूनें क्यों न बनावे और कितनी ही कडी सजाएँ क्यों न नियत कर दे, पर फिर भी लोगों को परलोक के कष्टों से मुक्त करानेवाले मार्गों पर चलने से किसी तरह रोका नहीं जा सकता। चाहे कितने ही कानून क्यों न बना करें, पर फिर भी लोग मोक्ष प्राप्त करने का जो उपाय अच्छा समझते हैं, वह करते ही हैं। वे इस काम से किसी तरह रोके नहीं जा सकते।

जन-साधारण को तो इसी जीवन में अनेक प्रकार के कष्टों और विपत्तियों का सामना करना पडता है और वे उन्हीं की चिन्ताओं में यथेष्ट व्यस्त रहते हैं, तिस पर समाज में अधिकांश लोग ऐसे ही होते हैं जो बहुत अधिक और दूर की कल्पनाएँ नहीं करते। प्राचीन काल में ऐसे लोगों की संख्या और भी अधिक रही होगी जो व्यर्थ की कल्पनाओं से रहित हों। इस लिए इस बात की कोई विशेष सम्भावना नहीं जान पडती कि वे लोग परलोक सम्बन्धी संकटों के सम्बन्ध में कुछ अधिक चिन्ता करते रहे हों और यह सोचते रहे हों कि उन संकटों से किस प्रकार रक्षा होगी। परन्तु फिर भी यह बात स्पष्ट रूप से जान पडती है कि उनमें से बहुत से लोग ऐसे भी थे जो इस बात की चिन्ता में लगे रहते थे कि मरने के उपरान्त हमारी मुक्ति किस प्रकार होगी। और इसी लिए वे ऐसे धर्मों अथवा दर्शनों की ओर विशेष रूप से आकृष्ट और प्रवृत्त होते थे। जो धर्म या दर्शन यह कहते थे कि हम वह रहस्य बतला सकते हैं जिससे परलोक में मोक्ष प्राप्त होता है। कुछ कालों और कुछ विशिष्ट वर्गों में मृत्यु के उपरान्त होनेवाली सद्गति और दुर्गति की चिन्ता लोगों के मन में इतनी बैठ गई थी और वे परलोक में मिलनेवाले सुखों को इतना अधिक महत्वपूर्ण समझने लग गये थे कि उन्हें इस लोक के अच्छे

से अच्छे सुख भी पारलौकिक सुखों के सामने बिलकुल तुच्छ जान पड़ते थे। ऐसे लोगों का यह भी मत था कि जो लोग सांसारिक सुखों की कामना करते हैं और उन्हीं के भोग में लिप्त रहते हैं, उन्हें इस बात की कोई चिन्ता नहीं रह जाती कि परलोक में क्या होगा; और इसी लिए उन्होंने यह सिद्धान्त स्थिर कर लिया था कि सांसारिक सुख सदा पारलौकिक सुख तथा कल्याण के मार्ग में बाधक होते हैं। यही कारण था कि पार-लौकिक सुख तथा मोक्ष प्राप्त करने के लिए सबसे पहली बात यह मानी जाने लगी थी कि इस संसार के सब प्रकार के सुखों का परित्याग कर दिया जाय और लोग विरक्त तथा त्यागी बनकर रहें। इस प्रकार का संयम और वैराग्य शारीरिक, नैतिक और मानसिक या बौद्धिक सभी प्रकार की बातों के सम्बन्ध में आवश्यक समझा जाता था; और मृत्यु के उपरान्त मोक्ष करनेका यही साधन माना जाता था। अनेक दर्शनों और दार्शनिक साँचे में ढले हुए धर्मों में यह माना जाता था कि आत्मा शुद्ध विज्ञान-मय है और उसे भौतिक तथा ऐन्द्रिक बन्धनों से मुक्त करके उसके वास्तविक और दैवी स्वरूप तक उसे पहुँचा देना ही मोक्ष है। और इस प्रकार के दर्शनों तथा धर्मों में ऊपर बतलाये हुए सिद्धान्तों का सबसे अधिक और पूरा पूरा विकास हुआ था।

मोक्षदायक धर्म तो अनेक थे, पर उन सबमें परस्पर बहुत अधिक अन्तर था; और इस अन्तर का कारण यह था कि प्रत्येक धर्म का पूर्व-कालिक इतिहास अलग होता है, उसके अनुयायियों के कुछ विशिष्ट और जाति-गत स्वभाव या गुण आदि हुआ करते हैं और उनकी संस्कृति, इतिहास तथा दूसरी परिस्थितियाँ आदि सब एक दूसरी से भिन्न होती हैं। फिर प्रत्येक धर्म पर उसके पैगम्बरों, संस्थापकों सुधारकों और विचारशीलों आदि का जो प्रबल प्रभाव पड़ता है, वह भी एक दूसरे से बिलकुल भिन्न होता है। इसके सिवा इस प्रकार के लोगों का प्राकृतिक धर्मों पर तो उतना

अधिक प्रभाव नहीं पडने पाता, पर मोक्षदायक धर्मों पर उनका बहुत अधिक प्रभाव पडता है। फिर मोक्ष का मार्ग निश्चित करनेवाली कुछ खास बातें हुआ करती हैं। मृत्यु के उपरान्त होनेवाले कष्टों आदि के सम्बन्ध में भी, अभिलषित सुखों के सम्बन्ध में भी और उनके कारणों के सम्बन्ध में भी लोगों की अलग अलग धारणाएँ और अलग अलग विचार हुआ करते हैं। और इसी लिए जो मनुष्य मृत्यु के उपरान्त मिलनेवाले दु:खों और सुखों का जो स्वरूप समझता है और उनके जो कारण मानता है, उन्हीं के अनुसार वह अपने मोक्ष का मार्ग भी बनाता है।

यह बात हम कुछ उदाहरण देकर और भी स्पष्ट कर देना चाहते हैं। कुछ लोग तो यह समझते हैं कि हम इस जीवन में जो अच्छे और बुरे कर्म करते हैं, उन्हीं के अनुसार हमें मरने पर ईश्वर की ओर से उनके अच्छे या बुरे फल मिलते हैं। वे समझते हैं कि यदि हम देवताओं अथवा मनुष्यों का कोई अपराध करेंगे तो उसका दंड हमें नरक वास के रूप में मिलेगा; और यदि हम सत्कर्म करेंगे तो हमें अमर जीवन और देवलोक का निवास प्राप्त होगा। इस प्रकार वे लोग यह मानते हैं कि अच्छे और बुरे सभी प्रकार के कर्मों का फल हमें अवश्य ही भोगना पडेगा। पर इसके विपरीत कुछ लोग यह माननेवाले भी होते हैं कि ईश्वर केवल दंड देना ही नहीं जानता बल्कि वह हमें क्षमा भी कर सकता है और हम उसकी कृपा से अपने पापों के फल-भोग से बच सकते हैं। फिर कुछ लोग यह भी मानते हैं कि मनुष्य के प्रत्येक कार्य, शब्द और प्रत्येक विचार का तदनुरूप फल उसे दूसरे जन्म में प्राप्त होता है; और यह नियम ऐसा ध्रुव है कि इसमें कभी किसी प्रकार का परिवर्त्तन हो ही नहीं सकता; और यहाँ तक कि कर्म और उसके फल-भोगवाले बन्धन से स्वयं देवता भी मुक्त नहीं हैं। अब यह स्पष्ट ही है कि उक्त प्रकार के विचार रखनेवाले सब लोग अपने लिए मोक्ष का अलग अलग मार्ग निकालेंगे

और अपने अपने मोक्ष का अलग अलग स्वरूप स्थिर करेंगे। फिर कुछ लोग ऐसे भी हैं, उदाहरणार्थ प्राचीन यूनानी जो यह मानते हैं कि अमर जीवन तो केवल देवताओं का ही होता है और मनुष्यों को वह कभी किसी प्रकार प्राप्त हो ही नहीं सकता। अब कदाचित् यहाँ यह बतलाने की आवश्यकता न होगी कि इस प्रकार के विचार रखनेवाले लोगों का मोक्ष भी कुछ और ही प्रकार का होगा और उस की प्राप्ति का मार्ग भी कुछ निराला ही होगा।

फिर इस प्रकार के धर्मों का भी आपस में एक दूसरे पर बहुत कुछ प्रभाव पड़ा है और वह प्रभाव भी कई तरह से पड़ा है। इसके सिवा प्रत्येक ऐसे धर्म पर उसके आस-पास के प्राकृतिक धर्मों का भी कम प्रभाव नहीं पड़ा है। इसी लिए उन धर्मों के भिन्न भिन्न अंगों के विकास के विचार से किसी एक सिद्धान्त के आधार पर उन धर्मों का वर्गीकरण करना बहुत ही कठिन है; और इसकी कोई ऐसी संगत योजना नहीं हो सकती, जो पूर्ण रूप से सन्तोषजनक हो। हमारा काम तो ऐसे धर्मों को एक दूसरी ही दृष्टि से दो भागों में विभक्त करने से चल जायगा। इनमें से एक वर्ग में तो हम उन धर्मों को रखते हैं जो यह तो बतलाते ही हैं कि मरने के उपरान्त लोग व्यक्तिगत रूप से किस प्रकार मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं, पर साथ ही जो यह भी उपदेश देते हैं कि सब लोगों को इस प्रकार का आचरण करना चाहिए जिसमें अन्त में बुराई पर भलाई को पूरी पूरी विजय प्राप्त हो; और यह विजय केवल प्रकृति के क्षेत्र में ही न हो, बल्कि मनुष्यों और आत्माओं के जगत् में भी हो और यह संसार ही ऐसा अच्छा बना दिया जाय कि सब लोग भले आदमी और देवता बनकर इसमें निवास कर सकें और इसमें हर जगह भलाई ही भलाई दिखलाई दे। तात्पर्य यह कि एक वर्ग तो ऐसे धर्मों का है जो परलोक में तो मनुष्य को स्वर्ग दिलवाना ही चाहते हैं, पर साथ ही जो इस लोक को भी स्वर्ग

बनाना चाहते हैं। और दूसरे वर्ग में हम उन अनेक ऐसे धर्मों को रख सकते हैं जिनका मोक्ष के सम्बन्ध में यह विचार है कि व्यक्तिगत आत्मा का इस भौतिक तथा ऐन्द्रिक जगत् से छुटकारा हो जाय और उसे फिर बार बार आकर इस लोक में जन्म न ग्रहण करना पडे। पहले वर्ग में तो सब धर्म बिलकुल आस्तिक या ईश्वरवादी धर्म हैं और उनके देवता इस लोक के शासक, सब का मंगल करनेवाले और परलोक में उनका परित्राण करनेवाले हैं। परन्तु दूसरे वर्ग के धर्म अद्वैतवादी या सर्वेश्वरवादी और ईश्वरवादी तथा अनीश्वरवादी भी हो सकते हैं। पहले वर्ग के धर्मों के सम्बन्ध में यह भी निश्चित है कि वे आचार पर बहुत अधिक जोर देते हैं और चाहते हैं कि मनुष्य भी ईश्वर के साथ मिलकर इस पृथ्वी को आदर्श तथा स्वर्ग बनाने का प्रयत्न करे। इस पहले वर्ग में ये धर्म आते हैं। (१) जरतुश्त का चलाया हुआ धर्म, जिसे पारसी अग्नि-पूजक मानते हैं; (२)अपने मूल तथा सनातन रूप में यहूदियों का धर्म और (३) इस्लाम धर्म। दूसरे वर्ग में भारतवर्ष तथा यूनान के मोक्षदायक धर्म तथा दर्शन आते हैं और हेलेनी रोमन (Hellenistic-Roman) जगत् के स्थानीय तथा विदेशी रहस्यवाद भी इसी के अन्तर्गत हैं। ईसाई धर्म, जैसा कि हम आगे चलकर बतलावेंगे, इन दोनों प्रकारों का एक मिश्रित रूप है।

सातवाँ प्रकरण

मोक्ष के मार्ग

जो धर्म इस पृथ्वी में बुराई पर भलाईको पूरी पूरी विजय दिलाना चाहते हैं, अर्थात् जो इस इस पृथ्वी को ही स्वर्ग या देवताओं का निवास स्थान बना देना चाहते हैं, उनमें से पुराना धर्म पारसी अग्नि-पूजकों का

है। इस धर्म का संस्थापक जरतुश्त था इस लिए इसे जरतुश्ती धर्म कहते हैं और इस धर्म के ईश्वर का नाम मज्द है, इस लिए इसे मज्दी धर्म भी कहते हैं। इस धर्म का मूल या आरम्भ ऐसे घोर अन्धकार के गर्भ में है कि वहाँ तक कोई किसी तरह पहुँच ही नहीं सकता। इस सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से केवल इतना ही कहा जा सकता है कि यह ईरान के प्राकृतिक धर्म का कोई प्राकृतिक विकास नहीं था, बल्कि एक पैगम्बर ने वहाँ के किसी प्राकृतिक धर्म में सुधार अथवा क्रान्ति करके उसे यह रूप प्रदान किया था। परन्तु इस सम्बन्ध में दो बातें हुई। एक तो यह कि जब इस सुधार की लहर बहुत दूर दूर तक पहुँची, तब उस सुधार का बल नष्ट हो गया। और दूसरे यह कि जब ईरानी जाति की दूसरी शाखाओं ने यह धर्म ग्रहण कर लिया अथवा उन दूसरी जातियों ने भी इसका स्वीकार कर लिया जो ईरानियों के साम्राज्य के अधीन आ गई थीं, तब पुराने ईरानी धर्म की भी बहुत सी बातें और बहुत सी विदेशी बातें भी इस जरतुश्ती धर्म में आकर मिल गईं। परन्तु फिर भी इस धर्म ने अपना विशिष्ट स्वरूप कभी नष्ट नहीं होने दिया।

पुराना ईरानी धर्म प्राकृतिक बहुदेववाद था और उस प्राकृतिक बहुदेववदा से बहुत घनिष्ट रूप से सम्बन्ध था जो भारतवर्ष में ईरानियों के भाई-बन्द आर्यों में प्रचलित था। दोनों ही जातियों के देवता प्रायः एक हैं, दोनों के पुराणों की बहुत सी बातें भी प्रायः एक सी हैं और पूजा-विधि की खास खास बातें भी दोनों में बिलकुल एक सी हैं। जरथुष्ट्र (इसे फारसी में जरदुश्त या जरतुश्त और यूनानी में जोरोआस्टर Zoroaster कहते हैं। हम भी इसे सुभीते के लिए जरदुश्त ही कहेंगे।) ने सब देवताओं और उनके पौरोहित्य का अस्वीकार या परित्याग कर दिया था और उन बलिदानों का भी अन्त कर दिया था जिनमें रक्त-पात होता था। उसके मत के अनुसार केवल एक ही देवता है जिसका अर्थ-

पूर्ण नाम "मज्द" है और जिसका शब्दार्थ होता है–"बुद्धिमत्ता या ज्ञान"। इसी शब्द के साथ "अहुर" उपाधि लगा दी गई थी जिसका अर्थ होता है "प्रभु"; और इस प्रकार उसके परम देवता का नाम हुआ "अहुर मज्द"। कुछ और देवता भी थे जिनका इस अहुर मज्द के साथ बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध था। उन में से मुख्य था वोहु मनो, जिसकी अहुर मज्द ने सबसे पहले सृष्टि की थी। वोहु मनो का अर्थ होता है-सुन्दर या उत्तम मन; और यह श्रेष्ठ बुद्धिमत्ता या ज्ञान, श्रेष्ठ उद्देश्य और श्रेष्ठ स्वभाव या प्रवृत्ति आदि का सांकेतिक रूप है। इसके सिवा अशा (सत्य अथवा नीति के अनुरूप आचरण), राजत्व और दया आदि कुछ ऐसी उत्तम शक्तियाँ भी हैं जो अविनश्वर भी हैं और लोकोपकारिणी भी। प्राचीन काल की पूजाओंमें से जरदुश्त ने केवल पवित्र अग्नि की पूजा को ही ग्रहण किया और उसके साथ हाओमा की आहुति को भी रहने दिया। यह हाओमा प्राचीन भारतीय आर्यों के सोम के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। दूसरी ओर नैतिक सदाचार पर उसने बहुत ज्यादा जोर दिया और उसके देश-भाइयों में पुरुषानुक्रम से जो बहुत सी प्रथाएँ आदि चली आती थीं, उनमें से बहुतों की निन्दा करके उन्हें उसे त्याज्य ठहराया और कुछ अच्छी प्रथाओं का नये धार्मिक सिद्धान्तों के अनुसार फिर से विधान किया।

जिस समय यह सुधार आरम्भ हुआ, उसी समय से पुराने धर्म तथा उसके समस्त समर्थकों, पुरोहितों, शासकों और अनुयायियों के साथ इसका विरोध और संघर्ष होने लगा था। सुधारक का संसार दो दलों में विभक्त था। एक दल तो सुधार के पक्ष में था और दूसरा उसके विरुद्ध था। इनमें से पहले दलवाले तो सत्य के अनुयायी थे और दूसरे दलवाले असत्य या मिथ्या के पक्षपाती थे; और यह विभाग सभी बातों में था। एक ओर तो बुद्धिमान् और सब बातों में अच्छा ईश्वर था; और दूसरी

ओर पुराने धर्म के वे बहुत से देवता थे जो सच्चे ईश्वर के विरोधी होने के कारण अब भूत-पिशाच हो गये थे। एक ओर तो वे ईरानी थे जो जो उस सच्चे ईश्वर पर विश्वास रखते थे और दूसरी ओर उनके तूरानी शत्रु थे। एक ओर तो कृषि और पशु-पालनवाली सभ्यता थी और दूसरी ओर देश की सीमाओं पर लूट-पाट करनेवाले जंगलियों के दल थे। एक ओर तो घरों में पाले जानेवाले अच्छे अच्छे पशु थे और दूसरी ओर जंगली हिंसक पशु और जहरीले साँप और अजगर आदि थे। एक ओर तो वह घास और गल्ला था जिससे आदमियों और जानवरों का पेट भरता था और दूसरी ओर ऐसे पौधे थे जो सब तरह से हानि पहुँचानेवाले और जहर से भरे हुए थे। बस यही बात समस्त प्राकृतिक और अति-प्राकृतिक अथवा लौकिक और अलौकिक सभी क्षेत्रों में थी।

जो लोग इस सुधार के काम में सम्मिलित हुए थे, वे स्वयं अपनी इच्छा से हुए थे; और जो इसका विरोध करते थे, वे भी अपनी ही इच्छा से करते थे। इस अनुभव पर व्यापक दृष्टि से विचार करने पर यह निष्कर्ष निकला और यह दृढ विश्वास हो गया कि प्रत्येक मनुष्य स्वयं अपनी इच्छा से सत्य, साधुता और भलाई की सेना में भरती होता है अथवा इन सबके शत्रुओं की सेना में भरती होता है। इस प्रकार संसार एक बहुत बडे युद्ध--क्षेत्र के समान है जिसमें केवल सज्ञान जीव ही नहीं, बल्कि और बाकी सब चीजें भी, यहाँ तक कि ऋतुएँ आदि भी, ऊपर बतलाये हुए एक पक्ष में हैं और या उसके विरोधी दूसरे पक्ष में हैं। यह विरोध या संघर्ष इस संसार के वर्त्तमान युग अथवा अवस्था के आरम्भ से ही चला आता है; अर्थात् जब से इस पृथ्वीने यह रूप धारण किया है, तभी से बराबर यह संघर्ष और विरोध चल रहा है। सृष्टि के आरम्भ में जो दो मूल आत्माएँ या शक्तियां थीं, उनमें भी ठीक यही बात थी। एक तो भली और लोकोपकारक आत्मा या शक्ति थी और दूसरी बुरी

और हानि पहुँचानेवाली थी; और आरम्भ में ही इनमें से एक ने भलाई को और दूसरीने बुराई को अपने लिए चुना था। अहुर मज्द और अहरिमन में, या हम यों कह सकते हैं कि खुदा और शैतान में, बराबर शुरू से ही यह लडाई चली आ रही है। परन्तु इस लडाई के अन्त में अहुर मज्द की ही जीत होगी और जो उसका विरोध करेंगे, वे बहुत तकलीफ और नुकसान में रहेंगे। उस समय सारे संसार में सिर्फ भलाई ही भलाई रह जायगी और बुराई का सदा के लिए नाश हो जायगा। यह संसार देवताओं का निवास-स्थान बन जायगा और स्वयं नरक भी अपनी ही अग्नि से पवित्र होकर मनुष्यों के बसने योग्य हो जायगा और इस पृथ्वी के साथ मिलकर इसकी सीमाओं का और भी अधिक विस्तार करेगा।

इस धर्म का सबसे पहले का उपदेश यह था कि संसार के इतिहास का यह संकट-काल बहुत ही समीप है; और इस वास्ते प्रत्येक मनुष्य के लिए यही अच्छा है कि बिना विलम्ब उस पक्ष में सम्मिलित हो जाय, जिसकी विजय बहुत जल्दी और अवश्य होनेवाली है। ऐसा न हो कि वह विकट परीक्षा का समय सामने आ जाय और फिर विजयी पक्ष में सम्मिलित होने का अवसर ही न रह जाय। उस दिन केवल जीवित पुरूष ही उस महान् न्यायालय के सामने उपस्थित नहीं होगें, बल्कि मृतकों के शरीरों की भी फिर से सृष्टि की जायगी और उनकी पहलेवाली आत्माओं के साथ फिर से उनका संयोग कराया जायगा; और तब इस बात का विचार किया जायगा कि अपने जीवन-काल में उन्होंने किस पक्ष का साथ दिया था; और उसी के अनुसार उन्हें पुरस्कार या दंड दिया जायगा। यह पृथ्वी सब प्रकार के दोषों आदि से रहित और शुद्ध कर दी जायगी, इसका रूप परिवर्त्तित कर दिया जायगा और सब प्रकार की बुराईयाँ यहाँ से सदा के लिए निकाल दी जायँगी; सब अच्छे आदमी अमर कर दिये जायँगे और उन्हें नवीन उत्तम शरीर मिलेगा और उन्हींसे

यह सारी पृथ्वी बसाई जायगी। और जो लोग बुरे होंगे, उन्हें अग्नि की यन्त्रणा भोगनी पडेगी--वे आग में जलाये जायँगे।

यों ही बहुत सा समय बीत गया, पर इतिहास का वह संकट-काल सामने आकर उपस्थित नहीं हुआ। इस बीच के लिए यही व्यवस्था है कि जब तक के लिए यह आखिरी फैसला मुलतवी किया गया है, तब तक मृतकों की आत्माओं के भाग्य का निर्णय इसी सिद्धान्त पर होगा। यह माना जाता है कि मृत्यु के तीन दिन बाद आत्माएँ मृतकों के न्याय-कर्त्ताओं के सामने पहुँचाई जाती हैं जो उनके भले और बुरे कामों को तौलते हैं—इस तौल में धर्म का वजन बहुत ज्यादा होता है, धर्म ही इस में सब से भारी ठहरता है—और तौलाई का यह काम ऐसे तराजू पर होता है जो न्याय से बाल भर भी इधर उधर नहीं जा सकता। इसके बाद आत्माओं की एक और दूसरी विकट परीक्षा होती है। वे आत्माएँ एक ऐसे पुल पर पहुँचाई जाती हैं जिसके नीचे एक इतना गहरा गड्ढा है, जिसकी किसी को थाह ही नहीं लग सकती। भले आदमियों के लिए तो यह पुल एक बढिया और चौडी सडक की तरह हो जाता है और वे आत्माएँ अच्छे विचारों, अच्छे शब्दों और अच्छे कर्मों के द्वारों से होती हुई उस पार जा पहुँचती हैं, जहाँ स्वयं प्रभु को चारों ओर से घेरे रहनेवाला प्रकाश होता है। परन्तु बुरे आदमियों के लिए वह पुल तलवार की धार की तरह सँकरा हो जाता है, जिससे वे लोग नीचेवाले गहरे गड्ढे में गिर पडते हैं। उसी गड्ढे में उन लोगों को तब तक पडे रहना पडेगा, जब तक वह अन्तिम न्याय और पुनरुद्धारवाला दिन न आवेगा।

इस धर्म में मोक्ष प्राप्त करने का केवल एक ही मार्ग था; और वह यह कि एक मात्र सच्चा धर्म ग्रहण कर लिया जाय और उसके पवित्र

नियम का पालन किया जाय। इस नियम का जो रूप हमें कम से कम इस धर्म के परवर्त्ती विकास के समय दिखाई देता है, उसके अनुसार हम कह सकते हैं कि इसके अधिकांश का तात्पर्य यह था कि शैतान के साथ सम्बन्ध होने के कारण जितनी चीजें और जितने काम खराब और अपवित्र हो गये हैं, उन सबसे आदमी सदा बचता रहे; और साथ ही शुद्धि तथा प्रायश्चित्त सम्बन्धी कुछ कृत्य भी करता रहे, जिससे इस छूत का असर दूर होता है। जो लोग इस नियम का भंग करते थे, उनके लिए बहुत बडे बडे प्रायश्चित्तों का विधान था; और अपने किये हुए पापों का स्वीकार मरण समय के लिए बतलाया गया था। परन्तु इस नियम का मुख्य और मूल आशय नैतिक ही था। इनका वास्तविक उद्देश्य यही था कि मनुष्य अपने मनमें सदा अच्छे विचार रखे, सदा अच्छी बातें कहे और सदा अच्छे कर्म करे। और वे सब बातें अच्छी मानी जाती थीं जिनसे भौतिक प्रकृति में भी और सामाजिक जीवन में भी बुराई पर विजय प्राप्त हो और सच्चे धर्म का सिर ऊँचा हो। तात्पर्य यह कि यह अधिकांश में और मुख्यत: नैतिक धर्म था।

जरतुश्ती धर्म मुख्यतः योद्धाओं की सी प्रवृत्तिवाला है और इसके अनुयायियों को बुराई के साथ, उसे दबाने के लिए, युद्ध करना पडता है। एक अच्छे संसार में एक अच्छे ईश्वर की जो इच्छा प्रकट होती है, उसी इच्छा को विजयी बनाने के लिए, उसे पूरा करने के लिए, मनुष्य को बहुत अधिक प्रयत्न करना पडता है; और इस प्रयत्न के द्वारा ही उसे अपने लिए मोक्ष प्राप्त करना पडता है। यही बात हम दूसरे शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि ईश्वर के साथ मिलकर मनुष्य सारे संसार के लिए मोक्ष का प्रयत्न करता है और इस प्रकार स्वयं भी मोक्ष प्राप्त करता है। इस धर्म में यह भी माना जाता है कि जो लोग संसार से विरक्त होकर उसका परित्याग कर देते हैं, वे मानों शत्रु के सामने से भाग जाते हैं। मनुष्य

का काम यह है कि वह संसार में बुराई को दबाकर उस पर विजय प्राप्त करे, न कि इस काम से निराश हो जाय। यह जरूर माना जाता है कि वर्तमान जगत में बहुत सी और बड़ी बड़ी बुराइयाँ हैं; पर इसके अनुयायियों के मन में इस बात का कुछ भी सन्देह नहीं होता कि अन्त में सत्य, साधुता और भलाई की ही पूरी पूरी विजय होगी।

आरम्भ से ही जरदुश्ती धर्म में इस बात का भी बहुत कुछ विचार किया जाता था कि मरने के उपरान्त क्या होता है। पैगम्बर जरदुश्त जब लोगों को अपने इस सुधार के काम में सम्मिलित करता था और लोगों को अपने धर्म में मिलाता था, तब उसका एक मुख्य उद्देश्य यह होता था कि लोगों को मरने के उपरान्त मोक्ष प्राप्त हो। परन्तु इसराईल के राष्ट्रीय धर्म में इसके बिलकुल विपरीत बात थी। इसराईल में पहले से ही लोगों के मन में यह बात बहुत अच्छी तरह बैठ चुकी थी कि मरने के उपरान्त लोगों को ईश्वर की ओर से उनके भले और बुरे कर्मों का पूरा पूरा फल अवश्य मिलता है। जब उस जाति ने अपने पूर्वजों के धर्म का परित्याग कर दिया और वे लोग विदेशी देवताओं की पूजा तथा उपासना करने लगे, तब उस जाति पर उनके ईश्वर का कोप हुआ, जिससे सारी जाति पर बहुत बड़ी विपत्ति आई। ई० पू० आठवीं शताब्दी से इधर वहाँ जितने पैगम्बर हुए, उन्होंने इस बात पर कुछ कम जोर नहीं दिया कि लोग अपने भाइयों के साथ ही अनेक प्रकार के अन्याय करते हैं। वे कहते थे कि जिन लोगों के हाथ में शक्ति होती है, वे दूसरों के साथ अन्याय करते हैं और नई आर्थिक परिस्थितियों के इस जमाने में अमीर लोग गरीबों को सताते हैं। साथ ही वे लोग उन दोषों और दुर्गुणों आदि की भी निन्दा करते थे जो कनआनवालों या दूसरे पड़ोसी राष्ट्रों के प्राकृतिक धर्मों में दिखाई देते थे। वे कहते थे कि ईश्वर स्वयं अपनी प्रतिष्ठा की तो रक्षा करता ही है, पर साथ ही जो लोग समाज में अनेक प्रकार के

अपराध या अनुचित कृत्य करते हैं अथवा व्यक्तिगत रूप से बुरे होते हैं, उनसे वह बदला भी चुकाता है। जो जाति इस प्रकार की बुराइयाँ करेगी अथवा दूसरी जातियों या लोगों को इस प्रकार की बुराइयाँ करते हुए देखकर चुपचाप बैठी रहेगी, उन्हें ईश्वर नष्ट कर डालेगा। उस समय पश्चिमी सीरिया के छोटे छोटे राज्यों के क्षितिज पर कुछ बड़े बड़े साम्राज्यों का उदय होने लगा था, जिनमें पहले असीरियावालों का और बेबिलोनियावालों का साम्राज्य था और ये साम्राज्य ही मानों ईश्वर की ओर से उन जातियों को दंड देने के लिए आ रहे थे। इसके बाद की घटनाओं ने अन्त में इस भविष्यद्वाणी को सत्य सिद्ध कर दिखलाया और इतिहास ने इस बात की साक्षी दे दी कि इबरानी लोग जिस जेहोवा (Jehovah सर्व-प्रधान देवता या ईश्वर) को मानते थे, उसकी धारणा और स्वरूप वास्तव में पूर्ण रूप से नैतिक था।

ई० पू० छठी शताब्दी के अन्त में बेबिलोनियावालों के द्वारा यहूदी राष्ट्रीयता का नाश हो जाने पर उस पुरानी अनिश्चित और अस्पष्ट धारणा का और भी अधिक विकास हुआ, जिसके अनुसार यह माना जाता था कि प्रत्येक मनुष्य को इसी जीवन में दैव की ओर से उसके अच्छे और बुरे कर्मों का फल मिल जाता है—जो लोग भले कृत्य करते हैं, वे खूब अच्छी तरह फलते-फूलते हैं और जो लोग बुरे कर्म करते हैं, वे या तो अनेक प्रकार के कष्ट भोगते हैं और या भरी जवानी में ही मर जाते हैं। पहले तो पैगम्बरने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया था कि अच्छे और बुरे कर्मों का फल सारे राष्ट्रको मिलता है; पर अब उसी सिद्धान्त ने विकसित होकर राष्ट्रीय प्रतिशोध के स्थान पर व्यक्तिगत परिशोध का रूप धारण कर लिया था। ईश्वर को लोग अब न्यायकारी ईश्वरके रूप में मानने लग गये थे और यह समझते थे कि जो जैसे और जितने कर्म करता है, उनको वह वैसे और उतने ही फल देता है। इस दिशा में इस सनातनी विचार का तर्क जितनी दूर तक पहुँचा था, उसका पता एक

उदाहरण से लग सकता है । जिस जॉब‡ ने अपने जीवन में अनेक असह्य

‡ जॉब की कथा बाइबिल में है। वह एक बहुत ही भाग्यवान्, निष्कलंक और सत्यनिष्ठ ईश्वरभक्त था। पर जब स्वर्ग में ईश्वर के या जेहोवा के दरबार में उसके इन गुणोंकी प्रशंसा होने लगी, तब शैतान ने ईश्वर को यह कहकर बहकाया कि यदि इसका वैभव और सुख छीन लिया जाय तो वह आप को ही गालियाँ देने लगेगा। अत: जॉब की ईश्वर-भक्ति की परीक्षा करने के लिए उसे अनेक प्रकार की भीषण विपत्तियों और संकटों में डाला गया। उसके परिवार के सब लोग मर गये और उसकी सारी सम्पत्ति नष्ट हो गई। उसे स्वयं भी एक बहुत ही विकट रोग हो गया जिससे उसका सारा शरीर गल गया और उसमें कीडे पड गये। परन्तु कहते हैं कि उस अवस्था में भी वह बराबर ईश्वर को धन्यवाद देता और उसका गुण-गान करता था। यहाँ तक कि जब कोई कीडा उसके शरीर से निकलकर बाहर गिर पडता था, तो वह उससे कहता था कि ईश्वर ने तो तेरा भोजन मेरे शरीर में उत्पन्न किया है। तू इसे छोडकर कहाँ जा रहा है? और उसे उठाकर फिर अपने शरीर में रख लेता था। इस पर उसके तीन मित्र उसे सान्त्वना देने और समझा-बुझाकर ईश्वर से विमुख करने के लिए आये; और इस प्रकार उन लोगों ने मानों उसकी ईश्वर-भक्ति की और भी विकट परीक्षा ली। परन्तु जॉब अन्त तक ईश्वरनिष्ठ बना रहा और बहुत ही धैर्य तथा सन्तोषपूर्वक सदा ईश्वर का गुण-गान ही करता रहा। इसी से जॉब का संतोष और सब्र बहुत अधिक प्रसिद्ध है। मुसलमानी पौराणिक कथाओं में यह जॉब अय्यूब के नाम से प्रसिद्ध है और इनके सब्र की कहानी लोकोक्ति सी बन गई है। फारसी के एक कवि ने एक स्थलपर कहा है- "सब्रे अय्यूब कुनम् गिरियए याकूब कुनम्"। अर्थात् (मैं अपनी प्रेमिका के लिए) अय्यूब की तरह सब्र या सन्तोष करता हूँ और याकूब की तरह रोता हूँ।—अनुवादक।

कष्ट भोगे थे, उसे सान्त्वना देनेवाले मित्र उससे जो कुछ कहते थे, वह हमारी दृष्टि में तो और भी अधिक कष्ट पहुंचानेवाली बातें थीं। वे कहते थे कि जो जितना बडा पाप करता है, वह उतने ही अधिक कष्ट भोगता है; और जो लोग यह सिद्धान्त नहीं मानते, वे मानों ईश्वर की न्यायशीलता में सन्देह करते हैं, और धर्म का मूल आधार यही है कि ईश्वर की न्यायशीलता में पूरा पूरा विश्वास रखा जाय। मनुष्यों को इस संसार में जो अनुभव होता है, वह इस सिद्धान्त के कारण और भी अधिक कटु तथा दु:खद हो जाता है। बाइबिल में जॉब सम्बन्धी जो प्रकरण है, उसके कर्त्ता ने, जहां तक हो सका है, इस सिद्धान्त का खंडन करने का प्रयत्न किया है; परन्तु उसके लिए कठिनता यह थी कि उसे कोई ऐसा ईश्वर-नैर्दोष्यवाद नहीं मिला जो वह उक्त सिद्धान्त के स्थान पर प्रतिपादन कर सकता। अधिक से अधिक उसने यही कहा है कि जिस प्रकार कोई यह नहीं जान सकता कि प्रकृति के क्षेत्र में ईश्वर जो काम करता है, वह क्यों और किस सिद्धान्तपर करता है, उसी प्रकार कोई यह भी नहीं जान सकता कि इस संसार में लोगों को सुख और दुःख क्यों और किस सिद्धान्त पर मिलते हैं। तात्पर्य यह कि ईश्वर की सब बातें अगम्य और अज्ञेय होती हैं। बाइबिल में जो धर्मोपदेश सम्बन्धी प्रकरण (Book of Ecclesiastes) है, उससे ईश्वर की नीतिमत्ता और न्यायशीलता आदि के सम्बन्ध में जो विचार प्रकट किये गये हैं, वे इससे भी बढकर सन्देहात्मक हैं। उस प्रकरण के कर्त्ता न तो इसी लोक में लोगों के सौभाग्य और दुर्भाग्य में कोई अन्तर दिखाई पडता है और न पर-लोक में होनेवाली सद्गति और दुर्गति में ही कोई भेद मालूम होता है। वह यही कहकर रह जाता है कि चाहे मनुष्य हो और चाहे पशु, चाहे भला हो और चाहे बुरा, मृत्युसे ही सब का समान रूपसे अन्त हो जाता है।

अब लोगों के सामने एक बहुत बडी दुबधा आ खडी हुई थी। दो ही बातें थी। या तो मनुष्य इस जीवन में होनेवाले प्रत्यक्ष अनुभवों की आँखें बन्द कर ले और समझ ले कि इस लोक में होनेवाले सुख और दुःख कुछ भी नहीं हैं अथवा यह मानना छोड दे कि ईश्वर न्यायशील है; क्योंकि साधारणतः इस संसार में बहुत से लोग अ-कारण ही सुखी और बहुत से लोग अ-कारण ही दुःखी देखे जाते हैं। परन्तु इस उभय संकट से बचने का एक बहुत अच्छा मार्ग लोगों को दिखलाई पड गया। उनके सामने यह सिद्धान्त उपस्थित किया जाने लगा कि चाहे दुष्ट लोग इस लोक में भले ही सुख भोग लें और सज्जन भले ही अनेक प्रकार के कष्ट उठा लें, परन्तु ईश्वर सब के कर्मों को देखता रहता है और मृत्यु के उपरान्त वह सब को उनके भले और बुरे कर्मों का शुभ और अशुभ फल देता है। इससे लोगों का जो सन्तोष होता था, वह तो होता ही था, पर साथ ही इससे एक और लाभ यह था कि इससे ईश्वरकी न्यायशीलता की भी रक्षा हो जाती थी। जान पडता है कि जॉबवाले प्रकरण के कर्त्ता को इस प्रकार के विचार या सिद्धान्त का कोई ज्ञान या परिचय नहीं था; धर्मोपदेशवाले प्रकरण के कर्त्ता ने इसका तिरस्कार या अस्वीकार कर दिया था; और साइरेक के पुत्र जीसस ने इसकी उपेक्षा की थी। परन्तु इसके बाद की शताब्दियों में और ईसवी सन् आरम्भ होने से पहले यहूदियों का दो ऐसी जातियों से सम्पर्क हुआ था जो यह मानती थीं कि मृत्यु के उपरान्त सब लोगों को उनके भले और बुरे कर्मों का फल ईश्वरकी ओर से मिलता है। उनमें से एक तो फारसवाले थे जो अपने जरतुश्ती सिद्धान्त के अनुसार यह मानते थे कि मृत्यु के उपरान्त तुरन्त ही ईश्वर सब व्यक्तियों का अलग अलग न्याय करता है और इस युग के अन्त तक सज्जन लोग अपने सत्कर्मों का फल सुखपूर्वक

भोगते हैं और दुर्जनों या दुष्टों को अनेक प्रकार के कष्ट भोगने पड़ते हैं। फिर जब कयामत के दिन सारे विश्व के लोगों का एक साथ न्याय होगा, तब सब मृतकों का फिरसे उद्धार होगा, वे जीवित हो जायँगे, नये सिर से पृथ्वी की रचना होगी और तब सज्जनों के लिए सत युग आवेगा और बुरे लोग अपने दुष्कर्मों के फल अनेक प्रकार की यातनाओं और कष्टों के रूप में भोगते रहेंगे। इसके अतिरिक्त दूसरी ओर यहूदियों का परिचय यूनानियों के उन प्रचलित विचारों से हो गया था, जिनके अनुसार यह माना जाता था, कि मृत्यु के उपरान्त आत्मा अमर हो जाती है और उस शरीर-रहित अवस्था में उसे अपने भले या बुरे कर्मों के फल भोगने पड़ते हैं।

जिस धर्म में ये विचार प्रचलित थे कि ईश्वर न्यायशील है और वह सब को न्यायपूर्वक उनके भले और बुरे कर्मों का फल देता है और जिसमें अब यह भी माना जाने लगा था कि ईश्वर सब लोगों का अलग अलग व्यक्तिगत रूप से न्याय करता है, उसमें जब यह माना जाने लगा था कि मनुष्य को उसके भले और बुरे कर्मों का फल मरने के उपरान्त दूसरे लोक में मिलता है—फिर यह विचार उसमें पहले पहल चाहे जब और जहाँ से आया हो—उस धर्म में अवश्य ही यह भी आवश्यक समझा गया होगा कि इस सिद्धान्त के साथ इसका वह आवश्यक और पूरक अंग भी सम्मिलित कर दिया जाय कि इस जीवन और इस लोक में भी लोगों को उनके भले और बुरे कर्मों का फल मिलता है। और यहूदियों ने यह विचार भी चाहे जिससे और जहाँ से ग्रहण किया हो, पर फिर भी यह विचार मुख्यतः यहूदी ही है। यूनानी भाषा-भाषी-यहूदियों में और विशेषतः उनमें के शिक्षित समुदायों में तो आत्मा की अमरतावाला यूनानी सिद्धान्त बहुत अधिक प्रचलित हो गया था; परंतु पैलेस्टाइन और जूडा में रहनेवाले उन्नतिशील यहूदियोंने वह विचार

ग्रहण कर लिया था जिसके अनुसार यह माना जाता था कि कयामत के दिन सब शरीरों का पुनरुद्धार होगा और उस समय सब लोगों का अन्तिम न्याय होगा; और उस न्याय के उपरान्त सत्यशील और सदाचारी पुरुषों के लिए एक नवीन संसार की सृष्टि होगी। परन्तु उक्त दोनों प्रकार के विचारोंवाले यहूदी यही मानते थे कि जो लोग उस सच्चे धर्म को और उसके साथ सम्बद्ध आचारत्मक एकेश्वरवाद को मानते रहेंगे, वे मृत्यु के उपरान्त होनेवाली यन्त्रणाओं से भी बच जायँगे और उस भावी सृष्टि में भी स्थान पा सकेंगे जिसमें सब लोगों पर ईश्वर का पूर्ण अनुग्रह होगा। तात्पर्य्य यह कि वे लोग यह मानते थे कि प्रत्येक मनुष्य को उस सच्चे धर्म तथा उससे सम्बद्ध एकेश्वरवाद के समस्त लिखित और अ-लिखित धार्मिक नियमों का पूरा पूरा पालन करना चाहिए—उसके कर्म-कांड सम्बन्धी समस्त कृत्यों और विधियों का भी आचरण करना चाहिए और उसके नैतिक अंग का भी पालन करना चाहिए। क्योंकि सच्चे धर्म का एक ही दैवी प्रत्यादेश था—और वह यह था कि मनुष्यों को ईश्वर के सम्बन्ध में किस प्रकार का विश्वास रखना चाहिए और मनुष्यों से ईश्वर किन कर्त्तव्यों के पालन की अपेक्षा रखता है।

यहूदी लोग यह बात भी बहुत अच्छी तरह जानते थे कि यदि इन शर्तों का पूरा पूरा ध्यान रखा जाय तो फिर किसी आदमी की रक्षा नहीं हो सकती, क्योंकि समस्त नियमों का न तो कोई पूरा पूरा पालन करता ही है और न कर ही सकता है। इन नियमों को बनाने से पहले और दुर्बल मनुष्यों की सृष्टि करने से पहले ही स्वयं ईश्वर भी यह बात अच्छी तरह जानता था कि सब लोगों से इन नियमों का पूरा पूरा पालन न हो सकेगा। इसी लिए उसने दया करके मनुष्यों के लिए एक बचत का रास्ता निकाल दिया; और वह रास्ता यह था कि जो लोग कोई पाप करें,

वे उसके दुष्परिणाम से बचने के लिए उसका पश्चात्ताप करें । पहले पैगम्बर ने तो यही सिद्धान्त प्रतिपादित किया था कि सारे राष्ट्र को अपने पापों के लिए पश्चात्ताप करना चाहिए; पर अब वह पश्चात्तापवाली कल्पना राष्ट्रपर से हटकर व्यक्ति गत हो गई थी—प्रत्येक व्यक्ति के लिए उसका अलग अलग विधान हो गया था । और पैगम्बरोंने जो पहले यह कहा था कि जो राष्ट्र अपने पापों को लिए पश्चात्ताप करेगा, उस पर फिर से ईश्वर का अनुग्रह हो जायगा; पर अब वही सिद्धान्त अलग अलग व्यक्तियों के लिए भी माना जाने लगा था । तात्पर्य यह कि यहूदी धर्म में मोक्ष के सम्बन्ध में मूल सिद्धान्त वही पश्चात्ताप सम्बन्धी है, और यह माना जाता है कि जो अपने पापों के पश्चात्ताप कर लेता है, वह मोक्ष का अधिकारी हो जाता है ।

इबरानी भाषा में पश्चात्ताप के लिए जो शब्द है, उसका ठीक ठीक शब्दार्थ है—घूमना या पीछे लौटना; और हिन्दी में उसका समानार्थक शब्द हो सकता है प्रत्यावर्त्तन । इसका अभिप्राय यही है कि मनुष्य किसी बुरे रास्ते से हटकर अच्छे रास्ते की तरफ, ईश्वर की तरफ, मुडता है और अपने मन में यह निश्चय कर लेता है कि अब आगे से मैं ईश्वर की इच्छा और आज्ञा के अनुसार ही सब काम करूँगा । पश्चात्ताप के परिणाम या परवर्त्ती आचरण से ही यह सिद्ध हो जाता है कि वह पश्चात्ताप शुद्ध हृदय से किया गया है या नहीं । जो मनुष्य एक बार अपने किसी के सम्बन्ध में सच्चे हृदय से पश्चात्ताप कर लेता है, वह फिर दोबारा वह पाप नहीं करता जिसके लिए वह पश्चात्ताप कर चुका होता है, फिर चाहे वह पाप करने के लिए उसे कितना ही अधिक प्रलोभन और कितना ही अच्छा अवसर क्यों न मिले ।

जितने प्रकार के बलिदानों और प्रायश्चित्तों आदि का विधान है, और जिनमें प्रमार्जन--दिवस (Day of Atonement) वाला बड़ा

प्रायश्चित्त भी सम्मिलित है, उनसे बिना इस प्रकार के पश्चात्ताप के न तो कभी छुटकारा ही हो सकता है और न ईश्वर वे सब पाप क्षमा ही कर सकता है और न उन के फल-भोग से ही हमें मुक्त कर सकता है। तात्पर्य यह कि प्रायश्चित्त सम्बन्धी समस्त कृत्यों के लिए सबसे पहली और आवश्यक बात यह है कि मनुष्य शुद्ध हृदय से अपने पापों के लिए पश्चात्ताप करे। मनुष्यों को पहले से ही इस बात के लिए सचेत कर दिया जाता है कि वे इस धोखे में न रहें कि हम जब जब चाहेंगे, तब तब पाप भी करते रहेंगे; और जब जब चाहेंगे, तब तब उसके लिए पश्चात्ताप करके ईश्वर से क्षमा प्राप्त कर लेंगे। यदि यही बात हो तब तो पश्चात्ताप कोई चीज ही न रही। यह तो उस ईश्वर को धोखा देने का वृथा प्रयत्न हुआ जो अन्तर्यामी है और सब मनुष्यों के हृदय की बात जानता है। पर हाँ, यदि कोई बडे से बडा पापी हो और वह शुद्ध हृदय से पश्चात्ताप करे तो उसे दृढ विश्वास दिलाया जाता है कि ईश्वर उसे सदा के लिए क्षमा कर देगा। पापों के कुछ परिणाम तो मनुष्य को इसी लोक में भोगने पडते हैं और कुछ मरने के उपरान्त दूसरे लोक में भोगने पडते हैं। अतः यह माना जाता था कि पश्चात्ताप से यह तो आवश्यक नहीं है कि मनुष्य सदा उसके इह–लौकिक परिणाम भी भोगने से बच जाता हो; परन्तु हाँ यह अवश्य माना जाता था कि पापों का जो फल भोग मृत्यु के समय बाकी रह जाता है, उससे मनुष्य की रक्षा हो जाती है और पर-लोक में उससे मनुष्य तत्सबन्धी दंडों से बच जाता है। और यह भी निश्चित हो गया है कि कयामत के दिन तक जो बीचवाली अवस्था रहेगी, उसमें मनुष्य सुख से रहेगा और अन्तिम न्याय के उपरान्त जो नई सृष्टि बनेगी, उसमें भी उसे स्थान मिलेगा।

जरतुश्ती धर्म में भी और यहूदी धर्म में भी मुख्य सिद्धान्त यही है कि मनुष्य उस एक सच्चे ईश्वर पर पूरा पूरा विश्वास रखे; और

अपने पैगम्बरों के द्वारा उसने जो जो बातें संसार पर प्रकट की हैं, उन्हें सत्य समझे और उनके अनुसार आचरण करे। पर इन दोनों बातों पर जितना ज्यादा और जितना साफ जोर इस्लाम में दिया गया है, उतना इन दोनों धर्मों में नहीं दिया गया है। इस्लाम धर्म में उसका मुख्य आधार कलमा ही है, जो इस प्रकार है-"ला इलाह इल्लिलाह। मुहम्मदउर्रसूलल्लिलाह"। अर्थात् उस एक अल्लाह या ईश्वर के सिवा और कोई ईश्वर या देवता नहीं है और उस ईश्वर या अल्लाह का रसूल या पैगम्बर मुहम्मद है। और इस्लाम में मोक्ष अनिवार्य रूप से इसी बात पर निर्भर करता है कि मनुष्य उक्त कलमे पर पूरा पूरा विश्वास रखे। इस प्रकार इस्लाम धर्म यह मानता है कि मुहम्मद साहब ईश्वर के रसूल या दूत थे और उन्हीं पर विश्वास रखने से मोक्ष प्राप्त हो सकता है; और तब इस्लाम इस बात का दावा करता है कि संसार में एक मात्र सच्चा धर्म मैं ही हूँ। यह यहूदी और ईसाई धर्म तथा उनके पैगम्बर मूसा और ईसा का स्पष्ट रूप से विरोध करता है और उनके मुकाबले में इस्लाम और मुहम्मद साहब की ही प्रधानता प्रतिपादित करता है। यह ठीक है कि मूसा और ईसा को भी अपने अपने समय में उसी एक और सच्चे ईश्वर की ओर से इलहाम हुए थे और उन्होंने भी संसार में उसी ईश्वर की आज्ञाओं और इच्छाओं का प्रचार किया था। परन्तु इस सम्बन्ध में इस्लाम का यह कहना है कि जिन लोगों के हाथों में ईश्वर की वे आज्ञाएँ सौंपी गई थीं, उन लोगों ने उन्हें बिगाड़ कर भ्रष्ट कर दिया था। इसके सिवा वे सब बातें बहुत पुरानी भी पड़ गई थीं; और इसी लिए वे नये और अन्तिम इलहाम या ईश्वरादेश मुख्य तथा मान्य हैं जो मुहम्मद को हुए थे।

ईश्वर के एक होने के सम्बन्ध में भी और उस एकता को मान्य करने के सम्बन्ध में ईश्वर को जो आग्रह था, उसके सम्बन्ध में भी

मुहम्मद साहब के जो विचार थे, वे यहूदी धर्म से लिये गये थे। यह विचार भी उसी धर्म से लिया गया था कि एक बहुत बड़ी कयामत आनेवाली है और उस कयामत के दिन ईश्वर समस्त बहुदेववादियों और मूर्तिपूजकों का न्याय करेगा और उन्हें उचित दंड देगा। उसी यहूदी धर्म से यह कल्पना भी ली गई थी कि कयामत के दिन सब मुरदे जी उठेंगे, जो लोग खुदा और पैगम्बर पर ईमान रखनेवाले होंगे, उन्हें बहिश्त में जगह मिलेगी और जो लोग काफिर होंगे और इन पर ईमान न रखते होंगे, वे दोजख में रखे जायँगे। स्वर्ग या बहिश्त के सम्बन्ध में मुहम्मद साहब का निजी विचार यह था कि उसमें बहुत से बढ़िया बढ़िया, हरे भरे मैदान हैं जिनमें पानी के बहुत से सोते और तालाब हैं, वहाँ सुगन्धित वायु बहती है और तरह तरह की मीठी महक आती है। तात्पर्य यह कि मक्के की नीरस और उत्तप्त तराई में रहनेवाला आदमी अधिक से अधिक जैसे स्थलों की कल्पना कर सकता है, उनमें से मुहम्मद साहब की तत्सम्बन्धी कल्पना सबसे अधिक पूर्ण स्थल की है। हाँ आग से भरे हुए दोजख के सम्बन्ध में उन्होंने जो कल्पना की है, वह अवश्य ही उतनी अधिक मौलिक नहीं है। मुहम्मद साहब ने यह भी कहा है कि सब लोगों के भले और बुरे काम एक किताब में लिखे जाते हैं जिसका नाम "ऐमाल नामा" कहा जाता है; और हर एक शख्स का ऐमालनामा कयामत के दिन खुदा के सामने पेश किया जायगा। इसके सिवा उन्होंने सरात नाम का एक पुल भी माना है जो तलवार की धार से भी ज्यादा पतला है। सत्कर्म करनेवाले तो उस पुल परसे बहुत सहज में पार हो जायँगे, पर दुष्कर्म करनेवाले उस परसे नीचेवाले गहरे गड्ढे में गिर पड़ेंगे। परन्तु ये दोनों ही कल्पनाएँ उन्होंने कदाचित् अरबी यहूदियों से ली हैं। परन्तु जैसा कि हम पहले बतला चुके हैं, ये कल्पनाएँ असल में जरतुश्ती धर्म की हैं। इस्लाम की विशेषता यही है कि उसमें खुदा और रसूल पर यकीन लाना बहुत जरूरी रखा गया है और कहा गया है

कि बिना इसके किसी का मोक्ष नहीं हो सकता। साथ ही यह भी कहा गया है कि जो सच्चे दिल से खुदा और रसूल पर ईमान लावेगा, वह कभी दोजख में न रह सकेगा—दोजख की आग खुद ही उसको उगल देगी। पर हाँ जितने काफिर हैं और जो खुदा व रसूल पर ईमान नहीं लावेंगे, उन्हें हमेशा के लिए दोजखकी आग में जलना पड़ेगा।

यहूदी धर्म पहले तो राष्ट्रीय धर्म था, परन्तु आगे चलकर दूसरे देशों में भी उसका प्रचार हो गया था; और इसका परिणाम यह हुआ कि उस धर्म को अपने मोक्ष का मार्ग उन सब लोगों के लिए भी खोल देना पड़ा जो आकर यहूदियों के साथ मिल जाते थे। परन्तु यहूदियों के साथ मिलने के लिए बाहरी लोगों को एक तो अपना खतना या सुन्नत करानी पड़ती थी और दूसरे बपतिस्मा लेना पड़ता था। इसके विपरीत इस्लाम का प्रचार आरम्भ में केवल व्यक्तियों को मोक्ष दिलाने के लिए हुआ था; परन्तु जब अरब के समस्त निवासियों ने इस्लाम धर्म ग्रहण कर लिया, तब वह भी उस प्रायद्वीपका राष्ट्रीय धर्म हो गया और फिर आगे चलकर वह अरबी साम्राज्य का राजकीय धर्म बन गया।

इन सब धर्मों का मूल सिद्धान्त तो एकेश्वरवाद ही था, पर आगे चलकर जब इनका विशेष प्रचार हुआ, तब उनमें कहीं तो प्रत्यक्ष रूप में और कहीं अप्रत्यक्ष रूप में उस बहुत देववाद और भूत-प्रेत की पूजा का भी प्रवेश हो गया जो उन दिनों संसार में प्रायः सभी जगह बहुत अधिक प्रचलित था। इन सभी धर्मों में ईश्वर की ओर से जो नियम या विधान प्राप्त हुआ था, वह ऐसा था जिसमें मानव जीवन की सभी बातें, समस्त धार्मिक विश्वास, पूजा या उपासना और कर्मों आदि का आचरण सम्मिलित था। यह माना जाता था कि जो लोग इस नियम

का उल्लंघन या उपेक्षा करेंगे, उन्हें ईश्वर की ओर से इस लोक में दंड मिलेगा। और जो लोग उस पर विश्वास रखेंगे तथा उसका पालन करेंगे, वे पुरस्कृत किये जायँगे। यह भी माना जाता था कि मरने के उपरान्त सज्जनों और दुर्जनों की आत्माएँ अलग अलग कर दी जाती हैं और अन्तिम या कयामत के दिन तक सज्जनों की आत्माएँ सुखद स्थान में और दुर्जनों की आत्माएँ कष्टपूर्ण स्थान में रखी जाती हैं। जब वह अन्तिम या कयामत का दिन आवेगा, तब ईश्वर समस्त मृतकों के शरीर फिर से बनावेगा और उन्हें उनकी आत्माओं के साथ संयुक्त कर देगा। उस समय वे अन्तिम न्याय के लिए ईश्वर के सामने उपस्थित किये जायँगे। आरम्भ में यही माना जाता था कि यही पृथ्वी नये सिर से बहुत बढ़िया बना दी जायगी; और जिन्हें ईश्वर की ओर से मोक्ष प्राप्त हो जायगा या नजात मिल जायगी उनकी आत्माएँ इसी में रहकर स्वर्गीय सुख या परमानन्द का भोग करेंगी; परन्तु उस पृथ्वी के सम्बन्ध में जो कल्पनाएँ की गई थीं, वे प्रायः अ-पार्थिव थीं; और यह माना जाने लगा था कि स्वर्ग में अदन का जो बाग है, उसी में सज्जनों की आत्माएँ निवास करेंगी। इनमें से किसी धर्म में कोई ऐसा उत्तम संसार नहीं माना गया है जो ऐतिहासिक उन्नति का परिणाम हो। अर्थात् कोई धर्म यह नहीं मानता कि यही संसार कुछ दिनों में अच्छा होता होता स्वर्ग के समान हो जायगा। बल्कि सब मानते हैं कि कोई बहुत बड़ा उत्पात या कयामत होगी और उस समय ईश्वर बीच में पड़कर सज्जनों के लिए एक स्व[illegible]य संसार की सृष्टि कर देगा। पर इन सभी धर्मों में सज्जन पुरुष [illegible]ात के लिए पूरा पूरा परिश्रम करते हैं कि सच्चे धर्म को सर्वश्रेष्ठ पद प्राप्त हो और जिस प्रकार हमारे ईश्वर ने बतलाया है, उस प्रकार सत्य को विजय प्राप्त हो। सभी धर्मों में यह माना जाता है कि मनुष्य को मोक्ष तभी प्राप्त हो सकता है, जब वह ईश्वर पर विश्वास रखे और अपने पैगम्बर के द्वारा

उसने इस संसार पर अपनी जो इच्छा प्रकट की है, उसी के अनुसार आचरण करे—पैगम्बरों को होनेवाले इलहाम के मुताबिक चले। ईश्वरीय नियम का भंग या उल्लंघन करना ही सब में पाप माना गया है, और सबसे बड़ा पाप यह माना जाता है कि मनुष्य ईश्वर पर विश्वास न रखे और उसका तिरस्कार करे–उसकी हस्ती से इन्कार करे।

ईसाई धर्म की भाँति इन सब धर्मों में प्रत्येक धर्म का भी यही कहना था कि एक मात्र और पूर्ण सत्य धर्म हमारा ही है और केवल हमारे ही बतलाये हुए मार्ग से लोगों को मोक्ष प्राप्त हो सकता है; और इसी लिए उनके अनुयायी यह भी मानते हैं कि अन्त में केवल हमारे ही धर्म का समस्त मानव जाति में और सारे संसार में प्रचार होगा और बाकी सब धर्म मिट जायँगे। और इसी लिए उनमें से प्रत्येक धर्म के अनुयायी का यह परम कर्तव्य है कि वह अपने धर्म को सर्वोच्च पद पर पहुँचाने और उसे दूसरे समस्त धर्मों पर विजयी बनाने का यथा-साध्य पूरा पूरा प्रयत्न करे; और धर्मों के अनुयायियों के इसी विश्वास के कारण उनका प्रचार कार्य एक विशिष्ट उद्देश्य से युक्त हो गया था और उसने एक विशेष स्वरूप धारण कर लिया था।

ऊपर हमने जिस प्रकार के धर्मों का विवेचन किया है, वे धर्म उन धर्मों से बिलकुल ही भिन्न प्रकार के हैं, जिन का आरम्भ या उत्पत्ति इस विश्वास के आधार पर हुई थी कि अमर जीवन केवल देवताओं को ही प्राप्त होता है; मनुष्य की प्रकृति तथा संघटन ही ऐसा है कि वह सदा नश्वर रहेगा और कभी अमर न हो सकेगा; उसे इस जीवन में अनेक प्रकार के कष्ट भोगने पड़ेंगे; फिर वह मर जायगा और मरने के उपरान्त उसे पृथ्वी के नीचे जाकर ऐसा अस्तित्व धारण करना पड़ेगा, जो अनेक प्रकार के कष्टों और विपत्तियों से पूर्ण होगा। तात्पर्य यह कि मरने के उपरान्त जिस रूप में उसका अस्तित्व रहेगा, वह इसी कष्टपूर्ण जीवन का स-ज्ञान

अवशिष्ट रूप होगा। जैसा कि इससे पहलेवाले प्रकरण में बतलाया जा चुका है, जान पड़ता है कि इस प्रकार की धारणा सबसे पहले थ्रेस में रहनेवाले फिरकों में प्रचलित थी और ई. स. छठी शताब्दी में इस धारणा ने डायोनिसस (Dionysus) और उसके प्रतिद्विन्दियों अथवा सहायकों के धर्म के साथ यूनान में प्रवेश किया था। इसी के साथ कुछ ऐसे अ-संस्कृत विचारों का भी प्रचार हुआ था। जिनमें यह बतलाया जाता था कि अपनी इस स्वाभाविक गति से मनुष्य किस प्रकार बच सकता है और किस प्रकार सुखपूर्ण अमर जीवन प्राप्त कर सकता है। कहा जाता था कि यदि यही बात ठीक हो कि देवताओं के सिवा और कोई अमर नहीं हो सकता तो फिर मनुष्य केवल उसी अवस्था में अमर हो सकता है जब कि वह स्वयं देवता बन जाय; और जब वह देवता बन जायगा, तब अवश्य ही अमर भी हो जायगा उन दिनों यूनानियों में डायोनिसस (Dionysus) जेग्रियस (Zagreus) सबेजियस (Sabazios) और आरफियस (Orpheus) के सम्बन्ध की अनेक ऐसी पौराणिक कथाएँ प्रचलित थीं जो खास और तौर पर जंगली ढंग की थीं। इन कथाओं से यही सूचित होता है कि इनमें प्रत्येक एक जंगली देवता होता था जो अपने बहुत से अनुयायियों के साथ जंगलों में और पहाड़ों पर पागलों की तरह इधर-उधर घूमा करता था। उस देवता को उसके शत्रु किसी न किसी प्रकार मार डालते थे और उसके टुकड़े टुकड़े करके इधर उधर फेंक देते थे और तब वह किसी उपाय से फिर जीवित हो जाता था। इन्हीं कथाओं के कारण लोग यह समझने लग गये थे कि जिन क्रियाओं और उपायों से इन देवताओंने फिर से जीवित होकर देव-पद प्राप्त किया था, यदि वही उपाय तथा क्रियाएँ हम भी करें तो हम भी देवता बन सकते हैं। इस लिए वे लोग कई प्रकार के विकट तान्त्रिक उत्सव करते थे और उन्हीं में धार्मिक आवेश के कारण उनकी कुछ और ही प्रकार की अवस्था हो जाती थी। उस समय यह माना जाता था कि देवता की

आत्माने आकर इनके शरीर में प्रवेश कर लिया है। उस समय उनकी निजी चेतना तो दब जाती थी और उनके स्थान पर देवता की चेतना आ जाती थी। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार साधारणतः लोगों पर भूत-प्रेत आते हैं उसी प्रकार उन पर देवता आते थे, और इस प्रकार वे देव-पद प्राप्त करके अमर बनने का प्रयत्न करते थे। इस प्रकार के कृत्य और भी अनेक जंगली धर्मों में प्रायः देखे जाते हैं और कई प्रकार के उद्देश्यों की सिद्धि के लिए उनमें बहुत कुछ परिवर्त्तन तथा परिवर्द्धन भी किया गया है। परन्तु जिन धर्मों का हम इस समय उल्लेख कर रहे हैं, उन धर्मों में यह माना जाता था कि इस प्रकार के कृत्यों के द्वारा ही मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर सकता है और मृत्यु के उपरान्त होनेवाले कष्टों और यन्त्रणाओं आदि से बच सकता है।

डायोनिसस अथवा आरफियन सम्बन्धी जो कृत्य होते थे, उनमें उद्देश्य सिद्धि के अनेक साधनों में से एक साधन यह भी था कि कोई ऐसा जीवित पशु ले लिया जाता था जो उस देवता के लिए पवित्र होता था; (और अधिक आरम्भिक काल की धारणा के अनुसार वह दैवी पशु हुआ करता था) उस पशु के शरीर के टुकड़े टुकड़े कर डाले जाते थे और तब उसका गरम गरम खून पीया जाता था और फड़कता हुआ मांस खाया जाता था, क्योंकि यह समझा जाता था कि देवता का जीवन इस पशु के खून और मांस में ही रहता है। और इस प्रकार यह समझा जाता था कि देवता सम्बन्धी वह कृत्य करनेवाला और उसके नाम के पवित्र पशु का खून पीने और मांस खानेवाला शारीरिक दृष्टि से उस देवता की प्रकृति का हिस्सेदार हो गया है। यह विचार भी ठीक उसी प्रकार का था, जिस प्रकार का उन जंगली वीरों का होता था जो अपने शत्रु को मारकर उसका कलेजा या जिगर यह समझ कर खा जाते थे कि इसके खाने से हममें उस शत्रु का साहस और बल आ जायगा। परन्तु ज्यों ज्यों यूनान में सभ्यता बढ़ती गई, त्यों त्यों इस प्रकार के उत्कट तान्त्रिक और नर-मांसाहार

से सम्बन्ध रखनेवाले कृत्य कम होते गये। परन्तु फिर भी लोगों में यह भाव बराबर बना ही रहा कि यदि हम अमर होना चाहते हों तो हमें कुछ समय के लिए इस बात का अनुभव करना चाहिए कि हम देवता हैं और देवता की ही तरह हमें जीवन यापन करना चाहिए और उसी की तरह कष्ट उठाने चाहिएँ।

आगे चलकर देवत्व का अंश प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक समझा जाता था कि मनुष्य की प्रकृति में जो दोष आ गया हो, वह दूर कर दिया जाय; और इसके लिए आरम्भिक कृत्य होते थे, उन में देवत्व-प्राप्ति की इच्छा रखनेवाले को मिट्टी या कीचड से अपना सारा शरीर मलकर जल से स्नान करना पडता था इस काम के लिए रक्त का उपयोग करना पडता था।

प्राचीन यूनान के एट्टिका नामक प्रदेश के एल्यूसिस (Eleusis) नामक नगर में जो डेमेटर (Demeter) नामक देव की पूजा का केंद्र था, कुछ विशेष प्रकार के कृत्य होते थे, जिन्हें हम गूढ कर्म*

* ये गूढ कर्म सब लोगों के सामने नहीं होते थे, बल्कि कुछ ऐसे खास खास लोगोंके सामने होते थे जो क्रम क्रम से इन कर्मों को देखने के पात्र तथा अधिकारी बनाये जाते थे और जिन्हें इस रहस्य को किसी पर प्रकट न करने की प्रतिज्ञा करनी पडती थी। ये गूढ कर्म कई प्रकार के होते थे और इनके सम्पादन के लिए गुप्त समितियाँ स्थापित थीं। इनमें पहले शारीरिक शुद्धि करके देवता को भेंट चढाई जाती थी और तब जलूस निकलते थे जिनके साथ नाच–गाना और अभिनय आदि होते थे और तब अन्त में समितियों के सदस्यों और कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के सामने गूढ कर्म होते थे। जो लोग इन गूढ कर्मों के दर्शक होते थे, उनके सम्बन्ध में यह माना जाता था कि वे अमर हो गये हैं। इस प्रकार के गूढ कर्म ईसवी चौथी शताब्दी तक यूनानी-रोमन संसार में बराबर हुआ करते थे। —अनुवादक।

(Mysteries) कह सकते हैं। होमर ने कृषि की देवी डेमेटर का जो स्तोत्र लिखा है, उसमें इस सम्बन्ध की प्राचीन पौराणिक कथा का वर्णन है। उससे पता चलता है कि डेमेटर की कोरे नाम की एक कुमारी लड़की थी जिसे पाताल देश का राजा प्लूटो उठाकर अपने राज्य में ले गया था। इससे डेमेटर बहुत अधिक दुःखी हुई। वह कृषि की देवी थी, इसलिए खेतों में अनाज के जो बीज बोये गये थे, उन्हें उसने अंकुरित होने से रोक दिया जिससे संसार में हा-हाकार मच गया। इस पर स्वर्ग के देवताओं ने दया-वश बीच में पड़कर इस झगड़े का निपटारा किया और यह निश्चय किया कि कोरे हर साल जाड़े के दिनों में तो पाताल में रहा करेगी और वसन्त ऋतु में जब फूल फूलने लगेंगे, तब वह ऊपर अर्थात् इस पृथ्वी पर आ जाया करेगी। अनेक देशों में जो वनस्पति सम्बन्धी बहुत सी पौराणिक कथाएँ प्रचलित हैं, उन्हीं के अन्तर्गत यह कथा भी आती है। ऐसी कथाओं में ऊपर से तो यही कहा जाता है कि किसी मनुष्य अथवा देवता पर क्या क्या बीती थी; परन्तु इनका मूल आशय यही होता है कि शीत काल में प्रकृति की मृत्यु हो जाती है और वसन्त ऋतु में वह फिर से जीवित हो जाती है; अथवा कहीं कहीं उनसे यह आशय निकलता है कि ग्रीष्म ऋतु के भीषण ताप में प्रकृति की मृत्यु हो जाती है और वर्षाऋतु आने पर उसमें फिर से प्राण आ जाते हैं। इस कथा में जो गूढ़ सांकेतिक उल्लेख आये हैं, उनसे यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि एल्यूसिस के विशाल मन्दिर में जो उत्सव होता था, उसमें इस पौराणिक कथा के कुछ दृश्यों का अभिनय उन लोगों के सामने होता था जो गूढ़ कर्म देखने के पात्र और अधिकारी होते थे, और जान पड़ता है कि आरम्भ में गूढ़ कर्म का यही मुख्य अंश था। पहले जिन उपकरणों से फसल पैदा करने के तान्त्रिक कृत्य किये जाते थे, वे अब गूढ़ कर्मों पर विश्वास रखनेवालों के लिए संकेत रूप से पूज्य हो गये थे। इस प्रकार

के कृत्यों के और सब रहस्य तो बहुत गुप्त रखे जाते थे, परन्तु इनका महत्व सभी लोगों को विदित रहता था। जो लोग यह गूढ़ कर्म देख लेते थे, उनके मन में यह दृढ़ विश्वास हो जाता था कि अब हमें परमानन्द-पूर्ण अमर जीवन प्राप्त हो जायगा। जो लोग इन गूढ़ कर्मों के देखने के अधिकारी तथा पात्र बनते थे, उन्हें कोई गुप्त मन्त्र या उपदेश आदि नहीं दिया जाता था; बल्कि जैसा कि अरस्तू (Aristotle) ने कहा है, उन लोगों की मानसिक वृत्ति ही कुछ इस प्रकार की बना दी जाती थी; बल्कि हम कह सकते हैं कि जिन लोगों को एक विशेष प्रकार की धार्मिक अनुभूति होने लगती थी, वे ही इन कर्मों को देखने के अधिकारी और पात्र समझे जाते थे। उस धार्मिक अनुभूति के कारण ही उन लोगों के मन में इस बात का दृढ़ विश्वास हो जाता था कि जिस प्रकार जमीन में बोया हुआ गेहूँ का दाना एक बार नष्ट हो चुकने पर भी फिर वही अपना पुराना रूप धारण कर लेता है, उसी प्रकार हम भी एक बार चाहे भले ही मर जायँ, परन्तु हम फिर से जीवित हो जायँगे और तब हमें सुख-पूर्ण अमर जीवन प्राप्त होगा।

डायोनिसस और आरफियस सम्बन्धी जो उत्कट तान्त्रिक कृत्य लोक में अधिक प्रचलित थे, उनकी अपेक्षा एल्यूसिस सम्बन्धी गूढ़ कर्म देश-काल को देखते हुए कुछ अधिक उपयुक्त थे और उन में भीषणता की मात्रा अपेक्षाकृत कम और सभ्यता तथा शिष्टता की मात्रा अधिक थी। यूनानी और रोमन जगत में जो सब से प्रमुख लोग थे, उन में से बहुतेरे एल्यूसिसवाले सम्प्रदाय में दीक्षित हो चुके थे; और यहाँ तक कि ईसवी चौथी शताब्दी तक भी बहुत से अच्छे अच्छे लोग इस सम्प्रदाय में दीक्षित होकर गूढ़ कर्मों को देखने के अधिकारी बनते थे।

हेलेनी (Hellenistic) या यूनानी और रोमन युग में और भी अनेक ऐसे धर्म प्रचलित थे, जिन का मुख्य आधार किसी ऐसे देवता की

पौराणिक कथा पर होता था, जो एक बार भीषण रूप से मारा जाता था और फिर किसी उपाय से जीवित हो जाता था। इन सब धर्मों में भी उसी प्रकार और उन्हीं क्रियाओं की सहायता से मोक्ष प्राप्त करने का विधान था, जिस प्रकार और जिन क्रियाओं से उनके देवता फिर से जीवन धारण करते थे; और यह समझा जाता था कि इस प्रकार की क्रियाएँ कर के मनुष्य अपने देवता के साथ एक रूप हो जाता है। इनमें से कई देवताओं के गूढ कर्म सब से अधिक महत्वपूर्ण थे। उदाहरण के लिए सब देवताओं की माता फ्रीजिया के प्रेम-पात्र एट्टिस का गूढ कर्म मिस्रवालों के आइसिस अथवा सेरापिस के गूढ कर्म, अथवा सीरिया-वालों का एडोनिस सम्बन्धी गूढ कर्म। इन में से एडोनिस की पौराणिक कथा एट्टिस की पौराणिक कथा से बहुत कुछ मिलती जुलती है।* इस प्रकार के गूढ कर्म और भी अधिक प्राचीन काल में बैबिलोनिया में इश्तर नामक देवी और तम्मुज नामक देवता के सम्बन्ध में भी हुआ करते थे। परन्तु जहाँ तक हमें पता चलता है, बैबिलोनियावाले इस प्रकार के गूढ कर्म शारीरिक मृत्यु से तान्त्रिक मुक्ति करने के लिए करते थे, दैवी अमरता प्राप्त करने के लिए नहीं करते थे। पारसी मिथ्रों में भी कुछ गूढ कर्म प्रचलित थे, परन्तु उन के सिद्धान्तों का हम केवल अनुमान ही कर सकते हैं; और जान पड़ता है कि वे कर्म कुछ और ही प्रकार के थे। परन्तु इस बात में कुछ भी सन्देह नहीं है कि उन दिनों इस प्रकार

---

* कहते हैं कि एट्टिस एक गडेरिया था जिस पर देवताओं की माता फ्रीजिया आसक्त हो गई थी। परन्तु एट्टिस किसी अप्सरा पर अनुरक्त था, इससे चिढकर फ्रीजिया ने एट्टिस को पागल कर दिया था। उसी पागलपनकी अवस्था में एट्टिस अपने सब अंग काटकर मर गया था और फ्रीजिया ने उसे फिर से जीवित कर के अपने वश में कर लिया था।—अनुवादक।

के गूढ कर्मों के द्वारा मोक्ष प्राप्त करने की प्रथा कई देशों में बहुत अधिक प्रचलित थी।

धर्म के दो विभाग होते थे। एक धर्म तो मनुष्य के इस पार्थिव जीवन से सम्बन्ध रखता था और दूसरा धर्म पार-लौकिक जीवन से सम्बन्ध रखता था। इस जीवन से सम्बन्ध रखनेवाले जो धर्म थे, उन के कृत्यों का आचरण और कर्तव्यों का पालन नगर अथवा राज्य की ओर से सार्वजनिक रूप से होता था; अथवा उनका आचरण तथा पालन लोग उस राजनीतिक-धार्मिक समाज के सदस्य की हैसियत से करते थे, जिसमें उन का जन्म होता था। परन्तु इस के विपरीत पारलौकिक जीवन से सम्बन्ध रखनेवाले धर्म का विषय ऐसा था जो हर एक आदमी के लिए अलग अलग विचारणीय होता था; और जिस का विश्वास मोक्ष प्राप्ति के जिस मार्ग पर होता था, उसी मार्ग का वह अवलम्बन करता था। किसी एक गूढ कर्म पर विश्वास रखनेवाले और उस में दीक्षित होनेवाले लोग आपस में मिलकर अपनी अपनी समिति या समाज बना लिया करते थे और तब दूसरे लोगों को भी अपने सम्प्रदाय में यह कहकर सम्मिलित करने का प्रयत्न करते थे कि हम इस प्रकार तुम्हें मोक्ष दिला देंगे। पर हाँ, उनकी गुप्त सभाओं में जो कृत्य आदि होते थे, उन्हें वे लोगों पर कभी प्रकट नहीं होने देते थे जो उनके सम्प्रदाय में सम्मिलित नहीं होते थे।

इस प्रकार के धर्मों की विशेषता यही है कि इनके अनुयायियों का यह दृढ विश्वास होता था कि हम अपने देवता के साथ एक-रूप होकर देव-पद प्राप्त कर लेंगे और सुखपूर्वक अमर होकर रहेंगे; और उन का देवता साधारणतः ऐसा होता था जो इस पृथ्वी पर एक बार स्वाभाविक रूप से नहीं, बल्कि किसी उग्र और विकट रूप से मर चुका होता था अथवा किसी के द्वारा निहत होता था और तब फिर किसी प्रकार अमर जीवन

प्राप्त करता था। यह एक-रूपता कभी तो धार्मिक आवेश में और कभी कुछ पवित्र कृत्यों के द्वारा प्राप्त की जाती थी और यह माना जाता था कि इस प्रकार मनुष्य इसी शरीर से अथवा सांकेतिक रूप से देवी प्रकृति का अंशी और भोक्ता हो जाता था। इस वर्ग के अधिकांश धर्मों में दोनों ही प्रणालियों का प्रयोग होता था। लोग गूढ़ कर्म में दीक्षित भी हो जाते थे और उसके कृत्यों में सम्मिलित होते थे और साथ ही उनके लिए कुछ विशेष प्रकार की धार्मिक अनुभूतियों की भी आवश्यकता होती थी। पहले तो यह माना जाता था कि इस प्रकार की धार्मिक अनुभूति होने से ही मोक्ष प्राप्त होता है; परन्तु आगे चलकर इस अनुभूति के साथ साथ गूढ़ कर्म के लिए दीक्षित होना भी आवश्यक हो गया था। परन्तु यूनानी लोग बहुत अधिक नीतिमान् भी होते थे, और इस लिए उन्हें यह बात ठीक नहीं जँचती थी कि लोग अपने चरित्र और आचरण पर तो कुछ भी ध्यान न दें और केवल इस प्रकार के कृत्यों से ही मोक्ष के अधिकारी बन जायँ। उन्हें यह बात बिलकुल भोंडी मालूम होती थी कि एक लुटेरा तो सिर्फ इसी लिए मरने पर मोक्ष और परमानन्द का अधिकारी हो जाय कि वह दीक्षित हो चुका था; और यदि कोई सद्गुणी तथा सदाचारी पुरुष हो तो वह सिर्फ इसी लिए मोक्ष तथा परमानन्द का अधिकारी न हो सके कि उसने दीक्षा नहीं ली थी। यद्यपि इस प्रकार लोगों का ध्यान आचार की महत्ता पर गया था और इस सम्बन्ध में उन्होंने बहुत से विचार भी जनता के सामने उपस्थित किये थे, परन्तु फिर भी उन्हें अपने प्रयत्न में सफलता नहीं मिल सकी थी और गूढ़ कर्मों के द्वारा प्राप्त होनेवाले मोक्ष के लिए वे नैतिक सदाचार और सद्गुणों को आवश्यक और अनिवार्य नहीं ठहरा सके थे। और इसका कारण यही था कि लोग यह नहीं चाहते थे कि मोक्ष-प्राप्ति के लिए नैतिक सदाचार और सद्गुणों आदि की कोई शर्त लगाई जाय, बल्कि वे यही चाहते थे कि जब हम गूढ़ कर्म के लिए दीक्षित हो जाएँ तब हमें बिना किसी और शर्त के मोक्ष प्राप्त हो जाय।

आठवाँ प्रकरण

मोक्ष—धर्म और दर्शन

भारतवर्ष में सनातन से मोक्ष के तीन मार्ग माने गये हैं, अर्थात् ये तीनों ही मार्ग वेद-विहित हैं और वे तीनों मार्ग इस प्रकार हैं—कर्म मार्ग, ज्ञान मार्ग और भक्ति मार्ग। इनमें से पहला अर्थात् कर्म मार्ग वही प्राचीन मत है कि शुभ कर्म करने से मनुष्य मरने के उपरान्त देवताओं के स्वर्ग में स्थायी रूप से निवास करने का अधिकारी हो जाता है, और इन शुभ कर्मों में से सबसे अधिक श्रेष्ठ कर्म यह है कि यज्ञ आदि करे और ब्राह्मण पुरोहितों को प्रचुर दान दे। परन्तु जब भारतवासियों में यह सिद्धान्त प्रचलित हो गया कि मनुष्य की आत्मा को बराबर एक शरीर छोड़कर दूसरा शरीर धारण करना पड़ता है और एक जन्म में वह जो कुछ करता है, उसी के अनुसार उसे दूसरा जन्म प्राप्त होता है, तब लोगों के मन से यह धारणा जाती रही कि यज्ञ और दान आदि करने से मनुष्य देवताओं के स्वर्ग में स्थायी रूप से निवास करने का अधिकारी होता है। अब यही सिद्धान्त माना जाने लगा कि मनुष्य को अपने किये हुए अच्छे और बुरे कामों का अवश्य ही पूरा पूरा फल भोगना पड़ता है और वह कर्म-फल के इस बंधन से किसी प्रकार मुक्त नहीं हो सकता। उस समय से भारत-वर्ष के समस्त धर्मों और समस्त दर्शनों के सामने यह समस्या नहीं रह गई कि मनुष्य किस प्रकार देवताओं के स्वर्ग में स्थान प्राप्त करे, बल्कि यह समस्या आ उपस्थित हुई कि पुनर्जन्म के इस अनन्त चक्र से मनुष्य किस प्रकार बच सकता है।

ज्ञान मार्ग ने लोगों को यह बतलाया कि मनुष्य हमारा अनुकरण करके पुनर्जन्म के अनन्त चक्र से बच सकता है; और उपनिषदों के समय से लेकर बराबर अद्वैतवादी और द्वैतवादी सभी प्रकार के दर्शनों का उद्देश्य केवल यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना ही रह गया, क्योंकि यही यथार्थ या सत्य ज्ञान मोक्ष माना जाता था।

इस नई समस्या के प्रभाव के कारण तपस्या का कुछ और ही महत्व हो गया और उसका मूल्य बहुत अधिक समझा जाने लगा। धर्म की आरम्भिक अवस्थाओं में ही लोग जान-बूझकर अनेक प्रकार के शारीरिक कष्ट सहते थे और तपस्या सम्बन्धी कृत्यों से अपना शरीर कृश करते थे; और इस प्रकार के कृत्यों के अनेक उद्देश्य हुआ करते थे। इस सम्बन्ध में एक धारणा, जो सबसे अधिक प्रचलित थी और बहुत दिनों तक प्रचलित रही, यह थी कि कष्ट-सहिष्णुता से मनुष्य की केवल प्राकृतिक या शारीरिक शक्ति ही नहीं बढती, बल्कि ऐसी शक्तियाँ भी बढती हैं जो साधारण मनुष्यों की पहुँच के बाहर होती हैं, और इस प्रकार की धारणाएँ उच्च कोटि के धर्मों में भी बराबर बची हुई दिखाई देती हैं। ऐसी धारणाएँ भारत में बहुत दिनों तक बनी रही हैं और इनके अनुसार बहुत से लोग आचरण करते थे।

जब लोग यह समझने लगे कि जन्म और मरण की अनन्त शृंखला में बँधे रहने से मनुष्य को बार बार जन्म धारण करके अनेक प्रकार के कष्ट सहने पडते हैं और जो लोग मोक्ष प्राप्त करना चाहते हों, उन्हें इस जन्म-मरणवाले बन्धन से मुक्त होना चाहिए, तब तपस्या का एक और ही उद्देश्य हो गया। लोग इस बात का प्रयत्न करते थे कि शरीर और उसकी वासनाओं, राग-द्वेष आदि भावों और यहाँ तक कि जीवन-निर्वाह की नितान्त आवश्यक बातों का भी दमन करना चाहिए और शरीर को सभी प्रकार से कष्ट देना चाहिए। लोग समझते थे कि इस प्रकार की

क्रियाओं से हम केवल अपने भौतिक शरीर के प्रति विराग और घृणा ही नहीं प्रकट करते, बल्कि इस "अनात्म" को उस अवस्था के समीप पहुँचा देते हैं जहाँ उसका अस्तित्व ही नहीं रह जाता; और इस प्रकार के उपायों के द्वारा तपस्या करनेवाला अपने मन में इस बात की पूरी पूरी अनुभूति या ज्ञान करना चाहता था कि--"यह शरीर मैं नहीं हूँ; यह शरीर मेरा नहीं है"। दार्शनिक जीवन के क्षेत्र में भी शरीर के साथ इस प्रकार का दुर्व्यवहार किया जाता था। यह समझा जाता था कि अपने सत्स्वरूप का ज्ञान होने से मनुष्य को मोक्ष प्राप्त हो सकता है; और इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त करने के लिए पहले यह आवश्यक है कि मनुष्य अनेक प्रकार के शारीरिक कष्ट सहे और तपस्यापूर्ण कृत्यों का आचरण करे।

जिन दिनों यह अवस्था चल रही थी, उन्हीं दिनों हमें भारतवर्ष के धर्म के इतिहास में बहुत ही विलक्षण बात दिखाई पड़ती है। उन्हीं दिनों कई ऐसे धर्मों का उदय और बहुत जल्दी जल्दी प्रचार होने लग गया था जो केवल वेदों और ब्राम्हण पौरोहित्य के साथ साथ उसके कर्म मार्ग का ही अस्वीकार नहीं करते थे, बल्कि साथ ही ज्ञान मार्ग और उपनिषदों तथा दूसरी दार्शनिक शाखाओं में बतलाये हुए मोक्ष सम्बन्धी अध्यात्म का भी अस्वीकार और तिरस्कार करते थे। वे न तो किसी देवता की पूजा या उपासना करते थे, न किसी को सर्वप्रधान ईश्वर ही मानते थे और न ब्रह्म या शाश्वत व्यक्तिगत जीवात्माओं को ही मानते थे। वे धर्म लोगों को यह बतलाते थे कि इस पुनर्जन्म के चक्र और उसके अनन्त कष्टों से बचने के लिए क्या करना चाहिए और किस प्रकार उसे बिना किसी देवता अथवा मनुष्य की सहायता के स्वयं ही अपना त्राता बनना चाहिए और स्वयं ही अपने लिए मोक्ष प्राप्त करना चाहिए।

जिस युग और जिस क्षेत्र में इन धर्मों का उदय हुआ था, उस युग

और उस क्षेत्र में लोग कठिन से कठिन तपस्याएँ, और ध्यान करके तथा योग के तत्कालीन दूसरे रूपों के द्वारा मोक्षवाली समस्या का निराकरण करना चाहते थे; और यह समझते थे कि इसप्रकार की क्रियाओं से मनुष्य इसी जीवन में मोक्ष प्राप्त कर लेता है-वह जीवन्मुक्त हो जाता है। कई ऐसे आचार्य भी थे जो यह कहते थे कि हमें मोक्ष-प्राप्ति का रहस्य मालूम हो गया है। ऐसे लोगों के पास बहुत से लोग वह रहस्य जानने के लिए आया करते थे और इस प्रकार उन आचार्यों ने कई सम्प्रदायों आदि की स्थापना की थी। इस प्रकार के लोगों का यह विश्वास था कि न तो ब्राह्मणों की धारणा के अनुसार उत्तम कर्मों से और न धार्मिक पांडित्य अथवा वैदिक ज्ञान से ही मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है, क्योंकि ये सब बातें मूल कारण तक पहुँचती ही नहीं। उनका मत था कि कर्म और उसके फल-भोग का विश्वव्यापी सिद्धान्त भले कर्मों पर भी और बुरे कर्मों पर भी समान रूप से प्रयुक्त होता है और मृत्यु के उपरान्त चाहे मनुष्य को भले कर्मों का फल भोगना पडे और चाहे बुरे कर्मों का फल भोगना पडे, परन्तु दोनों ही अवस्थाओं में वह जन्म और मरण के सदा घूमते रहनेवाले चक्र के साथ बंधा रहता है और उसका मोक्ष तभी होता है, जब उसे इस बात का ज्ञान हो जाता है कि अब मुझे जन्म नहीं धारण करना पडेगा।

उस युग में जो सम्प्रदाय यह कहते थे कि हम लोगों को मोक्ष का मार्ग बतला सकते हैं, उनमें जैन और बौद्ध ये दो सम्प्रदाय अथवा धर्म ऐसे थे जिन्होंने स्थायी महत्व प्राप्त कर लिया था। इनमें से जैन धर्म तो आज तक भारत में प्रचलित है, परन्तु भारत की सीमा के बाहर इनका कभी प्रचार नहीं हुआ। इसके विपरीत बौद्ध धर्म सबसे पहला बडा सार्व-राष्ट्रीय धर्म था और पूर्वी एशिया के सभी देशों में किसी न किसी रूप में इसका प्रचार हो गया था। इसके संस्थापक महात्मा बुद्ध का जन्म ई० पू० ५६० के लगभग और मृत्यु ई० पू० ४८० के लगभग हुई थी।

उन्होंने केवल मोक्ष प्राप्त करने के उद्देश्य से ही अपने घर-बार और स्त्री तथा नव-जात बालक का परित्याग कर दिया था और सात वर्ष तक पहले बहुत कठोर तपस्याएँ करके और तब बहुत ही पूज्य तथा माननीय योगियों के साथ रहकर मोक्ष का मार्ग जानने का प्रयत्न किया था, पर उन्हें वह मार्ग इन साधनों से किसी प्रकार न मिला। परन्तु एक दिन जब वे ध्यान लगाये हुए बैठे थे, तब उन्हें बोध हुआ कि मनुष्य के सब प्रकार के दुःखों का मूल कारण क्या है और उन दुःखों से किस प्रकार छुटकारा मिल सकता है, और तभी से वे लोगों को आर्य सत्यों का उपदेश करने लगे और यह बतलाने लगे कि मोक्ष या निर्वाण किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है।

महात्मा बुद्ध ने चार बड़े आर्य सत्यों में से पहला आर्य सत्य यह बतलाया था कि इस जीवन में सब जगह दुःख ही दुःख है और जन्मों की एक अनन्त शृंखला है, वर्तमान जन्म या जीवन जिसकी केवल एक कड़ी है। इस विषय में उन दिनों के सभी मुमुक्षु सहमत थे और सभी यह मानते थे कि जन्म और मरण के बन्धन से मुक्त होना ही मोक्ष-प्राप्ति के लिए सबसे अधिक आवश्यक है। महात्मा बुद्ध का बतलाया हुआ दूसरा आर्य सत्य दुःख समुदय है और इससे उनका अभिप्राय उस तृष्णा से था, जो मनुष्य के पुनर्भवका हेतु होती है; मनुष्य अपने मन में तृष्णा तो रखता है, परन्तु वह यह नहीं जानता कि तृष्णा, संकल्प कर्म और फल की एक शृंखला होती है और इसी लिए तृष्णा के कारण मनुष्य को अनेक प्रकार के दुःख भोगने पड़ते हैं। इस विषय में भी बुद्ध का सिद्धान्त वही था जो कम से कम उन के पूर्ववर्त्ती आचार्यों का था। तीसरा आर्य सत्य उन्होंने दुःख-निरोध बतलाया था और कहा था कि सब प्रकार की तृष्णाओं का अन्त कर देने से ही दुःखों का भी अन्त हो जाता है; और इस सम्बन्ध में उनका कहना था कि

मनुष्य को अपने जीवन या भव तक की तृष्णा का अन्त कर डालना चाहिए और उसे अपने मन में यह वासना ही नहीं रखनी चाहिए कि हम फिर से जन्म धारण करें। उनका चौथा आर्य सत्य निरोधगामिनी प्रतिपदा है और इसी को अष्टांगिक मार्ग कहते हैं। कहा गया है कि इस अष्टांगिक मार्ग का अनुकरण करने से मनुष्य अपनी तृष्णा का पूर्ण रूप से अन्त कर सकता है। इस मार्ग में मनुष्य को नैतिक और मानसिक संयम करना पडता है और चित्त को इस प्रकार एकाग्र करना पडता है जिससे ज्ञान विज्ञान प्रज्ञा और चेतना सब का दमन हो जाता है और उसे अनन्त शान्ति की अनुभूति होने लगती है। उन दिनों जो अनेक दूसरे सम्प्रदाय आदि प्रचलित थे, उन्हीं की भाँति बौद्ध भी इस अन्तिम उद्देश्य को निर्वाण कहते थे।

बौद्ध धर्म के इतिहास में "निर्वाण" शब्द के अनेक अर्थ थे, परन्तु हमें यहाँ उनकी विवाद-ग्रस्त व्याख्याओं का विवेचन करने की कोई आवश्यकता नहीं है। हमारा उद्देश्य इतने से ही सिद्ध हो जाता है कि उसका आशय यह है कि वह शृंखला ही टूट जाय जिसमें मनुष्य को अनन्त काल तक बार बार जन्म धारण करना पडता है और उसे परमानन्दवाली परमसुखपूर्ण स्थिति प्राप्त हो जाय। आत्मा के सम्बन्ध में महात्मा बुद्ध का कुछ विलक्षण भाव था परन्तु यहां हमें उसका भी विशेष रूप से विवेचन करने की कोई आवश्यकता नहीं जान पडती। हम केवल यही बतला देना चाहते हैं कि वे आत्मा का अस्तित्व नहीं मानते थे और कहते थे कि मृत्यु के उपरान्त एक शरीर को छोडकर दूसरे शरीर में जो कुछ जाता है, वह आत्मा नहीं है, बल्कि मनुष्य का कर्म है और इस विषय में उन्होंने दीपक का दृष्टान्त दिया था और कहा था कि जिस प्रकार एक दीपक से दूसरा दीपक जलाया जाता है, उसी प्रकार एक शरीर से दूसरा शरीर होता है। जिस प्रकार नये जलाये जानेवाले दीपक में

न तो पहलेवाले दीपक का तेल ही होता है और न उसकी दीप-शिखा ही होती है और न वह पहलेवाला दीपक होता है, उसी प्रकार नये शरीर में भी पुराने शरीर की कोई बात नहीं होती; और यदि कोई बात होती है, तो वह केवल पहले शरीर के कर्म हैं।

तृष्णा का नाश और निर्वाण की प्राप्ति करने के लिए महात्मा बुद्ध ने जो मार्ग बतलाया था, उसकी साधना के लिए उन्होंने अपने समय के दूसरे धार्मिक आचरण की भाँति एक भिक्षु संघ की स्थापना की थी। उनका मत था कि एक अन्त या चरम सीमा तो विषय–वासना में सुख के लिए अनुयोग करना है; और दूसरा अन्त शरीर को क्लेश देकर दुःख उठाना है; और ये दोनों ही अन्त अनार्य तथा अनर्थ पूर्ण हैं। भिक्षु या परिव्राजक को इन दोनों अन्तों का परित्याग करके मध्यम मार्ग ग्रहण करना चाहिए, जिसका नाम उन्होंने मध्यमा प्रतिपदा रखा था। उनका मत था कि न तो शरीर को बहुत अधिक कष्ट ही देना चाहिए और न बहुत अधिक सुखी तथा परिपुष्ट ही करना चाहिए, क्योंकि ये दोनों अन्त या चरम सीमाएँ उस मानसिक तथा नैतिक संयम के मार्ग में बाधक होती हैं जिसका अनुकरण करके मनुष्य अपना मनोरथ सिद्ध कर सकता है और निर्वाण प्राप्त कर सकता है। उनका यह भी मत था कि जब तक मनुष्य गृहस्थ आश्रम में रहता है और पारिवारिक तथा सामाजिक बन्धनों में बँधा रहता है, वह इस मध्यमा प्रतिपदा का सेवन नहीं कर सकता–तब तक उससे वह संयम नहीं हो सकता जो निर्वाण–प्राप्ति के लिए आवश्यक है। जो इन सब बन्धनों को तोडकर उनसे अलग हो जाता है और पूर्ण रूप से मोक्ष या निर्वाण की साधना में लग जाता है, वही उसकी सिद्धि या प्राप्ति कर सकता है। इस मार्ग में प्रवेश करने से पहले मनुष्य के लिए यह आवश्यक होता था कि रत्न–त्रय की शरण लेकर कहे–"मैं बुद्ध की शरण में आता हूँ, मैं धर्म की शरण में आता हूँ, मैं संघ की शरण में आता

हूँ।" (बुद्धं शरणं गच्छामि, धर्मं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि।)

बौद्ध धर्म की आरम्भिक अवस्था में इस प्रकार निर्वाण के सम्बन्ध में यह विधान था कि प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए स्वयं उसकी प्राप्ति करे। बुद्ध ने निर्वाण-प्राप्ति का मार्ग ढूँढ निकाला था और उस मार्ग का सब लोगों को उपदेश किया था। उनके शिष्य उनके उपदेशों का यथा-तथ्य प्रचार करते थे और आपस में एक दूसरे को उन उपदेशों के अनुसार आचरण करने का परामर्श देते थे और एक दूसरे से उसके लिए आग्रह करते थे। जो लोग इस मार्ग में सब से अधिक उन्नति करते थे, वे उन लोगों के लिए आदर्श स्वरूप होते थे जो इस मार्ग में कम उन्नति करते थे। उन्होंने एक यह नियम भी रखा था कि प्रति पन्द्रहवें दिन सब परि-व्राजक मिलकर एक स्थान पर एकत्र हों और सबके सामने इस बीच में किये हुए पापों का स्वीकार करें और भविष्य में उनसे बचने की और उनका सुधार करने की प्रतिज्ञा करें। इसे पाप-देशना कहते थे। परन्तु इससे अधिक किसी की कोई और कुछ भी सहायता नहीं कर सकता था यहाँ तक कि स्वयं बुद्ध भी किसी को और कोई सहायता नहीं दे सकते थे। और न बौद्ध धर्म में कोई ऐसा देवता ही माना जाता था जो मुक्ति के मार्ग में मनुष्य को किसी प्रकार असर कर सकता; फिर मुक्ति या निर्वाण प्रदान करना तो बहुत दूर की बात है।

यह ठीक है कि महात्मा बुद्ध के अनुयायी यह मानते थे कि बुद्धदेव ने ही आर्य सत्य ढूँढ निकाला है और उन्होंने सब को उसका उपदेश दिया है, और इस दृष्टि से वे लोग बुद्धदेव पर बहुत अधिक श्रद्धा और भक्ति रखते थे; परन्तु बौद्ध धर्म के आरम्भिक काल के सम्बन्ध में हम यही कह सकते हैं कि उन दिनों यदि लोगों के सामने श्रद्धा और भक्ति का कोई विषय था तो वह सत्य अथवा धर्म ही था और महात्मा बुद्ध की भक्ति या उपासना कोई नहीं करता था। परन्तु इसके कुछ ही दिनों बाद

कुछ लोग यह समझने लगे थे कि महात्मा बुद्ध एक अलौकिक पुरुष थे और वे तुषित नामक स्वर्ग से उतरकर इस लोक में लोगों को निर्वाण का मार्ग दिखलाने के लिए आये थे। परन्तु उन दिनों भी लोग महात्मा बुद्ध को एक आचार्य और उपदेशक के रूप में ही मानकर उनके प्रति श्रद्धा और भक्ति रखते थे और उन्हें मानव जाति का त्राता या उद्धारकर्त्ता नहीं मानते थे। इसके अतिरिक्त आरम्भिक काल में ही कुछ लोगों का यह भी मत हो गया था कि इस लोक में जब महात्मा बुद्ध आये थे, तब वे उन सब बन्धनों आदि से मुक्त थे जिन बन्धनों से साधारण मनुष्य बँधे रहते हैं, और कुछ लोग यह कहने लग गये थे कि महात्मा बुद्ध ने केवल विनय या नम्रता के वश होकर मनुष्यों का सा रूप धारण कर लिया था; परन्तु फिर महात्मा बुद्ध के प्रति उनका वही पहलेवाला आचार्य और उपदेशक का ही भाव बना रहा और उसमें कोई विशेष महत्वपूर्ण परिवर्त्तन नहीं हुआ। यह ठीक ही है कि बौद्ध धर्म में महात्मा बुद्ध और बहुत से अर्हत बहुत पूज्य और आदरणीय समझे जाते थे, परन्तु उनकी पूजा और उपासना के द्वारा लोग कभी यह आशा नहीं रखते थे कि इससे हमें इहलौकिक सुख प्राप्त होंगे अथवा परलोक में हमें निर्वाण की प्राप्ति होगी। मन में इहलौकिक सुखों की कामना या वासना रखना मानों निर्वाण के मार्ग से च्युत होना था; और फिर निर्वाण कोई एसा पदार्थ भी नहीं था जो कोई देवता या मनुष्य किसी को प्रदान कर सकता। परन्तु ज्यों ज्यों बौद्ध धर्म का प्रचार होता गया त्यों त्यों उन दूसरे धर्मों की भाँति, जिनका प्रचार उसी प्रकार की परिस्थितियों में हुआ था, बहुत से ऐसे लोग भी सम्मिलित होने लगे जो अपने साथ अपने यहाँ के पुराने देवताओं को लेते आते थे और बौद्ध धर्म ने देवताओं का यह कहकर ग्रहण या स्वीकार कर लिया था कि ये देवता भी धर्म के रक्षक ही हैं; और इसी रूप में उनकी धार्मिक उपासना भी होने लगी थी।

महात्मा बुद्ध अध्यात्म सम्बन्धी कोरी कल्पनाओं को बिलकुल व्यर्थ और निरर्थक समझते थे, परन्तु उनके अनुयायी इस सिद्धान्त का स्थायी रूपसे पालन नहीं कर सके। इसका कारण यह था कि उन्हें प्रायः दार्शनिक विचारोंवाले विरोधियों से वाद-विवाद करना पड़ता था और प्रायः स्वयं उनके मन में भी अनेक प्रकार के प्रश्न उत्पन्न होते थे; और इसी लिए कुछ दिनों के बाद उनमें भी वास्तविकता और अ-वास्तविकता दोनों से ही सम्बन्ध रखनेवाले ऐसे आध्यात्मिक मत और सिद्धान्त आदि निकलने लगे जो अपने विषय और तर्क की सूक्ष्मता में स्वयं वेदान्तियों का भी मुकाबला करने लगे। इन आध्यात्मिक सिद्धान्तों के प्रभाव के कारण स्वयं महात्मा बुद्ध की प्रकृति और स्वरूप से सम्बन्ध रखनेवाली धारणा में भी कुछ उसी प्रकार का परिवर्त्तन हो गया, जिस प्रकार का परिवर्त्तन ईसाई मत के स्वरूप में नियो-प्लेटोनिक * (Neoplatonic) विचारशीलों

* नियोप्लैटोनिस्ट एक विशेष मत रखनेवाले दार्शनिक थे जो असकन्दरिया (Alexandria) में तीसरी से पांचवीं शताब्दी तक हुए थे। इस शाखा के दार्शनिकों ने प्लेटो के सिद्धान्तों के आधार पर एक नये दर्शन की रचना का प्रयत्न किया था। इन लोगों का उद्देश्य यह था कि आध्यात्मिक बातों के सम्बन्ध में प्लेटो और अरिस्टोटल ने जो अलग अलग कल्पनाएँ की हैं, उनमें तो सामंजस्य स्थापित हो ही जाय, पर साथ ही यूनानी तथा दूसरे पौर्वात्य विचारशीलों के मत के साथ भी उनका किसी प्रकार का विरोध न रह जाय। ये लोग समस्त दर्शन प्रणालियों तथा समस्त धर्मों को सम्मिलित करके उनके आधार पर एक नवीन और विशाल दर्शन प्रणाली स्थापित करना चाहते थे। और सब दर्शनों तथा मतों के साथ तो इनका समझौता हो गया और इन्होंने किसी प्रकार सामंजस्य स्थापित कर लिया था, परन्तु ईसाई धर्म के साथ इनका इसलिए समझौता नहीं हो सकता था कि उसके अनुयायी कहते थे कि संसार में ईसाई धर्म ही एक मात्र सच्चा धर्म है। इसी लिए इन दार्शनिकों और ईसाई धर्म मे एक भीषण संघर्ष आरम्भ हो गया था और अन्त में इन लोगों के कारण ईसाई धर्म की अनेक बातों और सिद्धान्तों में बहुत बड़ा परिवर्त्तन हो गया था।—अनुवादक।

के कारण हुआ था।

पहले तो बौद्धों का ध्येय यही रहता था कि हम अर्हत पद प्राप्त कर के निर्वाण के अधिकारी हो जायँ, परन्तु आगे चलकर उनका ध्येय बुद्धत्व प्राप्त करना हो गया और वे चाहते थे कि हमें भी बुद्ध की भाँति बोधि-ज्ञान प्राप्त हो जाय और हम भी उन्हीं की भाँति जीव मात्र को निर्वाण प्राप्त कराने का प्रयत्न करें। परन्तु यह बुद्धत्व भी लोगों को केवल अपने ही प्रयत्न से प्राप्त हो सकता था। तात्पर्य यह उसी प्रकार का मोक्ष या निर्वाण था जो मनुष्य केवल अपनी ही शक्ति से प्राप्त कर सकता था।

परन्तु यह बात स्पष्ट ही है कि इस प्रकार का मोक्ष या निर्वाण प्राप्त करना सब लोगों का काम नहीं था। आरम्भिक काल का बौद्ध धर्म यही कहता था कि जो गृहस्थ और साधारण लोग इस धर्म की सीधी-सादी आज्ञाओं का पालन करेंगे और भिक्षुओं को दान देंगे, वे अगली बार में ऐसे संस्कारों से युक्त होकर जन्म लेंगे कि फिर वे भी प्रव्रज्या ग्रहण कर लेंगे और इस प्रकार मोक्ष के मार्ग पर लग जायँगे; और ऐसी परिस्थितियों में उत्पन्न होंगे कि इस उद्देश्य की सिद्धि कर सकेंगे। इस विषय में जो बात बौद्ध धर्म की थी, वही बात उन दिनों के और भी दूसरे सनातनी अथवा आस्तिक और विद्रोही अथवा नास्तिक धर्मों के सम्बन्ध में भी थी। जो लोग सांसारिक बन्धनों का परित्याग करके संन्यासी और विरक्त नहीं हो सकते थे, जो परम उत्कृष्ट और अलौकिक ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते थे जो अपनी वासनाओं का अन्त नहीं कर सकते थे और जो स्वयं ही मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकते थे, उन्हें उक्त धर्मों से भी किसी प्रकार की सहायता नहीं मिल सकती थी।

ऐसी अवस्था में पाठकों को यह समझने में कुछ विशेष कठिनता न होगी जो धर्म कार्य रूपमें परिणत हो सकने वाले और सहज उपायों से लोगों को मोक्ष दिलाने की प्रतिज्ञा करते थे, वे जन-साधारण के लिए

क्यों विशेष रूप से आकर्षक होते थे; और ये सब धर्म ऐसे ही हैं जिनका लोगों ने एक वर्ग बना कर "हिन्दू धर्म" नाम रख दिया है। ये सब धर्म प्राकृतिक धर्मों के रूप में तो बहुत प्राचीन काल से चले आते थे, परन्तु जिस समय से हमें उनका ज्ञान होता है, उस समय उनका वह पुराना प्राकृतिक धर्मवाला रूप बदल चुका था और वे धर्म इहलौकिक जीवन की बातों के सम्बन्ध में भी माने जाते थे और पर-लोक में मोक्ष दिलानेवाले भी बन गये थे। इनमें से केवल दो धर्म ही अन्त तक बाकी बचे रह गये; बल्कि सच पूछिये तो उन दोनों धर्मों ने बाकी सब धर्मों को अपने अन्तर्गत कर लिया; और अब भारत के लाखों करोड़ों निवासियों का विश्वास तथा आशा विभक्त होकर इन्हीं दोनों धर्मों पर आश्रित हो गई है। इनमें से एक धर्म के प्रधान देवता विष्णु और दूसरे धर्म के प्रधान देवता शिव हैं और ये दोनों वैष्णव तथा शैव धर्म कहलाते हैं। प्राकृतिक धर्मों के रूप में इन दोनों धर्मों का भारत के भिन्न भिन्न भागों में प्रचार हुआ था और आज तक ये दोनों धर्म भारतीय प्रायद्वीप में अ-समान रूप से प्रचलित हैं। इन धर्मों पर इनके प्राकृतिक मूल की ऐसी गहरी छाप है जो किसी प्रकार मिटाये मिट ही नहीं सकती और बहुत सी बातों में ये दोनों धर्म एक दूसरे से बहुत कुछ विपरीत पड़ते हैं। इनमें से प्रत्येक धर्म में और भी बहुत सी नई नई शाखाएँ तथा नये नये सम्प्रदाय निकल आये हैं और इसी लिए इनके पारस्परिक अन्तर भी पहले की अपेक्षा बहुत कुछ बढ़ गये हैं। परन्तु इन धर्मों के जिस स्वरूप का हम यहाँ विवेचन करना चाहते हैं, उस स्वरूप की दृष्टि से इन दोनों धर्मों में बहुत कुछ समानता है। इन दोनों ही धर्मों में लोग अपने अपने त्राता देवता की भक्ति करके मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं। हम ऊपर बतला चुके हैं कि भारत में मोक्ष के कर्म, ज्ञान और भक्ति ये तीन मार्ग माने जाते हैं और वैष्णव तथा शैव धर्म तीसरे प्रकार के अर्थात् भक्ति मार्ग के धर्म हैं।

इन दोनों धर्मों की विशेषता यहां है कि ये भक्ति को ही मोक्ष का मुख्य द्वार या साधन मानते हैं। इस प्रकार के दूसरे धर्मों की भाँति इन धर्मों में भी भक्ति के कई दरजे हैं। कहीं देवता पर साधारण विश्वास रखा जाता है, कहीं उन पर पूर्ण रूप से निर्भर किया जाता है और कहीं उनसे सख्य भाव स्थापित किया जाता है; और आगे चलकर इसी भक्ति के द्वारा मनुष्य उन्नत होकर अपने देवता के साथ एक-रूप भी हो सकता है। भावुकतावाला तत्व विशेष रूप से वैष्णव धर्म पाया जाता है। इस धर्म के प्रधान देवता विष्णु के सम्बन्ध में लोगों का यह विश्वास है कि प्रत्येक युग में जब जब कोई बहुत बडी आवश्यकता उत्पन्न होती है, अर्थात् जब जब लोक पर कोई बहुत भारी संकट आता है, तब तब ये मनुष्य का अवतार धारण करके इस पृथ्वी पर आते हैं; और विष्णु के इन्हीं अवतारों और विशेषतः कृष्णावतार तथा रामावतार पर ही वैष्णवों की विशेष रूपसे भक्ति और प्रेम होता है। यह माना जाता है कि ईश्वर में अपने भक्तों पर जो दया होती है और उसके मन में उन लोगों की रक्षा करने की जो इच्छा है, उसी के वशीभूत होकर वह ये सब अवतार धारण करता है। और जो लोग उस ईश्वरपर पूरा पूरा भरोसा रखते हैं और उसके प्रति अपनी भक्ति दिखलाते हैं, उन्हें वह जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त कर देता है और अपने पास स्वर्ग में, जहाँ सब प्रकार के और अनन्त सुख हैं, बुला लेता है।

बौद्ध धर्म के जो सम्प्रदाय पवित्र भूमिवाले सम्प्रदाय कहे जाते हैं, उनमें भी ठीक इसी प्रकार का विकास हुआ था। इस मत के एक आरम्भिक जापानी प्रवर्त्तक ने इस सम्बन्ध में कहा है। "प्राचीन काल में जब कि मनुष्य आज-कल की अपेक्षा बलवान् तथा अधिक अच्छे होते थे, तब वे लोग पवित्र मार्ग पर चलकर स्वयं अपनी शक्ति से ही निर्वाण प्राप्त कर सकते थे। परन्तु आज-कल के गिरे हुए दिनों में यदि

कुछ लोग ऐसे निकल भी आवें जो अपनी ही शक्ति के भरोसे निर्वाण प्राप्त कर सकते हों, तो भी उनकी संख्या बहुत ही कम होगी। अब यदि हम यह चाहते हों कि सारी मनुष्य जाति बिलकुल लाचारी की हालत में रहे और मोक्ष से सदा के लिए इस प्रकार वंचित हो जाय कि किसी प्रकार उसका उद्धार ही न हो सके, तब तो बात दूसरी है; और नहीं तो कोई ऐसा उपाय होना चाहिए जिसमें लोग दूसरों की शक्ति और सहायता से भी मोक्ष प्राप्त कर सकें।" इस प्रकार का निर्वाण अमिताभ बुद्ध के द्वारा प्राप्त हो सकता है, जिन्होंने अनेक युग पहले इस बात की प्रतिज्ञा की थी कि जब तक भक्तिपूर्वक मेरा नाम लेनेवाले सब लोग निर्वाण प्राप्त न कर लेंगे, तब तक मैं स्वयं भी कभी निर्वाण न प्राप्त करूंगा। जो लोग अमिताभ की इस प्रतिज्ञा पर विश्वास रखते हैं और भक्तिपूर्वक अमिताभ के नाम का जप करते हैं उन्हें अमिताभ अपने पास उस पश्चिमी स्वर्ग में बुला लेते हैं, जहाँ अनन्त प्रकाश का राज्य है और जहाँ वे ज्ञान तथा आचार क्षेत्र में उन्नति करते करते अन्त में पूर्णता प्राप्त कर लेते हैं। तात्पर्य यह कि यहाँ आकर जब यह अवस्था प्राप्त होती है कि लोग स्वयं अपने बल पर निर्वाण प्राप्त करने से निराश हो जाते हैं, तब धर्म फिर वही धारण कर लेता है जिसमें लोगों को केवल ईश्वर के अनुग्रह का ही आसरा रह जाता है और केवल विश्वास या भक्ति को ही लोग मोक्ष या निर्वाण का साधन मानने लग जाते हैं। और यहाँ हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि यद्यपि अमिताभ कोई देवता नहीं माने जाते, परन्तु फिर भी देवताओं के सभी गुण उनमें माने जाते हैं। जिस समय जेसुइट पादरी लोग पहले-पहल जापान पँहुचे थे और उन्होंने जापानी बौद्ध धर्म का वह रूप देखा था जो शिंगोन (Shingon) कहलाता था और जिसमें बुद्ध की मूर्त्तियों की खूब ठाठ-बाट से पूजा होती थी, तब उन्होंने सोचा था कि यहाँ तो हमारी पूजा प्रणालियों का राक्षसी और हास्यास्पद अनुकरण

हो रहा है। उस समय उन्होंने यह भी समझा था कि यहाँ भी शैतान ने हमारे साथ एक दूसरी शैतानी की है, क्योंकि उधर युरोप में मार्टिन ल्यूथर ने जो इस सिद्धान्त का प्रचार किया था कि ईसा पर श्रद्धा और विश्वास मात्र रखनेसे ही लोग मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं, उसे ये जसुइट लोग अधर्म समझते थे; और जापान पहुँचने पर वहाँ भी उन्हें उसी प्रकार का अधर्म अपने सामने दिखाई पड़ा था।

जब से संसार में दर्शन शास्त्र का आरम्भ हुआ है, तभी से यह शास्त्र उस समस्याओं पर विचार करने लगा है जिन से धर्म का सम्बन्ध था। साधारणतः हम कह सकते हैं कि संसार उसकी उत्पत्ति और उसके कार्यों के सम्बन्ध में धार्मिक क्षेत्र में जो बहुत सी पौराणिक बातें प्रचलित थीं, उनके स्थान पर दर्शन शास्त्र एक बुद्धि-संगत सिद्धान्त स्थापित करने का प्रयत्न करता था। धार्मिक क्षेत्र में तो उन दिनों लोग सीधे-सादे तौर पर यों ही कुछ बातें मान लिया करते थे, पर दर्शन शास्त्र यह चाहता था कि वास्तविकता और सत्ता के सम्बन्ध में कुछ भौतिक तत्व ज्ञान सम्बन्धी विचार स्थिर हो जायँ। ईश्वर के सम्बन्ध में लोक में जो विचार प्रचलित थे, वे न तो बुद्धि-संगत ही थे और न नीति संगत थे और दर्शन शास्त्र उनके स्थान पर एक बुद्धि-संगत और नीति-संगत विचार स्थिर करना चाहता था और लोक में जो परंपरागत नीति प्रचलित हो गई थी, उसके स्थान पर एक बुद्धि-संगत आचार शास्त्र की स्थापना हो जाय। दर्शन शास्त्र की यह विशेषता जितने स्पष्ट रूपसे मोक्ष सम्बन्धी समस्या की मीमांसा के प्रयत्न में दिखाई पड़ती है, उतनी और किसी विषय में नहीं दिखाई देती। सभी युगों और सभी देशों में दार्शनिक विचारों ने या तो विचारशील पुरुषों के धर्म को एक विशिष्ट और स्पष्ट स्वरूप देने का प्रयत्न किया है और या उन्हें अपनी धार्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति आस-पास के परम्परागत धर्म के क्षेत्र के बाहर करने में समर्थ किया है।

इसलिए इस विवेचन के अन्त में हम संक्षेप में यह भी बतला देना चाहते हैं कि "मोक्षदायी धर्मों" के मोक्ष के मार्ग में दर्शन शास्त्र का क्या स्थान है।

भारतवर्ष में भी और यूनान में भी जब दर्शन शास्त्र आरम्भ हुआ था, तब उसमें पहले-पहल भौतिक विश्व या सृष्टि की उत्पत्ति सम्बन्धी समस्याओं पर ही विचार हुआ था और इस विषय में ब्रह्म विद्या मार्ग-दर्शक का काम कर चुकी थी। दर्शन शास्त्र ने भौतिक विश्व को सत्य और वास्तविक मान लिया था और यह भी मान लिया था कि इस में सदा परिवर्त्तन होता रहता है; और इसकी परिवर्त्तनशीलता ऐसी है जिसमें कभी अन्तर पड ही नहीं सकता। यह भी निश्चित था कि चाहे आज हो और चाहे चार दिन बाद, यह प्रश्न अवश्य उत्पन्न होगा कि वास्तविकता की प्रकृति या स्वरूप क्या है; और यह भी निश्चित था कि दर्शन शास्त्र को इस प्रकार सत्ता शास्त्र अथवा तत्व ज्ञान सम्बन्धी समस्याओं पर भी विचार करना पडेगा। भारतवर्ष में इस प्रकार का विचार-प्रवाह उपनिषदों में पूरे ज़ोरों पर पाया जाता है। यहाँ केवल यही एक मत प्रचलित है कि केवल एक ही सत्य अथवा वास्तविकता है और उसका नाम ब्रह्म रखा गया है। इस प्रकार के तत्व ज्ञान में यह माना जाता है कि केवल ब्रह्म ही शुद्ध सत्ता है, उस में पूर्ण एकता या अद्वैत भाव है, उसमें द्वैत भाव का कहीं नाम भी नहीं है और यहाँ तक कि चेतना में जो विषय और विषयी का भेद रहता है, वह भेद भी ब्रह्म में कहीं नाम को नहीं है। शुध्द चैतन्य के रूप में वह अमूर्त्त है और वह स्वयं ही परमानन्द स्वरूप है। मनुष्य के शरीर में रहनेवाली आत्मा केवल उस ब्रह्म के रूप या प्रकृति की ही नहीं है, बल्कि स्वयं वह ब्रह्म ही है। व्यक्तिगत रूप से जो बहुत से मनुष्य या जीव हैं, वह केवल भ्रम या माया के कारण दिखाई पडते हैं और इसी भ्रम या माया के कारण

ही मनुष्य को सब प्रकार के दुःख भोगने पडते हैं। इसी के कारण मनुष्य हर बार मरने पर दूसरा जन्म धारण करता है और यह जन्म-मरण का चक्र निरन्तर इसी प्रकार चलता रहता है; और इस चक्र का तब तक अन्त नहीं होता, जब तक मनुष्य माया के वश में रहकर अपनी पृथक् और स्वतन्त्र सत्ता समझता है। इस लिए मनुष्य को मोक्ष तभी प्राप्त हो सकता है, जब वह इस माया के जाल से छूटे और उस परम सत्य का साक्षात्कार करे। यही बात व्यक्तिगत रूप में इस प्रकार कही जा सकती है कि "मैं" अथवा वह जो अपने आपको भूलसे "मैं" समझता है, वास्तव में उस ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है-यह "मैं" वही ब्रह्म है, और कोई नहीं है। जब आत्मा को इस बात का ज्ञान हो जाता है कि मैं अनन्त हूँ और वही ब्रह्म हूँ जो सारे विश्व के चराचर में व्याप्त है, तब फिर वह लौटकर इस लोक में नहीं आता-फिर उसका जन्म नहीं होता, वह मुक्त हो जाता है। इस सम्बन्ध में "एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति" और "तत्वमसि" आदि महावाक्य प्रसिद्ध हैं।

यह लोकोत्तर ज्ञान कोई ऐसा सिद्धान्त नहीं है जो किसी गुरु या आचार्य से सीखा जा सके या जिसका साक्षात्कार किसी प्रकार के प्रदर्शन से हो सके या जो केवल स्वयं-सिद्ध होने के कारण मान लिया जा सके। यदि इसका साक्षात्कार हो सकता है तो केवल आत्मानुभव से ही हो सकता है; और उसी आत्मानुभव से इसका निश्चय या प्रतीति हो सकती है। उत्तम आचार, तपस्या, मनन और ध्यान आदि की सहायता से मनुष्य चेतना की सीमा के बाहर पहुँच सकता है; और यही सब ऐसे साधन या उपाय हैं जिनसे मनुष्य उस अवस्था में पहुँच सकता है, जिस अवस्था में यह लोकोत्तर ज्ञान अथवा आत्मानुभव सम्भव है। यहाँ भी वही बात है कि मनुष्य स्वयं अपने ही प्रयत्न से मोक्ष प्राप्त कर सकता है; और उस अकर्ता ब्रह्म से भी इस विषय में कोई सहायता नहीं मिल सकती।

ऐसी अवस्था में यह प्रश्न विना उठे नहीं रह सकता था कि यदि ब्रह ब्रह्म ही एक मात्र वास्तविकता या सत्य एक अमूर्त्त और निर्विकार है, तो फिर अनेक प्रकार के परिवर्त्तनों और विकारों से युक्त यह भौतिक जगत क्या है जिनका अनुभव हमें अपनी इन्द्रियों से होता है। अथवा यही प्रश्न अधिक उपयुक्त रूप में इस प्रकार उपस्थित किया जा सकता है कि यह विकट भ्रम कहाँ से उत्पन्न होता है कि अनेक प्रकार के पदार्थों और दृश्यों से भरा हुआ यह संसार है; और मुझे जो वास्तव में "मैं" नहीं हूँ उस संसार का ज्ञान क्यों होता है, जो वास्तव में संसार ही नहीं है? इस भ्रन या माया का मूल स्थान कौनसा है और कहाँ से इसकी उत्पत्ति होती है ? यदि समस्त विश्व में उस ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ भी न हो तो फिर उस भ्रन या माया का निवास भी उसी में होना चाहिए। और यह बात ऐसी है जिनके सम्बन्ध में ऊपर से देखने पर यही जान पडता है कि इसके एक अंश से आप से आप दूसरे अंश का खंडन हो जाता है। श्री शंकराचार्य ने इस कठिनता से बचने का एक मार्ग निकाला है और अद्वैतवाद का उस ब्रह्म के साथ सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया है, जिसके सम्बन्ध में वेद और शास्त्र केवल "नेति नेति" कह कर चुप हो जाते हैं और यह मान लेते हैं कि उसके सम्बन्ध में कुछ भी विचार या कथन नहीं किया जा सकता। उन्होंने वेदों और शास्त्रों के उन दूसरे अंशों के साथ भी अपने अद्वैतवाद का सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया है, जिन में दृश्य जगत् की वास्तविकता मान ली गई है; और यह भी कहा गया है कि इसकी उत्पत्ति उसी ब्रह्म से हुई है—वही मूल आधार और कर्त्ता है। परन्तु ये सब तत्व ज्ञान सम्बन्धी बातें हैं; और यहाँ हम केवस इस बात का विचार कर रहे हैं कि दर्शन किस प्रकार मोक्ष के मार्ग का काम देता है; और इसी लिए हमें तत्व ज्ञान सम्बन्धी इन बातों का यहाँ विवेचन करने की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। उपनिषदों के समय से

लेकर अब तक भारतवर्ष में ऐसे अनेकानेक मनुष्य हो गये हैं जिनके मन में यह निश्चित विश्वास रहा है कि जब किसी को इस बात की अनुभूति हो जाती है कि मैं वही ब्रह्म हूँ, तब उसका मोक्ष हो जाता है। पाश्चात्य देशों में भी इस प्रकार के अनेक दर्शन प्रचलित हैं; और जिस प्रकार वे सब दर्शन बहुत उच्च कोटि के परन्तु शुद्ध बौद्धिक प्रकारवाले रहस्यवाद के अन्तर्गत आते हैं, उसी प्रकार यह भारतीय दर्शन भी उसी रहस्यवाद के अन्तर्गत समझना चाहिए।

यह स्पष्ट ही है कि ऐसे आदमी बहुत ही थोड़े होते हैं जो इतने उच्च कोटि के विचारों तक पहुँच सकते हों और जिन्हें इस बात का ठीक तरह से साक्षात्कार हो सकता हो कि मैं ही वह ब्रह्म हूँ और सारे विश्व में ब्रह्म के सिवा और कुछ भी नहीं है। जन-साधारण के लिए सर्वेश्वरवादवाली धारणा के किसी रूप में यह समझ लेना अपेक्षाकृत बहुत ही सहज है कि मनुष्य में जो आत्मा रहती है, वह उस विश्वात्मा का एक बहुत ही सूक्ष्म अंश है जो मृत्यु के उपरान्त फिर उसी विश्वात्मा में जाकर मिल जाती है; और वह आत्मा या तो स्वयं अपनी चेतना बनाये रखती है और या मरने पर उस चैतन्य में 'लीन' हो जाती है। और दूसरे देशों की भाँति भारतवर्ष में भी लोगों को उस "सर्व" को मूर्त्त रूप देने में कोई ऐसी कठिनता नहीं प्रतीत हुई है जो दूर न की जा सकती हो; और इस प्रकार उन्होंने अपने सर्वेश्वरवाद को एक प्रकार के आस्तिक्यवाद का रूप दे दिया है। दार्शनिकों की एक बड़ी शाखा या सम्प्रदाय ऐसा भी है जो शंकराचार्य के मत के विरुद्ध यह कहता है कि वेदान्त का यथार्थ अर्थ केवल हम करते हैं और वह ब्रह्म की विष्णु तथा नारायण के साथ एकता स्थापित करके उसे एक ऐसा सर्वप्रधान देवता बना देता है जो मनुष्य के प्रेम और भक्ति का पात्र होता है और जिसकी कृपा से मनुष्य को मोक्ष प्राप्त हो जाता है। और इस प्रकार

हिन्दू धर्म के इन लोक प्रचलित रूपों को, जिनका हम अभी वर्णन कर चुके हैं, एक उच्च कोटि के धार्मिक दर्शन के बहुत समीप पहुँचा देता है।

बौद्ध धर्म की स्थापना के उपरान्त कई शताब्दियों तक ज्ञानी भारत में तत्व-ज्ञान का जो वातावरण बना रहा, उस वातावरण में बौद्धों के अनेक सम्प्रदायों ने कई प्रकार से एक ऐसे सत्ताशास्त्र की स्थापना की जिसके सम्बन्ध में हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि उसकी उत्पत्ति वेदान्त से ही हुई थी। वे कहते थे कि यही एक मात्र और पूर्ण "तथात" (सं० तथात्व) है और केवल गौतम ही नहीं—जिसे हम लोग ऐतिहासिक बुद्ध कहते हैं बल्कि अनन्त युगों और समस्त लोकों के असंख्य बुद्ध किसी न किसी रूप में उसी की अभिव्यक्ति हैं। इसके विपरीत बुद्ध की प्रकृति सभी मनुष्यों में है और इसी शक्ति की सिद्धि या साक्षात्कार करना मनुष्य का अन्तिम उद्देश्य है; और बुद्धत्व-प्राप्ति की इच्छा रखने-वाले या बोधिसत्व बार बार जन्म लेकर इसी अन्तिम उद्देश्य की ओर अग्रसर होते हैं और तब तक बार बार जन्म धारण करते रहते हैं, जब तक उन्हें पूर्ण रूप से बुद्धत्व प्राप्त नहीं हो जाता। इसी लिए बौद्ध धर्म की महायान शाखा के भिन्न भिन्न सम्प्रदायों में अपने अनुयायियों के सामने वह निर्वाणवाला उद्देश्य नहीं उपस्थित किया जाता—उन्हें यह उपदेश नहीं दिया जाता कि तुम निर्वाण प्राप्त करो, अपनी सब वासनाओं का अन्त करो, कर्त्ता और कर्म को एक दूसरे के साथ बाँधकर रखनेवाले बन्धन को तोड डालो और पुनर्जन्म से मुक्ति प्राप्त करो। बल्कि लोगों को यह बतलाया जाता है कि तुम वह अनन्त बोध या ज्ञान प्राप्त करो और बुद्ध प्रकृति का वह उत्तम गुण प्राप्त करो जो सब मनुष्यों की प्रकृति में निहित है और ऐसा प्रयत्न करो जिस में किसी अगले जन्म में बुद्ध बनकर समस्त चेतन प्राणियों का परित्राण और उद्धार कर सको।

यदि कुछ दिनों तक वेदान्त के अद्वैतवाद का कोई प्रबल प्रतिद्वन्द्वी था, तो वह सांख्यका द्वैतवाद था। इसमें प्रकृति को ही जगत् का मूल माना गया है। इसी प्रकृति में कार्य शक्ति होती है जो सदा अपना कार्य करती रहती है और जिसमें निरन्तर परिवर्त्तन या विकार होता रहता है। आत्मा को सांख्य में पुरुष कहा गया है और ये पुरुष अविनश्वर, अपना पृथक् व्यक्तित्व रखनेवाले, असंग और अकर्त्ता जीव होते हैं। ये स्वयं अधिकारी होते हैं और प्रकृति के कार्यों का इन पर कोई प्रभाव नहीं पडता; इसी लिए इन्हें असंग कहा गया है। विचार, अनुभूति और इच्छा आदि चेतना से या संविद् से सम्वन्ध रखनेवाले जितने कार्य हैं, वे सब प्रकृति ही करती है। मनुष्य की सबसे विकट और घातक भूल यही होती है कि वह समझता है कि प्रकृति की विकारी क्रिया का मुझ पर अर्थात् पुरुष पर परिणाम होता है। अर्थात् वह यह समझता है कि सुखों और दुःखों आदि का भोग मेरा आत्म अर्थात् पुरुष ही करता है। इस विषय में स्फटिक के उस पुष्पाधार का दृष्टान्त दिया गया है जो पुष्प के कारण अपने ऊपर पडनेवाली लाल प्रतिच्छाया के सम्बन्ध में यही समझता हैं कि यह स्वयं मेरी ही लालिमा है और मेरी प्रतिकृति है। जब तक मनुष्य के मन में यह भ्रम बना रहता है, तब तक उसे पुनर्जन्म के चक्र में बँधा रहना पडता है। सांख्य के मत से यह समझ लेना ही मोक्ष है कि आत्म या पुरुष पूर्ण रूप से स्वतन्त्र है और वह स्वयं ही सब प्रकार से पूर्ण है।

हम अभी यह बतला चुके हैं कि यूनान में भी और भारत में भी दर्शन ने पुनर्जन्मवाला मत ग्रहण कर लिया था। यूनान में इस विषय पर पिथागोरसवाले सम्प्रदाय और प्लेटो ने बहुत कुछ विचार किया था। दोनों ही स्थानों में यह माना जाता था कि आत्मा है तो वास्तव में दैवी प्रकृतिवाली, परन्तु पतन हो जाने के कारण वह इस लोक में आ गई है

और भौतिक शरीर में बद्ध हो गई है। जब आत्मा इस पृथ्वी पर आकर शरीर के साथ सम्बद्ध होती है, तब उसमें अपनी मूल दैवी प्रकृति का संस्कार बना रहता है; और इसी लिए इस बात की सम्भावना भी रहती है कि किसी समय जाग्रत या उद्‌बुद्ध होकर फिर से अपना वह पुराना स्वरूप प्राप्त करने की कामना कर सकती है-उसमें यह आकांक्षा उत्पन्न हो सकती है कि हम फिर उसी मूल विश्वात्मा में जाकर मिल जायँ और अपना दैवी स्वरूप धारण करें। यह शरीर भौतिक होता है और इसी लिए इसमें भूतों की अपवित्रता या अशुद्धता भी मिली रहती है; और इसलिए यह माना जाता है कि यदि हम आत्मा को इस शरीर की संगति से अपवित्र और दूषित न होने दें और दर्शन की सहायता से अपना ज्ञान शुद्ध करते रहें, तो इस आत्मा को बहुत जल्दी मोक्ष प्राप्त हो सकता है।

जब यह विचार स्थिर होगया कि पतन के कारण आत्माएँ इस लोक में आई हैं और इसी लिए उन्हें बार बार शरीर धारण करना पड़ता है, तब इस विचार ने एक पौराणिक रूप धारण कर लिया और प्लेटो की कृतियों में उसका यह पौराणिक रूप रक्षित है। परन्तु इस सम्बन्ध में प्लेटो ने कहा है कि इसके अन्दर बहुत से गूढ़ विचार निहित हैं जो, यदि ध्यान-पूर्वक देखा जाय तो, ऊपर से भी दिखाई पड़ सकते हैं। उन दिनों यूनान में इस सम्बन्ध में जो पौराणिक कथाएँ प्रचलित थीं, उनके कारण लोग यही समझते थे कि जब देवता लोग स्वर्ग में हत्या या रक्त-पात करते हैं, मिथ्या साक्षी देते हैं अथवा इसी प्रकार का और कोई भीषण अपराध करते हैं, तब उनका पतन होता है और वे इस लोक में आकर मनुष्य का जन्म धारण करते हैं। परन्तु प्लेटो यह बात नहीं मानता था। बल्कि उसका मत कुछ और ही था। यूनान में इस आशय की एक और भी पौराणिक कथा प्रचलित थी कि एक सारथी था जिसके रथ में पर-दार

घोड़ों की एक जोड़ी जुती हुई थी। परन्तु वह सारथी उन घोड़ों को अपने वश में न रख सका और उनका नियन्त्रण न कर सका, इस लिए उसका रथ भी टूट गया और उसके भी प्राण गये। इस पौराणिक कथा का आशय केवल यही है कि मनुष्य अपनी बुद्धि या ज्ञान से तो काम नहीं लेता और अपनी इन्द्रियों के वश में हो जाता है, जिससे उसे अनेक प्रकार के कष्ट भोगने पड़ते हैं। इससे बहुत कुछ मिलती-जुलती कथाएँ या दृष्टान्त हमारे यहाँ भी पाये जाते हैं। और यही तत्व प्लेटो को भी मान्य था।

प्लेटो ने दर्शन शास्त्र में एक बहुत बड़ी वृद्धि यह की थी कि उसने अव्यक्त वास्तविकता या सत्य का विचार उसमें सम्मिलित किया था। पिथागोरस ने अंकों और ज्यामिति की आकृतियों के धर्मों की वास्तविकता या सत्यता के सम्बन्ध में कुछ सिद्धान्त स्थिर किये थे। इसके सिवा सुक-रात ने आचार सम्बन्धी व्याप्ति-प्रतिज्ञाओं की वास्तविकता या सत्यता के सम्बन्ध में कुछ सिद्धान्त स्थिर किये थे। और इन्हीं दोनों सिद्धान्तों के आधार पर प्लेटो ने अव्यक्त सत्यवाले विचार का विकास किया था। मनुष्य की बुद्धि या प्रज्ञा इसी वर्ग की है और सर्वश्रेष्ठ बुद्धि या प्रज्ञा भी, जिसे वे लोग *δοεῖσνοῦς* कहते थे इसी कोटि के अन्तर्गत आती है। ये दोनों स्वभावतः भूत काल में भी शाश्वत थीं और भविष्य में भी शाश्वत रहेंगी। और मनुष्य की आत्मा शाश्वत रूप से व्यक्तिगत है। ईश्वर केवल शुद्ध बुद्धि या ज्ञान ही नहीं है, बल्कि वह पूर्ण रूप से सत् अथवा प्रत्यक्ष सत्व गुण भी है। अपनी मूल उच्च स्थिति तक पहुँचने के लिए मनुष्य को सब प्रकार के भ्रमों से केवल अपनी बुद्धि ही परिष्कृत नहीं कर लेनी चाहिए, बल्कि ईश्वर के स्वरूप के ठीक अनुरूप होने का भी प्रयत्न करना चाहिए। केवल इसी प्रकार वह अपनी वास्तविक और सत्य प्रकृति की प्राप्ति तथा अन्तिम उद्देश्य की सिद्धि कर सकता है, और इसी में मनुष्य का सबसे बढ़कर पूर्ण तथा शाश्वत कल्याण है।

इस दृष्टि से प्लेटोवाद Platonism भी बड़े बड़े भारतीय दर्शनों की भाँति मोक्ष का एक मार्ग ही है। परन्तु भारतीय दर्शनों में मुख्यतः सत्ता शास्त्र सम्बन्धी बातों का विवेचन किया गया है—और इसी सत्ता शास्त्र में आध्यात्मिक मनोविज्ञान का भाव भी सम्मिलित है—और उन में यह माना जाता है कि मनुष्य मोक्ष तभी प्राप्त होता है, जब उसे इस बात का पूर्ण तथा सच्चा ज्ञान और अनुभव हो जाता है कि निर्विकार ब्रह्म अथवा बहुविध और विकारशील प्रकृति के साथ हमारी आत्मा का क्या सम्बन्ध है। यह भी माना गया है कि मोक्ष प्राप्त करने से पहले मनुष्य को नीति और उसमें भी परम्परागत नीति का पालन करना चाहिए। परन्तु यूनानवाले आचारशास्त्र को दर्शन का एक आवश्यक अंग ही मानते थे और उनका मत था कि सद्गुणों का आचरण करना मानों ईश्वर का अनुकरण करना और उसकी प्रतिकृति बनना है। उनका यह भी मत था कि जब मनुष्य को मोक्ष प्राप्त हो जाता है, तब वह ईश्वर के पूर्ण अनुरूप हो जाता है और आचार क्षेत्र में मनुष्य के ऊँचे से ऊँचे जो आदर्श हैं, उनसे भी कहीं बढ़कर आदर्श रूप वह ईश्वर है।

सभी अध्यात्मवादी दर्शनों में संयम और तपस्या आदि का भी बहुत कुछ महत्व बतलाया जाता है; और यही बात प्लेटो के दर्शन में भी थी। उसका मत था कि आत्मा को इन्द्रियों के छलों और वासनाओं के प्रलोभनों से दूर रखना चाहिए, शरीर के अधीन होकर नहीं रहना चाहिए और जहाँ तक हो सके, केवल स्वयं-पूर्ण होकर ही रहना चाहिए। जब इस प्रकार मनुष्य अपनी इन्द्रियों और शरीर की अधीनता से निकल कर स्वतन्त्र हो जाता है, तब वह इस जीवन में ही और इस लोक में ही देव-तुल्य और अमर हो जाता है। इस संसार से बचकर भागना और दूर रहना ही ईश्वर के अनुरूप बनना है; और जब मनुष्य इस प्रकार शारीरिक बन्धनों से पूर्ण रूप से मुक्त हो जाता है, तब शुद्ध आत्मा उन्नत होकर सदा के लिए

ईश्वर में मिल जाती है।

इस मत ने प्लोटिनस (Plotinus) के प्राचीन दर्शन में पहुँचकर अपना अन्तिम रूप प्राप्त किया था। ज्ञानातीत और लोकोत्तर के सम्बन्ध में स्वयं प्लेटो ने कहा था कि वह सत्ता और ज्ञान दोनों से परे है: और प्लोटिनस ने उसी को और आगे बढ़ाकर उसकी अन्तिम सीमा परम या केवलात्मा (Absolute) तक पहुँचा दिया था और कहा था कि उसमें आत्म चेतना भी नहीं है। उधर प्लोटिनस ने प्लेटो के द्वैतवाद को भी दबाकर उससे और आगे बढ़ने का प्रयत्न किया था, क्योंकि प्लेटो का मत था कि उस परम सत्ता के अतिरिक्त एक शाश्वत और मूल तत्व भी है। पर प्लोटिनस का मत था कि यह बहुविध तथा सदा बदलता रहनेवाला भौतिक विश्व उसी "एक" से उत्पन्न हुआ है जिसमें कभी कोई विकार या परिवर्त्तन नहीं होता। और फिर एक तीसरी बात यह भी थी कि उन दिनों दार्शनिक तथा धार्मिक विचारों की जो प्रवृत्ति थी, उनके अनुसार भौतिक जगत् की कल्पना में प्लेटो की अपेक्षा प्लोटिनस बहुत आगे बढ़ गया था और उसका मत था कि तत्व और ज्ञान अथवा संज्ञा का यह जगत् केवल अपनी शारीरिक अथवा भौतिक रचना के विचार से ही नहीं बल्कि नैतिक दृष्टि से भी दूषित है और उसका यह दोष स्वयं इसकी प्रकृति में ही लगा हुआ है—यह उसका सहज दोष है।

इस समस्या के सम्बन्ध में जो बातें प्लोटिनस के सामने आई थीं, उनका इस प्रकार निर्देश कर चुकने के उपरान्त अब हम उसके दर्शन के धार्मिक अंग के सम्बन्ध में भी कुछ बातें बतला देना चाहते हैं। *

---

* सन १९१४ में मेरा लिखा हुआ Metempsychosis (पुनर्जन्म) नामक जो ग्रन्थ प्रकाशित हुआ था, उसमें प्लोटिनस के उपदेश और मत के सम्बन्ध में मैंने जो कुछ लिखा था, उसी का कुछ संक्षिप्त अंश मैं यहाँ आगे की पंक्तियों में उद्धृत कर रहा हूँ। —लेखक।

आत्मा स्वभावतः दैवी है और वह ईश्वरीय तत्व से ही बनी हुई है; जब वह स्वयं ही अपने लिए ही कुछ बनना चाहती है अर्थात् वह अपना स्वतन्त्र अस्तित्व धारण करना चाहती है, तब उसका पतन होता है; और उसी पतन की अवस्था में वह अपने पिता ईश्वर को भूल जाती है और उसे अपने सच्चे स्वरूप या प्रकृति का भी ध्यान नहीं रह जाता। अपनी स्वतन्त्र इच्छा के अनुसार काम करने में ही वह सुख मानती है और यहाँ तक बहक जाती है कि उसे इस बात का भी ज्ञान नहीं रह जाता कि मेरा मूल क्या है और मेरी उत्पत्ति कहाँ से हुई है। इस सम्बन्ध में उसने एक दृष्टान्त भी दिया है जो इस प्रकार है—"जब बहुत छोटे बच्चे अपने शैशव काल में ही माता-पिता से अलग कर लिये जाते हैं और माता-पिता से दूर रखकर बहुत दिनों तक उनका पालन-पोषण किया जाता है, तब बड़े होने पर वे यह नहीं जानते कि हम कौन हैं अथवा हमारे माता-पिता कौन थे। आत्मा की दूसरी भूल यह होती है कि वह सांसारिक वस्तुओं का तो बहुत अधिक मूल्य समझती है, पर स्वयं अपना मूल्य या महत्व कुछ भी नहीं समझती। परन्तु उसे अपने आस-पास जो सब चीजें दिखलाई पड़ती हैं, उनके सम्बन्ध में यदि किसी प्रकार इस बात का ज्ञान करा दिया जाय कि ये सब चीजें बिलकुल तुच्छ और खराब हैं, तब वह अपना महत्व समझने लगती है और उसकी समझ में यह बात आ जाती है कि मेरी उन्नति कहाँ से हुई है। उसमें फिर से उन्नत होकर अपने मूल तक पहुँचने की शक्ति भी निहित रहती है।" इस सम्बन्ध में स्वयं प्लोटिनस ने कहा है—"हमारी आत्मा पूर्ण रूप से इस इन्द्रिय-जगत् में नहीं उतर आती, बल्कि उसका कुछ अंश सदा ज्ञान जगत् में भी निवास करता है। वह उन्नत होकर फिर उस जगत् में जा सकती है और अपनी पृथक् आत्म-चेतना का भ्रम दूर कर सकती है—वह अपने आपको विश्वव्यापी वास्तविकता

या सत्य से पृथक् समझना बन्द कर देती है और फिर उस पूर्ण समस्त में पहुँच जाती है। उस पूर्ण समस्त में पहुँचने के लिए उसे किसी ओर अग्रसर नहीं होना पडता, बल्कि सदा उसी में निवास करना पडता है, जिस पर समस्त आश्रित है।''

परन्तु बुद्धि या प्रज्ञा की एकता से भी बढकर कुछ और उच्च भूमियाँ हैं। इससे बढकर वह साक्षात्कार या बोध है जो प्रेम के ज्ञान में होता है, नशे में आकर वह अपनी शक्तियाँ खो बैठता है और प्रेम के द्वारा वह सत्ता की उस सीधी–सादी एकता के तल पर आ पहुँचता है, जहाँ हमारी आत्माएँ पूर्ण रूप से सन्तुष्ट हो जाती हैं। परमानन्द की इस अन्तिम और चरम अवस्था का स्वाद और सुख हमारी आत्मा पहले से ही जानती है और आनन्दातिरेक की अवस्था में वह उस आत्मानन्द की प्राप्ति के लिए व्यग्र होती है।

हम ऊपर यह बतला चुके हैं कि आत्मा किस प्रकार उन्नत होकर फिर अपने उद्गम या मूल तक पहुँच सकती है, परन्तु उसके लिए नीचे गिरने का भी एक रास्ता है; और उस रास्ते पर चलकर आत्मा अपने मूल के सम्बन्ध का वह धुँधला ज्ञान या चेतना भी गँवा बैठती है, जो ज्ञान या चेतना मनुष्य में पहले से बचा रहता है; और तब वह पतित होकर बुद्धिहीन पशुओं बल्कि शुद्ध वनस्पतियोंवाली अवस्था तक भी पहुँच जाती है।

एक ओर तो ये सब अतीततात्मक दर्शन थे जिनमें ऐसी अमूर्त्त आत्माएँ मानी जाती थीं जो अपनी उच्च अवस्था से पतित होकर हाड–मांस के शरीरों में बन्द थीं और इस भौतिक जगत् में सब प्रकार के कष्ट सह रही थीं

और इन सब के मुकाबले में वे स्टोइक * लोग उठ खडे हुए थे, जो यह मानते थे कि इस संसार में ईश्वर एक कार्य-शक्ति के रूप में सब जगह व्याप्त है। इन लोगों का मत था कि संसार का प्रत्येक अंश और अणु-परमाणु तक दैवी प्रज्ञा या कार्य-शक्ति से भरा हुआ है। संसार की सभी वस्तुएँ कुछ न कुछ उद्देश्य रखती हैं और उस उद्देश्य की सिद्धि के लिए सदा कुछ क्रिया या प्रयत्न करती रहती हैं। वह सर्व-व्यापिनी कार्य-शक्ति अन्दर से ही वे सब परिवर्त्तन करती रहती है जो पदार्थों आदि में ऊपर से होते हुए दिखाई देते हैं। यह कार्य-शक्ति जिस प्रकार मनुष्य के शरीर में रहती है, उसी प्रकार सारे विश्व में भी रहती है और

---

* ज़ीनो नामक दार्शनिक के अनुयायी स्टोइक कहलाते हैं। ज़ीनो का जन्म साइप्रस टापू में हुआ था और इसने अपने दर्शन का प्रचार एथेन्स में किया था। इसका आचार बहुत उच्च कोटि का था और इसने अपनी इच्छा से आत्म-हत्या की थी। इसका मत था कि प्रत्यक्ष ही समस्त ज्ञान का मूल है। जब आत्मा पर बाह्य वस्तुओं का प्रभाव पडता है तभी उसे उन वस्तुओं का ज्ञान होता है। आत्मा इस शरीर से कोई पृथक् वस्तु नहीं है। एक ही वस्तु की स्थिति-शक्ति को शरीर और कार्य शक्ति को आत्मा कहते हैं। संसार एक बहुत बडा जीव है, जिसका शरीर यह सारी पृथ्वी है और आत्मा ईश्वर है। ईश्वर ही इस जगत् में सर्व-व्यापिनी शक्ति है। अमूर्त कोई वास्तविक पदार्थ नहीं है और आत्मा उष्ण श्वास के रूप में है। ईश्वर एक बडे समुद्र के समान है और जीवात्मा उसके एक बिन्दु के तुल्य है। प्राण अग्निमय है और युग के अन्त में सारा संसार जल जाता है और तब फिर से सृष्टि होती है। स्टोइक लोग आचार को ही सबसे मुख्य मानते थे और कहते थे कि निष्कारण धर्म करना ही मनुष्य के जीवन का मुख्य उद्देश्य है। उत्तम आचरण का मनुष्य को ऐसा अभ्यास करना चाहिए कि उसके स्वभाव का एक अंग हो जाय। —अनुवादक।

इसे लोग लोगोस (Logos) कहते थे। मनुष्य की आत्मा भी उसी तरह की है, बल्कि वह विश्वात्मा का एक बहुत छोटा सा अंश है। और इसी लिए विश्वात्मा की तरह मनुष्य की आत्मा को भी वे लोग लोगोस ही कहते थे। इन लोगों का यह भी मत था कि न तो संसार में रहनेवाली आत्मा ही अमूर्त्त है और न मनुष्य में रहनेवाली आत्मा ही अमूर्त्त है, क्यों कि जो वस्तु अमूर्त्त होती है, वह किसी तत्व का संचालन नहीं कर सकती। संसार और मनुष्य की आत्माएँ संचालन करती हैं और इसलिए वे अमूर्त्त नहीं हो सकतीं। वास्तव में यह आत्मा वह लोगोस तत्व या भूत का सूक्ष्मतम रूप ही है। इनसे पहले भी कुछ ऐसे दार्शनिक हो गये थे जो यह मानते थे कि जीवन वास्तव में भौतिक कार्य-शक्ति का ही रूप है; और उन्हीं लोगों की तरह ये स्टोइक भी कहते थे कि जीवनी शक्ति या आत्मा एक प्रकार के ताप या अग्नि के रूप में है। बल्कि वे उसे "अग्नि" ही कहते थे।

स्टोइक लोगों का यह भी मत था कि मनुष्य का कल्याण तभी हो सकता है, जब वह प्रकृति के अनुरूप रहकर जीवन निर्वाह करे। और इस प्रकृति से उनका अभिप्राय मनुष्य की प्रकृति से भी था और विश्व की प्रकृति से भी, क्योंकि दोनों ही प्रकृतियों को वे एक ही मानते थे। जिस प्रकार वह दैवी कार्य-शक्ति विश्व के सभी पदार्थों में व्याप्त रहकर सबका शासन और संचालन करती है, उसी प्रकार मनुष्य के अन्दर रहनेवाला कार्य-शक्ति मनुष्य के सब कार्यों का नियन्त्रण और संचालन करती है। और यही कार्य-शक्ति मनुष्य की विचार-शक्ति या विवेक भी है। अत: यदि मनुष्य अपनी इन्द्रियों के प्रलोभनो से बचता रहे—अपनी इन्द्रियों को सदा वश में रखे—तो वह अपनी इस आन्तरिक शक्ति को पहचान सकता है और उसका साक्षात्कार कर सकता है। और इसलिए दार्शनिक जीवन का यही अर्थ और यही उद्देश्य है कि मनुष्य सब प्रकार

से अपनी इन्द्रियों, वासनाओं मनोविकारों आदि को पूर्ण रूप से अपने वश में रखे।

इस प्रयत्न का मुख्य उद्देश्य यह नहीं था कि विश्व की आध्यात्मिक समस्याओं की मीमांसा की जाय, बल्कि इस का वास्तविक अभिप्राय यह था कि लोग बुद्धिमत्तापूर्वक व्यवस्थित और नियमित जीवन व्यतीत करें। इस स्टोइक प्रणाली में मुख्य बात आचार का सुधार और पालन है और तर्क शास्त्र तथा भौतिक विज्ञान (ईश्वरविद्या इसी का उपविभाग है) उसमें गौण तथा सहायक के रूप में हैं। इसका मुख्य उद्देश्य यही है कि मनुष्य सद्गुणों की प्राप्ति करे और इसी में उसका सबसे अधिक और वास्तविक कल्याण है। सद्गुणों की प्राप्ति और धर्म का आचरण बिलकुल निष्कारण और निष्काम होकर और केवल इस विचार से करना चाहिए कि ये मनुष्य के आवश्यक कर्त्तव्य हैं। यदि इसके अतिरिक्त किसी और उद्देश्य अथवा विचार से धर्म या सदाचार का आचरण किया जाय तो फिर वह धर्म या सदाचार ही नहीं रह जाता। और धर्म तथा सदाचार का सबसे बडा पुरस्कार भी यही है कि मनुष्य उनका आचरण करता रहता है। इसका न तो और कोई पुरस्कार है और न होना ही चाहिए।

आगे चलकर रोमन काल में यह स्टोइकवाद और भी अधिक आस्तिक या ईश्वरवादी हो गया था। अब यह माना जाने लगा था कि ईश्वर में पूर्णताएँ हैं, उनका अर्जन करके मनुष्य उस ईश्वर का केवल अनुकरण ही नहीं करता, बल्कि उस ईश्वर की आत्मा के साथ मिलकर एक-रूप हो जाता है, जो इस विश्व में हमसे बहुत अधिक दूर किसी स्थान पर बद्ध नहीं है, बल्कि जो सदा सब लोगों के साथ और उनके पास उपस्थित रहता है। वे कहते थे कि ईश्वर के साथ बातें करने के लिए मनुष्य को किसी मन्दिर में जाकर मूर्त्ति के कान के पास कुछ कहने की

आवश्यकता नहीं होती, बल्कि ईश्वर तो वह पवित्र आत्मा है जो स्वयं मनुष्य की आत्मा में ही निवास करती है।

जो लोग इस प्रकार विचार और अनुभव करते हों, जो शारीरिक कष्टों को कष्ट ही न समझते हों,—बल्कि यदि उन कष्टों का ठीक ठीक अभिप्राय समझा जाय तो वे ईश्वर की ओर से मनुष्य के आचरण का सुधार और नियन्त्रण करने के साधन मात्र होते हैं-और जो लोग यह समझते हों कि जीवन और इतिहास की सारी सुव्यवस्था एक बहुत ही बुद्धिमत्तापूर्ण और शुभ ईश्वरीय विधान है, उनके लिए मोक्ष-यदि हम यहाँ इस शब्द का प्रयोग कर सकते हों तो--एक वर्त्तमान कालीन उन्नतिशील वास्तविकता या सत्य ही था और मृत्यु के उपरान्त होनेवाली बातें उनके लिए केवल गौण ही थीं। मृत्यु के उपरान्त आत्मा की जो गति या अवस्था होती थी, उसके सम्बन्ध में सब स्टोइक आचार्य एक-मत नहीं थे. बल्कि उनमें अनेक प्रकार के मत प्रचलित थे। कोई कहता था कि केवल बुद्धिमानों की आत्माएँ ही अन्त में व्यक्तिगत आत्माओं के रूप में बच रहती हैं; कोई यह कहता था कि जब तक यह सारा संसार अन्त में जल नहीं जायगा और जब तक इस संसार का अन्त न होगा, तब तक सब आत्माएँ बची रहेंगी और कुछ लोगों का यह मत था कि मृत्यु के उपरान्त सब मनुष्यों की आत्माएँ उसी विश्वात्मा में जाकर मिल जायँगी, जिससे अलग होकर वे शरीरों में आती हैं। परन्तु सुकरात के इस कथन से वे सब लोग सहमत थे कि सज्जन पुरुष को न तो इस जीवन में ही और मरने के उपरान्त ही किसी प्रकार का कष्ट हो सकता है। प्रकृति का नियम दैवी विवेक और विचार का नियम है; और उस नियम का उल्लंघन या उपेक्षा करना मानों प्रकृति के विरुद्ध अर्थात् स्वयं उस ईश्वर के विरुद्ध आचरण करना है—उसका विद्रोह करना है। इस दृष्टि से देखने पर प्रत्येक अनुचित कार्य एक पाप का रूप धारण कर लेता है; और इस विषय पर स्टोइक लोगों

ने पहले-पहल अपने प्राचीन दर्शन में बहुत ज्यादा जोर दिया था। आत्म-परीक्षण उन दिनों स्टोइक लोगों के आत्म-संयम का एक मुख्य और महत्वपूर्ण अंग था और इसी आत्म-परीक्षण के द्वारा लोगों को इस बात का पता चलता था कि हममें कौन कौन से दोष हैं और इसी के द्वारा वे उन दोषों का सुधार भी करते थे।

जिन गूढ कर्मोंवाले रहस्यपूर्ण वादों या मतों में यह कहा जाता था कि लोग अनेक प्रकार के विकट तान्त्रिक प्रयोग करके, धार्मिक भावों के आवेश में आकर और कुछ विशिष्ट प्रकार की अनुभूतियाँ करके, कुछ विशिष्ट संस्कारों के द्वारा दीक्षित होकर अथवा कुछ विशेष प्रकार के धार्मिक कर्म या कृत्य आदि करके मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं; यदि उन वादों या मतों के साथ स्टोइक लोगों के अथवा उससे मिलते-जुलते दर्शनों की, जिनका अभी ऊपर विवेचन किया गया है, तुलना की जाय तो पता चलता है कि ये दर्शन उक्त वादों या मतों की अपेक्षा केवल अधिक युक्ति-संगत ही नहीं हैं, बल्कि इनका मूल स्वरूप ही ऐसा है जो आचार शास्त्र पर बहुत जोर देता है और जिससे मनुष्यों का आचरण बहुत कुछ शुद्ध और पवित्र हो सकता है। वास्तव में इस वर्ग के यूनानी दर्शनों को बहुत से उच्च विचारोंवाले लोग धर्म के रूप में ही मानकर उनका आचरण करते थे। वे लोग समझते थे कि इन दर्शनों के सिद्धान्त के अनुसार आचरण करने से मनुष्य को केवल पर-लोक में ही नहीं, बल्कि इसी लोक में ईश्वर मिल जाता है और मानव जीवन के जितने उद्देश्य तथा आदर्श हैं, वे सब सिद्ध या चरितार्थ हो जाते हैं। यदि इस प्रकार के लोग कभी किसी रहस्यवादी मत में दीक्षित हो जाते थे तो उस मत के धार्मिक कृत्यों में भी उन्हें स्वयं अपने ही विचारों का प्रतिबिम्ब दिखाई देता था और वही अनुभूति होती थी जिसकी तलाश में वे रहते थे। और आगे चलकर जब इस प्रकार के दार्शनिक विचारोंवाले लोग ईसाई धर्म में दीक्षित हुए थे,

तब वे उस धर्म के उपदेशों तथा विशिष्ट प्रकार के धार्मिक अनुष्ठानों (Sacraments) का भी स्वयं अपने ही विचारों के अनुसार अर्थ लगाते थे और ईसाई धर्म के उपदेशों तथा अनुष्ठानों से उनके मूल विचार और भी अधिक दृढ तथा विकसित ही होते थे।

बहुत दिनों तक लडने-झगडने के बाद ईसाई धर्म ने रोमन साम्राज्य के सार्वजनिक धर्मों पर राजनीतिक विजय प्राप्त की और उन सब धर्मों को दबा दिया। लोगों को मोक्ष दिलाने के लिए जितने गूढ कर्म्म सम्बन्धी मत तथा दर्शन आदि प्रचलित थे, वे सब भी ईसाई धर्म के सामने दब गये और सबकी जगह अब केवल ईसाई धर्म ही मोक्ष दिलानेवाला माना जाने लगा। इस क्षेत्र में उसे जो सफलता हुई थी, उस का एक ऐतिहासिक कारण यह माना जाता है कि कैथोलिक ईसाई धर्म एक ऐसा समवाय था, जिसमें भूमध्य सागर के आस-पास के सब प्रदेशों के निवासियों की उच्चतर आकांक्षाएँ और प्रयत्न अनेक शताब्दियों से सम्मिलित होकर एक हो चुके थे। यह कैथोलिक ईसाई धर्म प्राचीन जगत् का एक ऐसा तरका या सम्पत्ति थी जो आनेवाले युगों और पीढियों को मिलनेवाली थी। अतः इस पुस्तक को समाप्त करने से पहले इस समवाय के सम्बन्ध में भी कुछ कह देना आवश्यक और उपयुक्त जान पडता है।

दूसरे धर्मों के अनुयायियों से ईसाई उपदेशक कहते थे कि हमारा धर्म पर-लोक से सम्बन्ध रखता है और इससे मनुष्य को मरने पर मोक्ष प्राप्त होता है; और यह घोषणा ऐसे रूपों में की गई थी और इस धर्म का उपदेश ऐसे रूपों में किया गया था कि सब जगह लोगों ने यही समझा होगा कि ये भी किसी गूढ कर्म्मवाले धर्म के ही रूप हैं; और ईसाइयों के धर्मोपदेश के इस अंग पर इधर हाल में बहुत ज्यादा जोर दिया गया है। परन्तु उन दिनों जो रहस्यावाद तथा तत्सम्बन्धी गूढ कर्म आदि प्रचलित थे, उनसे यह धर्म बिलकुल अलग ही प्रकार का था।

यूनान में भी और पश्चिमी एशिया के प्रदेशों में भी जो गूढ कर्म होते थे, वे केवल परवर्ती जीवन से सम्बन्ध रखते थे। सिद्धान्ततः वे इस लोक तथा इसके हितों की सब बातें तो सार्वजनिक धर्मों के देवताओं पर छोड देते थे, फिर चाहे उन गूढ कर्मों की दीक्षा लेनेवाले अपने मन में इस बात का भले ही दृढ विश्वास रखा करें कि आइसिस सरीखी देवी अपने भक्तों पर इस जीवन में विशेष कृपा दिखलाती है। फिर उन गूढ कर्मों में कोई ऐसी बात नहीं थी जो मनुष्य के सदाचार पर जोर देती हो और उसे सदाचारी बनाने में सहायता दे सकती हो। न तो उनमें इसी प्रकार का कोई विधान था कि मनुष्यों को कम से कम अमुक प्रकार का नैतिक आचरण करना चाहिए और न नैतिक नियमों का उल्लंघन करनेवालों के लिए किसी प्रकार के दंड आदि की ही व्यवस्था थी।

इसके विपरीत ईसाई धर्म में सबसे पहला और मूल सिद्धान्त यह था कि उस एक मात्र ईश्वर पर विश्वास रखा जाय जो स्वर्ग तथा इस पृथ्वी का स्रष्टा तथा शासक है. जो सर्वव्यापक, सर्वज्ञ तथा सर्व शक्तिमान् है, जो अपनी इच्छा मात्र से प्रकृति अथवा इतिहास की सब बातों का शासन तथा नियन्त्रण करता है और जो जीव मात्र का पालन-पोषण करता है। उसने मनुष्योंको स्वयं अपनी प्रतिकृति के रूप में बनाया है, उसे बुद्धि या विवेक तथा स्वतन्त्रता प्रदान की है; और जो यह चाहता है कि मनुष्य स्वयं मेरे ही अनुरूप आचरण करे। उसने मानव जाति के विवेक में ही नैतिक नियमों की स्थापना कर दी है और उसने अपनी इच्छा और भी अधिक स्पष्ट रूप से ईसाइयों की प्राचीन धर्म-पुस्तक (Old Testament) में प्रकट कर दी है। इस नियम की उपेक्षा या उल्लंघन करना पाप है और इस दृष्टि से सभी लोगों ने पाप किया है और वे ईश्वर की जाँच में पूरे नहीं उतर सकते। पापियों के साथ भी ईश्वर इस जीवन में न्याय और दया का व्यवहार करता है; और अपने स्वरूप के ये दोनों ही अंग प्रद-

र्शित करके वह लोगों को पश्चात्ताप की ओर प्रवृत्त करने का प्रयत्न करता है, अर्थात् वह यह चाहता है कि लोग अपने विचार तथा उद्देश्य बदलें और अपने आचरण में सुधार करें। ईश्वर चाहता है कि लोग स्वयं उससे भी और और दूसरे मनुष्यों से भी प्रेम करना सीखें, बल्कि उसकी यहाँ तक इच्छा है कि लोग उन समस्त जीवों से प्रेम करें जो स्वयं उस ईश्वर से ही उत्पन्न होते हैं। ईश्वर पूर्ण रूप से सद् है और मनुष्यों के साथ उसके जितने प्रकार के सम्बन्ध हैं, उन सबके द्वारा वह यही चाहता है कि सब लोगों का लौकिक कल्याण भी हो और शाश्वत या पारलौकिक कल्याण भी हो; और नैतिक विश्व में यह बात तभी हो सकती है, जब सब लोग पूरी ईमानदारी के साथ और सज्जनतापूर्ण जीवन व्यतीत करें।

मनुष्य अविनश्वर है और उसका आचरण तथा उसके फल मृत्यु के उपरान्त भी बने रहते हैं और परलोक में वे ऐसा अन्तिम रूप धारण कर लेते हैं जिसमें फिर कभी परिवर्त्तन नहीं हो सकता। ईश्वर अपने न्याय के द्वारा सज्जनों और दुष्टों को अलग अलग कर देता है; और फिर जो लोग सज्जन तथा सदाचारी होते हैं, वे अनन्त सुख भोगते हैं और जो दुर्जन तथा दुराचारी होते हैं, उन्हें सब प्रकार के कष्ट भोगने पडते हैं।

ईसाई धर्म ने ये सब बातें यहूदी धर्म से ज्यों की त्यों ले ली थीं और इसी नींव पर ईसाई धर्म की बाकी सब बातें निर्भर करती हैं। जिस समय यहूदियों का धार्मिक समुदाय छिन्न भिन्न होने लगा था उस समय उसने ईश्वरविद्या की इन मुख्य मुख्य बातों का बहुत अच्छी तरह प्रचार कर दिया था और सब लोगोंको ये बातें बहुत अच्छी तरह विदित करा दी थीं। उन दिनों लोगों में दर्शन का जो प्रबल प्रवाह चल रहा था, उसी में यहूदी धर्म का सदाचारात्मक एकेश्वरवाद भी मिल गया था; और वह बहुत से लोगों को पसन्द भी आया था और उनमें से कुछ लोग इस धर्म

में दीक्षित भी हो गये थे। परन्तु बहुत अधिक संख्या ऐसे ही लोगों की थी जिन्होंने यह धर्म तो ग्रहण नहीं किया था, परन्तु फिर भी जिन्होंने उसके सभी मुख्य मुख्य विचार ग्रहण कर लिये थे और वे सब लोग उन्हीं यहूदियों में मिल-जुल गये थे जिनका यह धर्म था।

ईसाई धर्म में मुख्य विशेषता यही है कि उसमें ईसा मसीह पर विश्वास रखा जाता है। जो लोग ईसा के जीवन काल में ही उनके शिष्य हो गये थे, उनके लिए इस विश्वास का एक और भी अर्थ निकलता था। यहूदियों की धर्म-पुस्तक में यह भविष्यद्वाणी की गई थी कि एक ऐसा मसीहा उत्पन्न होगा जो समस्त मानव जाति का परित्राण करेगा और उस मसीहा के आगमन की यहूदी लोग बहुत दिनों से प्रतीक्षा कर रहे थे। अब ईसा के शिष्य यह मानने लगे थे कि हमारे वह मसीहा ये ईसा ही हैं; और इसी लिए वे आगे चलकर ईसा मसीह कहलाये। ईसा की मृत्यु से उनके मसीहा होने के सिद्धान्त का किसी प्रकार खंडन नहीं होता था, बल्कि उनकी मृत्यु ही उनके मसीहा होने का एक प्रमाण थी। ईश्वर ने ईसा को मृतकों में से उठा लिया था और वह उन्हें अपने साथ स्वर्ग ले गया था; और अब यह माना जाने लगा था कि जिस समय अन्तिम बड़ी न्याय-सभा होगी उस समय यही ईसा स्वर्ग से चलकर आवेंगे और उस न्याय सभा में न्यायकर्त्ता के रूप में बैठ कर सब लोगों का विचार करेंगे। उस समय वे लोग अपराधी ठहराये जाएँगे जिनका ईसा पर विश्वास नहीं होगा; और साथ ही जो लोग दुष्ट तथा दुर्जन होंगे, वे भी अपराधी ठहराये जाएँगे। यह विश्वास जिस रूप में यहूदी धर्म की सीमा के बाहर फैला था, वास्तव में उसी रूप का नाम ईसाई धर्म है। उन दिनों ईसाइयों के विश्वास का एक मुख्य तत्व या अंग यह था कि वे समझते थे कि जिस मसीह के उत्पन्न होने के सम्बन्ध में पैगम्बरों ने भविष्यद्वाणी की थी, वह मसीह तो ईसा हैं ही; पर साथ ही वे एक

अलौकिक पुरुष और स्वयं ईश्वर के पुत्र हैं जो कष्ट सहने और मरने के लिए स्वर्ग से चलकर इस लोक में आये थे और जिन्होंने मरकर तथा फिर से जीवित होकर मृत्यु पर विजय प्राप्त की थी। साथ ही यह भी माना जाता था कि ईसा मसीह ने मृत्यु पर जो विजय प्राप्त की है, वह केवल अपने लिए ही नहीं की है, बल्कि उन सब लोगों के लिए की है जो उन पर विश्वास रखने के कारण उनसे सम्बद्ध हो गये हैं, जो उनके सम्प्रदाय में दीक्षित हो गये हैं और जो उनके धार्मिक अनुष्ठानों में सम्मिलित होते हैं। इस प्रकार के विचारों का गूढ कर्मोंवाले विचारों के साथ जो मेल मिलता है, वह स्पष्ट ही है। उन गूढ़ कर्मोंवाले मतों की तरह ईसाई धर्म भी सब लोगों के लिए मोक्ष का एक मार्ग ही था जिसमें जाति, अवस्था या परिस्थिति और धर्म आदि का कोई विचार अथवा भेद नहीं किया जाता था। यह कहा जाता था कि चाहे कोई यहूदी हो और चाहे यूनानी, चाहे बर्बर हो और चाहे शक, चाहे दास हो और चाहे स्वतन्त्र, सभी इस मार्ग पर चलकर मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं।

परन्तु ईसाई धर्म में गूढ कर्मोंवाले मतों से जो अन्तर या भेद थे, वे भी कुछ कम स्पष्ट तथा कम महत्व के नहीं थे। गूढ कर्मों में जो त्राता देवता माने जाते थे, उनकी मृत्यु बिलकुल निरर्थक होती थी—उस मृत्यु का कोई अर्थ नहीं होता था; क्योंकि उनकी मृत्यु जंगलियों की पौराणिक कथाओं की एक साधारण सी घटना मात्र होती थी। उसमें सबसे जरूरी बात यह थी कि मरने के उपरान्त फिर से नया जीवन प्राप्त किया जाय और वह जीवन आगे से अविनश्वर होता था। और यह अविनश्वर जीवन प्राप्त करना इसलिए आवश्यक समझा जाता था और लोग नश्वरता से इसलिए बचना चाहते थे कि वे समझते थे कि मनुष्य की प्रकृति ही देव-पद प्राप्त करने में बाधक होती है; और जब मनुष्य दैवी प्रकृति प्राप्त कर लेता है, तब वह नश्वरतावाली बाधा

को पार कर जाता है और इसी बाधा को पार करना देव-पद प्राप्त करना है। उसके विपरीत पाल* जो पहले यहूदी होने के कारण यह समझता था कि मृत्यु के उपरान्त ईश्वर के नैतिक राज्य में लोग अपने पापों के कारण ही प्रवेश नहीं कर सकेंगे, अब यह मानने लग गया था कि ईसा मसीह ने स्वयं मरकर समस्त मानव जाति के पापों का प्रायश्चित्त कर डाला है। फिर गूढ कर्मोंवाले मतों से ईसाई धर्म में इससे भी बढकर एक और मुख्य अन्तर यह है कि ईसाई धर्म में स्वयं ईश्वर ही मोक्ष देनेवाला माना जाता था। लोगों का यह विश्वास था कि मनुष्यों के प्रति ईश्वर के मन में जो असीम प्रेम है, उसी से प्रेरित होकर उसने अपने पुत्र ईसा को मनुष्य के रूप में इस लोक में भेजा था; और यहाँ आने पर ईसा को मनुष्यों के पापों के लिए ही मरना पडा था और ईसाने फिर से जीवित होकर सब लोगों के लिए शाश्वत परमानन्द का मार्ग खोल दिया था। ईसा के द्वारा मोक्ष

---

* पाल (Paul) एक बहुत बडा और प्रसिद्ध ईसाई सन्त और धर्म प्रचारक था और इसका जन्म भी प्राय:उसी समय हुआ था, जब कि ईसा का जन्म हुआ था। यह यहूदी था और इसका पुराना नाम साल था। पहले--पहल जिन लोगों ने ईसाई धर्म का बहुत अधिक विरोध किया था, उन्हीं में यह भी था। पर एक बार जब यह दामिश्क में ईसाइयों का दमन करने के लिए जा रहा था, तब रास्ते में इसे एक ऐसा अद्‌भुत और अलौकिक दृश्य दिखाई पडा था जिससे प्रभावित होकर यह ईसाका शिष्य हो गया था; और तब से अन्त तक यह बराबर ईसाई धर्म का प्रचार करता रहा। अन्त में यह जेरूसलम में ईसाई धर्म का प्रचार करने के अपराध में ही पकड़ा गया था और तब यह रोम भेजा गया था जहाँ इस पर अभियोग चलाया गया था उस अभियोग में इसे प्राण--दंड की आज्ञा मिली थी और अन्त में नीरो नामक सुप्रसिद्ध अत्याचारी राजा के शासन काल में इस का सिर काट डाला गया था। —अनुवादक।

प्राप्त करने का वह सिद्धान्त, जिसके सादृश्य तो मुख्यतः गैर-यहूदी थे, इस प्रकार एक ऐसी ईश्वरविद्या के साथ मिला दिया गया था जो पूर्ण रूप से तत्वतः यहूदी थी; और जैसा कि हम ऊपर पाल के पाप-मोच-वाले सिद्धान्त के सम्बन्ध में बतला चुके हैं, इसका परिणाम यह हुआ कि ईसाई धर्म का मोक्ष अधिकांश में सदाचार पर अश्रित हो गया; पर गूढ कर्मों वाले मतों के मोक्ष में सदाचार का कोई विचार ही नहीं किया जाता था। परन्तु जैसा कि पाल ने बतलाया है, यहूदी धर्म के दैवी नियम के अनुसार मोक्ष प्राप्त करने के लिए सदाचार या सत्याचरण नितान्त आवश्यक और अनिवार्य था और इसी लिए यह सत्याचरणवाली शर्त्त ऐसी थी जिसका पूरा होना कभी सम्भव ही नहीं। परन्तु इसके विपरीत ईसाई धर्म में यह माना जाता था कि ईसा मसीह या पवित्र आत्मा की कृपा से मनुष्य का आचरण ऐसा हो सकता है जो स्वयं ईश्वर के आचरण के अनुरूप हो। और इसी लिए मनुष्य का इस प्रकार का चरित्र इस बात की कसौटी था कि ईसा पर उसका पूरा पूरा और सच्चा विश्वास है या नहीं; और वास्तव में ईसा के साथ उसकी एक-रूपता हुई है या नहीं। अर्थात् जिसमें पूरा पूरा सदाचार और सत्याचरण होता था, उसी के सम्बन्ध में यह माना जाता था कि उसका ईसा पर पूरा पूरा और सच्चा विश्वास है और उसे ईसा के साथ एक-रूपता प्राप्त हो गई।

ईसाई ईश्वरविद्या की एक शाखा वह भी थी जिसमें ईसा के व्यक्तित्व प्रकृति और स्वरूप आदि का विचार होता था; और आरम्भिक काल में इस शाखा में यह माना जाता था कि ईसा एक दैवी तथा लोकोत्तर पुरुष थे, अथवा वे ईश्वर के पुत्र थे। परन्तु यह एक ऐसी बात थी जिसके सम्बन्ध में बहुत कुछ गलत फहमियाँ हो सकती थीं और जिसके सम्बन्ध में बहुत सी पौराणिक कथाओं आदि की कल्पना की जा सकती थी। परन्तु यदि हम इन सब बातों का ध्यान छोड दें तो भी ईसा को ईश्वर का पुत्र

मानने में एक और दृष्टि से बहुत बडी बाधा खडी हो सकती थी। ईसाई धर्म का मूल आधार एकेश्वरवाद था और इस धर्म में उस एकेश्वरवाद पर बहुत ज्यादा जोर दिया जाता था। और जब लोग यह मानते थे कि ईसा उस इश्वर का पुत्र, प्रभु और त्राता है, तब यह सिद्धान्त उस एकेश्वरवाद के विरुद्ध पडता था और दोनों विचार परस्पर विरोधी ठहरते थे। फिर उसी समय के लगभग लोग यह भी मानने लग गये थे कि सृष्टि-रचना के सम्बन्ध के जितने कार्य हैं, वे सब ईसा के ही किये हुए हैं और इस पृथ्वी की सृष्टि भी उन्हींने की है, और इस सिद्धान्त के कारण वह कठिनाई, जिसका हम अभी ऊपर उल्लेख कर चुके हैं, और भी ज्यादा बढ गई थी। पाल के लिखे हुए कुछ पत्रों में, जहाँ तक हो सका है, इस विरोध को बचाने का प्रयत्न किया गया है; और उसी प्रयत्न से इस बात का पता चल जाता है कि इन दोनों सिद्धान्तों के इस आपत्ति-जनक तथा परस्पर विरोधी अंश की ओर लोगों का ध्यान कितनी जल्दी गया था। एक दूसरे प्रकार से कुछ इसी से मिलती जुलती समस्या यूनान में प्रचलित यहूदी धर्म के सामने भी उठ खडी हुई थी; पर वहाँ उसके निराकरण के लिए फिलो* (Philo) को यह सिद्धान्त स्थिर करना पडा

---

* यह एक बहुत विद्वान् यहूदी लेखक था जिसका जन्म असकन्द-रिया (Alexandria) के एक सम्भ्रान्त कुल में हुआ था। इसने यूनानी भाषा में कई अच्छे अच्छे ग्रन्थ लिखे थे और कई बार यहूदियों की शिकायतें यूनानियों के दरबार में पहुँचाई थीं। उन दिनों जितने विज्ञान और शास्त्र प्रचलित थे, उन सबका वह बहुत अच्छा पंडित था। इसकी विचार-शक्ति और कल्पना-शक्ति बहुत प्रबल तथा उत्कृष्ट थी और लेख शैली भी बहुत ओजपूर्ण थी; और इसी लिए लोग इसे यहूदी प्लेटो कहते थे। यहूदियों और ईसाइयों के विचारों पर इसके लेखों का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा था। इसका समय ईसवी पहली शताब्दी है। —अनुवादक।

था कि एक दैवी कार्य–शक्ति या विश्वात्मा है जो सबमें व्याप्त है और जिसे वे लोग लेगोस (Logos) कहते थे। ईसाई धर्म में इस सिद्धान्त को जो दार्शनिक रूप दिया गया था, उसका आरम्भ भी बहुत कुछ इसी प्रकार हुआ था। फिलो के दर्शन की भाँति ईसाई धर्म का दर्शन भी एक ऐसा मिश्रित प्लेटोवाद था जिसका बहुत कुछ झुकाव पिथाक्षगोरस के सिद्धान्तों की ओर था और जिसमें केवल आचार सम्बन्धी ही नहीं, बल्कि ईश्वर विद्या सम्बन्धी बहुत सी बातें भी स्टोइकवाद (Stoicism) से ली गई थीं।

जिस समय ओरिगेन * (Origen) ने ईसाई ब्रह्म विद्या की एक प्रणाली के निर्माण का कार्य आरम्भ किया था, बल्कि यों कहना चाहिए कि ईसाई धर्म के कल्पनामूलक दर्शन शास्त्र के निर्माण का कार्य आरम्भ किया था, तब, जैसा कि हम ऊपर प्लोटिनस के सम्बन्ध की कुछ बातों का वर्णन करते समय बतला चुके हैं, उसका दर्शन प्लेटोवाद का पूर्ण विकसित रूप बन गया था। ओरिगेन ने जो निर्माण किया था, वह था तो बहुत भव्य, परन्तु उसकी बहुत सी बातों का ईसाई धार्मिक सम्प्रदाय ने उसी प्रकार अस्वीकार कर दिया था जिस प्रकार उसके विद्वान् पूर्ववर्त्ती वैलेन्टिनस (Vulentinus) की समस्त प्रणाली का अस्वीकार कर दिया था; और इसका कारण यही था कि ईसाई धार्मिक सम्प्रदाय के मत से ओरिगेन की बहुत सी बातें बाइबिल और परम्परागत बातों से बहुत कुछ भिन्न और विरुद्ध पडती थीं। और तब उसके दर्शन में का प्लेटोवाद केवल

* ईसवी तीसरी शताब्दी का एक दार्शनिक जो प्लेटो का अनुयायी था। —अनुवादक।

उसी रूप में बच रहा था, जिसे हम ईसाई धार्मिक सम्प्रदाय का सनातनी और पुराना दर्शन कह सकते हैं, और पश्चिमी युरोप में आगस्टाइन (Augustine) के बहुत अधिक प्रभाव के कारण उसका यह रूप या स्थिति पूर्ण रूप से दृढ हो गई थी।

इस लिए कह सकते हैं कि ऐतिहासिक ईसाई धर्म तीन लडोंवाली एक डोरी के समान था और उसकी ये तीनों लडें इस प्रकार थीं (१) यहूदियों का आचारात्मक एकेश्वरवाद (२) हेलेनी (Hellenistic) लोगों का वह सिद्धान्त जिसमें किसी व्यक्ति की सहायता से मोक्ष की प्राप्ति मानी जाती थी और जिससे यहूदी तत्व के कारण बहुत कुछ सुधार हो गया था; और (३) यूनानी दर्शन जिसने केवल ईसाई ईश्वरविद्या का व्यावहारिक स्वरूप ही नहीं स्थिर किया था, बल्कि उसके भौतिक तत्व के निर्माण में भी बहुत अधिक सहायता पहुँचाई थी। प्लेटो का आचारात्मक आस्तिक्यवाद यहूदियों के धार्मिक सिद्धान्त का दार्शनिक प्रतिरूप जान पडता है। और प्लेटो का जो यह सिद्धान्त था कि मनुष्य को मोक्ष तभी प्राप्त हो सकता है, जब वह ईश्वर के अनुरूप आचरण करे और मनुष्य के जीवन का अन्तिम उद्देश्य यह है कि वह शुद्ध आत्मा के रूप में ईश्वर के साथ मिलकर उसमें स्थायी रूप से निवास करे, उसके सम्बन्ध में हम कह सकते हैं कि वह गूढ कर्मोवाले मतों या सिद्धान्तों का बहुत ही गम्भीर तथा श्रेष्ठ रूप था। ईसाई रहस्यवाद पूर्ण रूप से नव प्लेटोवादी Neoplatonism था और आरम्भ में ईसाई धर्म में नैतिक तत्वों का जो सार भाग था, वह स्टोइक लोगों के आचर शास्त्र पर आश्रित था और सिसरो (Cicero) के एक ग्रन्थ के द्वारा लिया गया था, जिसका नाम (De officies) था।

उन दिनों मोक्ष का मार्ग दिखलाने में ईसाई धर्म के जितने प्रतिद्वन्द्वी धर्म तथा मत आदि थे, उन सब पर ईसाई धर्म की जो बौद्धिक या ज्ञानात्मक विजय हुई थी, उसका कारण केवल यही था कि ईसाई धर्म लोगों को मोक्ष का केवल मार्ग ही नहीं बतलाता था, बल्कि साथ ही उनके सामने मोक्ष सम्बन्धी एक दर्शन भी उपस्थित करता था।

श्रीसयाजी साहित्यमाला में प्रकाशित

धर्म, नीतितत्त्व व तत्त्वज्ञान

विषयों के ग्रंथ

१. (६) **हिंदुस्थानना देवो** :–कै. रा. बा. कमळाशंकर प्राणशंकर त्रिवेदी, बी. ए. E. E. O. Martin कृत "Gods of India" नो अनुवाद. (१९१७) किंमत ४–०–०

२. (७) **नीतिशास्त्र** :–प्रो. अतिसुखशंकर कमळाशंकर त्रिवेदी, एम्. ए., एल्एल्. बी. Reshdall's 'Ethics" नामक ग्रंथनुं गुजराती भाषांतर. (१९१८) किंमत ०–१४–०

३. (२३) **दीघनिकाय भाग १ ला** :–कै. प्रो. चिंतामण वैजनाथ राजवाडे, एम्. ए, बी. एस्सी. पालीभाषेतील भाषांतर, **मराठी** (१९१८) किंमत १–८–०

४. (२७) **नीतिविवेचन** : मेसर्स ए. जी. विजरी, अतिसुखशंकर क. त्रिवेदी, अने मणिलाल मो. झाला. (१९१८–१९२६) किंमत १–२–०

५. (३२) **तुलनात्मक धर्मविचार** :—मूळशंकर माणेकलाल याज्ञिक, बी ए., Jevons कृत "Comparative Religion" नो गुजराती अनुवाद.(१९१९)०–१३–०

६. (३६) **धर्मनां मूळतत्त्वो** : रामप्रसाद काशीप्रसाद देसाई,

बी ए., Stanley Cooks कृत "Foundations of Religion" नो गुजराती अनुवाद (१९१९)

किंमत ०–१०–०

७. (३७) **नैतिक जीवन तथा नैतिक उत्कर्ष** :–कांतिलाल केशवराय नाणावटी, एम्. ए., सार्लीकृत "The Moral Life and Moral Worth" नो गुजराती अनुवाद. (१८१९) किंमत ०–१५–०

८. (४०) **विविध धर्मोनुं रेखादर्शन** :–रामप्रसाद काशीप्रसाद देसाई, बी. ए., मेक्युलोक कृत "Religion" नो गुजराती अनुवाद. (१९२०) किंमत ०–१२–०

९. (४४) **उत्तर युरोपनी पुराणकथा** :–गोरधनदास नौतमराम काजी, बी. ए., होफमेन कृत "Nothern Mythology" नो गुजराती अनुवाद.(१९२०) किं. ०–१४–०

१०. (७१) **उदासीपंथनां नीतिवचनो**:–प्रो. अल्बन जी. विजरी, एम्. ए. (१९२३) किंमत १–१०–०

११. (७६) **नीतिविवेचन** :–कांतिलाल केशवराय नाणावटी, एम्. ए., नीतिविवेचननुं **हिन्दी** भाषांतर (१९२३)किं.१–७–०

१२. (८०) **तुलनात्मक धर्मविचार** :–राजरत्न राजमित्र स्व० पंडित आत्मारामजी राधाकृष्णजी (**हिन्दी**) (१९२३)

मूल्य १–०–०

१३. (८१) **सत्यमीमांसा**:–कै. हरिलाल व्रजभूखणदास श्रॉफ, बी.ए., विद्याभूषण Wildon Carr कृत "The Problem of Truth" (सत्यना अर्थविषयक वाद) नो गुजराती अनुवाद. (१९२३) किंमत १–१–०

१४ (८६) **अवतार रहस्य** :–शांतिप्रिय आत्मारामजी पंडित (हिन्दी) (१९२३) मूल्य ०–१४–०

१५. (९७) **मनोधर्मविद्यानां मूळतत्त्वो** :–हिंमतलाल कल्याणराय बक्षी, बी. ए., W. Mcdougall कृत "Psychology" नो गुजराती अनुवाद (१९२५) किं. ०–११–०

१६. (११२) **तत्त्वज्ञानांतील कूट प्रश्न** :–दार्जा नागेश आपटे, बी. ए., एल्एल्. बी., Bertrand Russell कृत "Problems of Philosophy" चा **मराठी** अनुवाद. (१९२६) किंमत १–०–०

१७. (११८) **सिद्धान्तदर्शन** :–वे. शा सं. छोटालाल नरभेराम भट्ट कलादीप. (१९२७) किंमत १–११–०

१८. (१२२) **परिवर्तनवाद** :–दयाशंकर जेशंकर धोळकिया, बी. ए., Henry Bergson कृत "Philoshopy of Change" नो गुजराती अनुवाद(१९२८) ०–१०–०

१९. (१३२) **श्रीमद्भगवद्गीता** :–(श्रीशंकरानंदी टीका सहित) **भाग पहेलो,** मोतिलाल रविशंकर घोडा, बी. ए., एल्एल्. बी. (१९२८) किंमत २–४–०

२०. (१३५) **रुद्री अष्टाध्यायी** :–पुरुषोत्तम जोगीभाई भट्ट, बी ए, एलएल. बी. (१९२८) किंमत १–८–०

२१. (१५९) **श्रीमद्भगवद्गीता भाग २** :–मोतीलाल रविशंकर घोडा, बी. ए., एलएल. बी. (१९२८) किंमत १–१०–०

२२. (१६९) **वैयासिक न्यायमाला** :–वे. शा. सं छोटालाल नरभेराम भट्ट, कलादीप (१९२८) किंमत १–८–०

२३. (१७७) **श्रीमद्भगवद्गीता भाग ३** :-मोतीलाल रविशंकर घोडा, बी. ए., एल्एल्. बी. किंमत २-२-०

२४. (१७९) **स्वयंप्रेरणा** :-(स्व.) रविशंकर अंबाशंकर छाया, बी. ए., एलएल. बी. "Auto-suggestion" नो अनुवाद (१९३०) किंमत १-१-०

२५. (१८२) **ऋग्वेद संहिता :-अष्टक पहेलुं-पूर्वार्ध** :-मोतीलाल रविशंकर घोडा, बी. ए., एल्एल् बी., (१९३०) किंमत २-०-०

२६. (१८६) **जातकांतील निवडक गोष्टी - प्रथमार्ध** :- प्रो. चिंतामण विनायक जोशी, एम्. ए. (१९३०) **मराठी** किंमत १-१२-०

२७. (१९२) **पाश्चात्य तत्त्वज्ञान** :-प्रो. दत्तात्रय गो. केतकर, एम्. ए., [**मराठी**] (१९३१) किंमत १-१२-०

२८. (१९५) **ऋग्वेदसंहिता अष्टक पहेलुं : उत्तरार्ध** :-मोतिलाल रविशंकर घोडा, बी. ए., एल्एल्. बी. (१९३१) २-९-०

२९. (१९६) **दीघनिकाय भाग २ रा** : कै. प्रो. चिंतामण वैजनाथ राजवाडे (**मराठी**) (१९३२) किंमत २-८-०

३०. (२००) **धर्मोनी बाल्यावस्था** :-चुनीलाल म. देसाई, बी. ए., "Childhood of Religions" नो अनुवाद (१९३२) किंमत १-२-०

३१. (२०२) **बौद्धधर्म अर्थात् धर्मचिकित्सा** :-रामचंद्र नारायण पाटकर, बी. ए., Mrs. Rhys Davis कृत Buddhism चा अनुवाद (**मराठी**) (१९३२) किं. १-८-०

३२. (२०५) **वीरशैव संस्कृति** :-रा. शंकर गोविंद साखरपेकर, स्वामी रामलिंग करमाळेकरना मराठी पुस्तकनो अनुवाद. (१९३२) किंमत ०-१३-०

३३. (२११) **सुलभनीतिशास्त्र** :-दाजी नागेश आपटे, बी. ए., एल्एल्. बी. (**मराठी**) (१९३३) किंमत ०-११-०

३४. (२१३) **नीतिशास्त्रप्रबोध** :-दाजी नागेश आपटे, बी. ए., एल्एल्. बी. (**मराठी**) (१९३३) किंमत २-०-०

३५. (२१९) **कबीर साहेबनुं बीजक** :-प्रभाशंकर प्राणलाल बक्षी, बी. एस्सी. (१९३३) किंमत १-१२-०

३६. (२२५) **कुङ्गमुनि ज्ञानामृत** :-डॉ. हरिप्रसादशास्त्री, डी. लिट्. चीनदेशके कन्फ्यूशिअस के असल चीनी ग्रंथ के उपदेश का हिन्दी अनुवाद यह कुङ्गमुनि के चार ग्रंथोंमें प्रधान माना जाता है। इसकी सहस्रों टीकाएं और भाष्य विद्यमान हैं। जिस एक पुस्तक ने चीनी जाति को सभ्यता सिखाई और अबतक जीवित रखा वही यह पुस्तक है। पृ. सं. २११ (१९३३) किंमत १-०-०

३७. (२३३) **भगवान् बुद्धचरित्र व धर्मसारसंग्रह** :-कवि. रा. मा. भांबुरकर (**मराठी**) (१९३४) किंमत २-०-०

३८. (२३४) **श्री ऋग्वेद संहिता :-अष्टक २, पूर्वार्ध** – मोतीलाल रविशंकर घोडा (१९३५) किंमत २-०-०

३९. (२४०) **जगांतील विद्यमान धर्म** :-प्रो. रा. ब. आठवले, एम्. ए. (मराठी) (१९३५) किंमत २-०-०

४०. (२४२) **जगतना विद्यमान धर्मो** :-प्रो. गो. ह. भट्ट, एम्. ए. (१९३६) किंमत २-३-०

४१. (२४३) **श्रीऋग्वेद संहिता अष्टक, २ उत्तरार्ध** :–मोतीलाल रविशंकर घोडा (१९३६) किंमत २–४–०

४२. (२४४) **जगांतील कांहीं धर्मप्रवर्तक** :–डॉ. भा. चिं. लेले, एम्. ए , पीएच्. डी. (१९३७) मराठी किं. १--१०--०

४३. (२५०) **पुनर्जन्म विरुद्ध पुनर्जनन** :--श्री. भालेराव, बी. एजी. मराठी (१९३७) किंमत २–८– ०

४४. (२५२) **प्राच्य आणि पाश्चात्य नीतिध्येयें** :--चिं. ग. कर्वे, बी. ए., डॉ. सोन्डर्स कृत "Ideals of East & West" नो अनुवाद मराठी (९३८) किं. १--४--०

४५. (२५५) **धर्म : उद्गम आणि विकास** :--कृष्णाजी पांडुरंग कुलकर्णी, एम्. ए., बी. टी., डॉ. एच्. मूर कृत "Birth & Growth of Religion" नो अनुवाद मराठी (१९३८) १ -०--०

४६. (२६५) **श्रीऋग्वेद संहिता अष्टक ३ : विभाग १** :--मोतिलाल रविशंकर घोडा (१९३९) किंमत १--१२--०

४७. (२७०) **धर्म की उत्पत्ति और विकास** :--(हिन्दी) अनुवादक श्री. रामचंद्र वर्म्मा, डॉ. एच् मूर कृत "Birth & Growth of Religion" का अनुवाद (१९४०) मू. १--६--०

"Religion is a word that can be defined in many ways. It is really a kind of emotion individual to each one of us, and that emotion should be expressed by each one in a manner that is best and most intelligible to him personally."

—*H. H. The Maharaja Gaekwar Sayaji Rao III.*